प्रकाशक
श्री कल्याणविजय
शास्त्र-संग्रह समिति
जालोर



प्रथमावृत्ति १०००

मूल्य पाँच रुपया



मुद्रक—
प्रतापसिंह लूणिया एम
जॉब प्रिंटिंग प्रेस,
ब्रह्मपुरी, अजमेर।

"प्रास्ताविक दो शब्द"

"प्रधन्ध पारिजात" पाँच प्रवन्धों का संग्रह है, इसमें १ निशीथ २ महानिशीथ, ३ पर्युषणाकल्पटीका, ४ मौलिक व्याकरण साहित्य और ५ प्राचीन जैन तीर्थ, ये पाँच प्रवन्ध संगृहीत हैं पंचम "प्राचीन-जैन तीर्थ" प्रवन्ध तीन विभागों में विभक्त है, प्रथम विभाग में सूत्रोक्त १० जैन तीर्थो का ऐतिहासिक निरुपण हैं, दूसरे विभाग में आबू तीर्थ की यात्राओं के संस्मरण और तीसरे विभाग में आबू के जैन तीर्थो से समवन्ध रखने वाले लेखों का संपूर्ण संग्रह दिया है, इस लेख संग्रह में सर्व मिलकर ४०५ लेख हैं जिनमें कतिपय बड़ी प्रशस्तियाँ भी सम्मिलित हैं जो जैन इतिहास के लिये ही नहीं चन्द्रावती के परमारों, चौलुक्यों, सिरोही के देवड़ा आदि राजाओं के इतिहास जानने और मंत्री विमल, मंत्री वस्तुपाल तेजपाल तथा आबू के जैन मदिरों के जीर्णोद्धार कराने वाले सदगृहस्थों की वंशावलियों का ज्ञान कराने में यह लेख संग्रह परम उपयोगी है। एक दो के अतिरिक्त ये सभी लेख हमने स्वयं पढकर लिये हैं।

इस प्रकार इस संग्रह के प्राथमिक ३ प्रवन्ध, साहित्यसमालोचनात्मक हैं, तब अन्तिम दो प्रबन्ध ऐतिहासिक हैं यह बात पाठकगण स्वयं समझ सकते हैं ।

साहित्य और इतिहास की मीमांसा में टीका टिप्पणी अनिवार्य होती है, इस स्थिति में आलोचना में होने वाली टीका टिप्पणी को पढकर पाठकों को, बुरा न मानकर वास्तविकता का स्वीकार करना चाहिये। जिन पाठकों के विचार विमर्श जिज्ञासा मार्ग में चलने के अभ्यासी हैं वे इन प्रवन्धों में वहुत कुछ नवीनता पायेंगे , पर जिनके ज्ञान तन्तु पूर्ववद्ध विचारों से भरे हुए होंगे वे इन प्रवन्धों का सारांश नहीं पायेंगे यह बात लेखक के ध्यान बाहर नहीं है, फिर भी जो पाठक इतिहास और समीक्षा का महत्व समझते हैं उनके लिये तो प्रस्तुत प्रबन्ध संग्रह रसप्रद ही नहीं मार्ग दर्शक भी अवश्य होगा ऐसा लेखक को पूर्ण विश्वास है।

कल्याणविजय

धन्यवाद :

मांडवला नगर निवासी श्रीमान् कुन्दनमलजी, छगनराजजी, भंवरलालजी, लीतमलजी, पारसमलजी, गणपतराजजी, थानमलजी, भंवरलालजी, रमेशकुमारजी, पुत्र पौत्र श्री तलाजी दांते वाडिया योग्य:

आप श्रीमान् समय २ पर अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करते रहते हैं, ज्ञान-प्रचार के लिये भी आप अपने द्रव्य का व्यय करने में पीछे नहीं रहते। दो वर्ष पहिले पू. पंन्यासजी महाराज श्री कल्याण विजयजी गणि, श्री सौभाग्य विजयजी, मुनि श्री मुक्ति विजयजी का मांडवला में चातुर्मास्य हुआ तब पंन्यासजी महाराज को ग्रन्थ तैयार करते देखकर ग्रन्थ का नाम पूछा महाराज ने कहा ३ ग्रन्थ तैयार हो रहे हैं। आपने ग्रन्थों के नाम पूछे। तब महाराज ने कहा १ पट्टावली पराग, २ प्रबन्ध पारिजात और ३ निबन्ध निचय नामक ग्रन्थ तैयार हो रहे हैं। आपने तीनों ग्रन्थों के नाम नोट कर लिये और कहा ये तीनों ग्रन्थ हमारी तरफ से छपने चाहिये। महाराज ने वचनबद्ध न होने के लिए बहुत इन्कार किया पर आप सज्जनों के अत्याग्रह से पंन्यासजी महाराज को वचनबद्ध होना पड़ा। आपकी इस उदारता और ज्ञान भक्ति को सुनकर हमको बहुत आनन्दाश्चर्य हुआ। आपकी इस उदारता के बदले में हम आपको धन्यवाद देने में गौरव का अनुभव करते हैं।

हम हैं आपके प्रशंसक:—
शाह मुनिलाल थानमलजी एवं
समिति के अन्य सदस्य।

विषयानुक्रमाणिका

क्रम सं. पृष्ठ सं.



प्रबन्ध पारिजात

(१) निशीथ सूत्र का निर्माण और निर्माता

जैन सिद्धान्तोक्त छेद सूत्रों में "निशीथ सूत्र" का नम्बर ४ है, छेद सूत्रों में सर्वप्रथम दशाश्रुतस्कन्ध परिगणित किया जाता है, यद्यपि कल्प, व्यवहार आदि की तरह दशाश्रुतस्कन्ध में प्रायश्चित्त का विधान नहीं है, फिर भी दशाओं में ऐसे उपयोगी विषय भरे पड़े हैं, जिनको जानकर केवल आचार्य ही नहीं, सामान्य साधु तक अपने संयम को शुद्ध रखता हुआ बड़े बड़े दोषों से बच सकता है, यही कारण ज्ञात होता है कि "दशाश्रुत स्कन्ध" की गणना छेदों में की गई है, क्योंकि छेद सूत्र का तात्पर्य दोषों से बचाना और प्रमादवश लगे हुए दोषों की विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त विधान करना मात्र है, दशाश्रुतस्कन्ध इन दो में से प्रथम दोषों से बचाने में विशेष उपयुक्त है।

"बृहत्कल्प" और "व्यवहार" इन दो सूत्रों का विषय साधुओं के आचार का प्रतिपादन करना और आचार में होने वाली स्खलनाओं का निरूपण करने के साथ श्रमण मार्ग में प्रमाद अथवा दर्प के वश लगने वाले अपराधों की शुद्धि करने वाले प्रायश्चित्तों का निरूपण करना है, कल्प में प्रायश्चित्त देने की व्याख्या सामान्य रूप से प्रतिपादित की है, तब व्यवहार में उसका विशेष विस्तार के साथ विवरण दिया है और सामूहिक प्रायश्चित्त दान की विधियाँ लिखी हैं।

कल्प और व्यवहार दोनों अध्ययन श्रुतधर आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी ने पूर्व श्रुत से पृथक् करके तत्कालीन साधुओं के लिए प्रायश्चित्त दान का मार्ग सुगम किया है।

निशीथाध्ययन आगम व्यवहारी आचार्य आर्य रक्षितसूरिजी ने पूर्वश्रुत से पृथक् करके वर्तमान कालीन साधुओं के लिए विशेष उपयोगी बनाया है।

केवलज्ञानी, मनपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर और नौपूर्वधर तक जो प्रायश्चित्तविषयक व्यवहार चलता था, वह "आगम व्यवहार" कहलाता था। आर्य रक्षितसूरिजी के स्वर्गवास के वाद आगम व्यवहार का धीरे-धीरे विच्छेद हुआ, केवल श्रुतव्यवहार, आज्ञाव्यवहार, धारणाव्यवहार और जीत व्यवहार ये चार व्यवहार प्रायश्चित्त विषयक रहे, आज्ञा और धारणा व्यवहार कादाचित्क-अव्यापक होने से धीरे-धीरे लुप्त प्राय हुए हैं, शेष श्रुत और जीत व्यवहार प्रधान रहे, जव तक आगम व्यवहार रहा तव तक "उत्कृष्ट गीतार्थ" भी रहे, जव से आर्य-रक्षितसूरि तथा इनके शिष्य आर्य दुर्वलिका पुण्यमित्र परलोकवासी हुए तव से उत्कृष्ट गीतार्थता भी समाप्त हो चली। शेष पूर्व, दशा, कल्प, व्यवहारादि सम्पूर्ण छेद श्रुत जानने वाले "मध्यम गीतार्थ" माने जाते थे, तव निशीथाध्ययन का सूत्र और अर्थ जानने वाला "जघन्य गीतार्थ" माना गया।

आचार्य श्री भद्रवाहु स्वामी ने कल्पाध्ययन और व्यवहाराध्ययन में जो प्रायश्चित्त विधान किया था, वह तत्कालीन निर्ग्रन्थ श्रमण-श्रमणियों के लिए पर्याप्त था, परन्तु आर्य रक्षितसूरिजी के समय तक स्थिति ने वहुत ही पलटा खाया, मौर्य्यकालीन दुर्भिक्षादि विषमकाल की समाप्ति के उपरान्त सम्प्रति-मौर्यकाल में वढी हुई जैन श्रमण-श्रमणियों की संख्या के साथ-साथ अनेक प्रकार की नयी समस्याएँ खड़ी हुईं, उनको सुलझाने के लिए कल्प, व्यवहार अपर्याप्त प्रतीत हुए, परिणाम स्वरूप आचार्य आर्यरक्षितसूरिजी ने नवीन परिस्थिति को कावू में रखने के लिए कल्प, व्यवहार को ध्यान में रखते हुए पूर्वकालीन और वर्तमान समय में उत्पन्न होने वाले नये नये दोषों और दुष्प्रवृत्तियों को रोकने के लिए निशीथा-ध्ययन का निर्माण किया।

एक तो अवसर्पिणी काल और दूसरी श्रमण श्रमणियों की संख्या में अतिवृद्धि, इन दो कारणों से आर्य रक्षित के समय सैंकड़ों

ऐसी प्रवृत्तियां श्रमण समुदाय में दृष्टिगोचर और कर्णगोचर होने लगी थीं, जो नवीन दण्डविधान द्वारा ही रोकी जा सकती थीं, अतएव श्रुतधर श्री आर्य रक्षितसूरिजी ने एक-एक बात को ध्यान में लेकर "निशीथाध्ययन" को २० उद्देशकों में पूर्ण किया, "कल्पाध्ययन" में केवल ६ उद्देशक थे और "व्यवहार" में १० उद्देशक, परन्तु नवनिर्मित "निशीथाध्ययन" में आचार्य ने २० उद्देशक और लगभग १४२६ सूत्रों में प्रायश्चित्त का संग्रह किया और तब से केवल निशीथाध्ययन का पाठी श्रमण भी जघन्य कोटि का गीतार्थ माना जाने लगा।

पंचकल्पभाष्य-चूर्णिकार ने कल्प, व्यवहार आदि के साथ निशीथाध्ययन भी श्रुतधर भद्रबाहु स्वामी द्वारा पूर्वश्रुत से उद्धृत बताया है, परन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है, "बृहत्कल्प" की भाषा और प्रतिपादित विषयों तथा निशीथाध्ययन के सूत्रों की भाषा और उसमें प्रतिपादित विषयों में स्पष्ट रूप से भिन्नता प्रतीत होती है, यद्यपि बृहत्कल्प की भाषा और व्यवहाराध्ययन की भाषा भी एक दूसरी से भिन्न ही प्रतीत होती है इसमें कोई शंका नहीं, परन्तु यह भिन्नता व्यवहार में बाद में किए गए परिवर्तनों का परिणाम है, इतना ही नहीं "व्यवहार सूत्र" में "निशीथाध्ययन" का "प्रकल्पाध्ययन" यह नाम आना भी पिछले परिवर्तनों का ही परिणाम है और ये परिवर्तन सम्भवतः आर्य रक्षितसूरि के बाद के हैं।

आर्य स्कन्दिल के समय में मथुरा में की गई वाचना और पुस्तकालेखन के समय में उक्त परिवर्तन हुए हों तो असम्भवित नहीं है।

निशीथाध्ययन पर दो प्राकृत चूर्णियां हैं, एक सामान्य चूर्णि और दूसरी विशेष चूर्णि, सामान्य चूर्णि हमने देखी नहीं है, किन्तु उसके नामोल्लेख जरूर पढ़े हैं, किसी प्राचीन पुस्तक भंडार में हो तो प्राकृत भाषा के अनुरागियों को उसकी तलाश करनी चाहिए।

निशीथ विशेष चूर्णि हमारे "शास्त्र संग्रह" में हस्तलिखित और मुद्रित दोनों विद्यमान हैं, दोनों को हमने पढ़ा है और दोनों पर से नोट भी लिये हैं।

विशेष चूर्णि के कर्ता आचार्य श्री जिनदासगणि महत्तर हैं, जो विक्रम की आठवीं शती के प्रसिद्ध प्राकृत टीकाकार हैं, आचार्य जिनदास गणि किस कुल और गण के थे इसका खुलासा कहीं नहीं मिलता, सिर्फ मंगलाचरण के अन्त में आपने अपने अनुयोगदायक प्रद्युम्नक्षमाश्रमण को नमस्कार किया है और उनको 'चरणकरण पालक' वताया है।

मुनि सुन्दरसूरि की "गुर्वावली" में श्री यशोदेवसूरि के वाद एक प्रद्युम्नसूरि का उल्लेख मिलता है और उसके वाद उपधान वाच्य ग्रन्थकार मानदेवसूरि का, परन्तु इसके वाद "गुर्वावली" के भीतर ही गुर्वावलीकार लिखते हैं—"केचिदिदं सूरिद्वयमिह न वदन्ति" अर्थात् 'कितने ही आचार्य इस स्थान पर प्रद्युम्नसूरि और मानदेवसूरि को नहीं गिनते' इस परिस्थिति में प्रद्युम्नसूरि का 'गण' और 'कुल' क्या था, यह निश्चित कहना असंभव है।

"पाकश्री" नामक एक प्राकृत भाषा के प्राचीन ज्योतिष ग्रन्थ के टीकाकार वररुचि ने अपने को प्रद्युम्नसूरि का शिष्य लिखा है, "पाक श्री" ग्रन्थ यद्यपि प्राचीन है तथापि विद्वान् टीकाकार वररुचि और उसके गुरु प्रद्युम्नसूरि को विक्रम की अष्टम शती के व्यक्ति मानने में कोई वाधक नहीं है, इन संयोगों में यशोदेवसूरि के शिष्य प्रद्युम्नसूरि और वररुचि के गुरु प्रद्युम्नसूरि को एक मानकर उन्हें निशीथ चूर्णिकार आचार्य जिनदास गणि महत्तर के अनुयोग-दायक आचार्य मानने में कोई वाधक नहीं है।

प्रद्युम्नसूरि को तपागच्छ की परम्परा में मानने की वावत में प्राचीन तपगच्छ के आचार्यों में दो मत थे, इस कारण से और समय के लिहाज से भी प्रद्युम्नसूरि को तपागच्छ की परम्परा में मानना संगत प्रतीत नहीं होता।

निशीथाध्ययन के प्रारम्भ में निर्युक्ति और भाष्य की सम्मिलित ४६६ गाथाओं का समूह है, चूर्णिकार ने इस गाथाकदम्बक को "निशीथ पीठिका" यह नाम दिया है। पीठिका में आठ-आठ प्रकार के ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार और बारह प्रकार के तप आचार का सविस्तर निरूपण करके इन आचारों में होने वाली स्खलनाओं का प्रायश्चित्त लिखा है और कहा है कि इन ३६ प्रकार के आचारों की आराधना में मानसिक, वाचिक, कायिक शक्ति को गोपने से तत् तत्-स्थान में होने वाले प्रायश्चित्त की आपत्ति होती है, इसके अतिरिक्त दो प्रकार से पंचविध वीर्य का निरूपण किया है, आचारों का सदृष्टान्त सप्रायश्चित्त निरूपण करने के बाद 'अग्र, प्रकल्प, चूला, निशीथ और प्रायश्चित्त' द्वारों का निरूपण किया है, अन्त में मूलगुण प्रतिसेवना और उत्तरगुण प्रतिसेवना का सविस्तर निरूपण करके निशीथ पीठिका को समाप्त किया है।

पीठिका की समाप्ति के बाद निशीथाध्ययन का प्रारम्भ किया गया है। सूत्र नाम के ऊपर "आचार्य प्रवर श्री विसाह गणि विनिर्मितं सभाष्यं निशीथसूत्रं" ऐसा लिखा है, यहां पर हमें "विसाह गणि" के सम्बन्ध में दो शब्द कहने हैं।

दिगम्बर ग्रन्थों की कुछ प्रशस्तियों में भद्रबाहु श्रुतकेवली के बाद विशाखाचार्य का नाम मिलता है और उन्हें दशपूर्वधरों में पहला गिना है। दिगम्बरीय पौराणिक कथाओं में इन विशाखाचार्य को गृहस्थावस्था में मौर्य्य राजा चन्द्रगुप्त माना है, परन्तु प्रथम तो चन्द्रगुप्त मौर्य्य के समय में श्रुतकेवली भद्रबाहु के दक्षिण प्रदेश में जाने का कोई प्रमाण नहीं मिलता, श्रवणबेलगोल आदि स्थानों से उपलब्ध जैन शिलालेखों में विक्रम की अष्टमी शती तक के किसी भी लेख में श्रुतधर भद्रबाहु के दुष्काल के कारण दक्षिणा पथ में जाने की बात नहीं है, भद्रबाहु के दक्षिण में जाने की बात बहुत अर्वाचीन है और इसी कारण से विचारक दिगम्बर विद्वान् भी दक्षिण में जाने वाले भद्रबाहु को द्वितीय भद्रबाहु मानते हैं और

उन्हें विक्रम की दूसरी शताब्दी में रखते हैं, परन्तु प्रथम तो दूसरे भद्रबाहु के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं मिलता, श्वेताम्बरों के अर्वाचीन कथा साहित्य में जो भद्रबाहु की कहानी आती है, वह भी श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ संगत नहीं होती, क्योंकि इस प्रकार के कथानकों में भद्रबाहु को प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर का भाई माना है, वराहमिहिर का अस्तित्व विक्रम की सातवीं शती के प्रारम्भ तक विद्यमान था, इस स्थिति में वराहमिहिर और भद्रबाहु को सगे भाई मानना निराधार मात्र है।

दिगम्बर साहित्य में दूसरे ज्योतिषी भद्रबाहु को दूसरी शताब्दी में रखा जाता है, इसका आधार केवल "आदि पुराण" का कथन है, आचारांगधरों में तीसरे आचारांगधर भद्रबाहु थे, ऐसा "आदि पुराण" के कथन से जाना जाता है, परन्तु इन्हीं आचारांगधर तृतीय स्थविर का नाम "त्रिलोक-प्रज्ञप्ति", "जयधवला" की प्रशस्तियों में "यशोबाहु" है, तव "श्रुतावतार कथा" में "जयबाहु" यह नाम मिलता है, इस प्रकार आचारांगधर भद्रबाहु नाम के साथ आदि पुराणकार जिनसेन के सिवा दूसरा कोई सहमत नहीं होता।

दूसरा आदि पुराणकार जिनसेन अपने पुराण का निर्माण समय जो शक संवत् ७०५ होना बताते हैं, वह शक काल वास्तव में कलचुरी संवत्सर है, जो विक्रम संवत् १०६५ में पड़ता है, इस प्रकार विक्रमीय ११वीं शती के उत्तरार्द्ध के एक ग्रन्थकार के उल्लेख मात्र से दूसरे भद्रबाहु का अस्तित्व प्रमाणित नहीं हो सकता, सच वात तो यह है कि भद्रवाहु नामक आचार्य जैनों में एक ही हुए हैं, जो चतुर्दश पूर्वधर थे और मौर्य्य चन्द्रगुप्त के समय में विद्यमान थे, उनके संघ के साथ दक्षिण में चले जाने, मौर्य्य चन्द्रगुप्त के उनका शिष्य होकर विशाखाचार्य होने आदि की कहानियां अर्वाचीन काल की कल्पनाएं हैं।

श्वेताम्वर साहित्य में विशाखाचार्य अथवा विखाखगणि आदि नामों के उल्लेख मात्र भी नहीं हैं, मुद्रित निशीथ चूर्णि के अन्तिम

भाग में २०वां उद्देशक पूरा होने के बाद जो ३ प्राकृत गाथाओं में विशाख गणी की प्रशंसा में प्रशस्ति दी है, वह वास्तव में कल्पित है, इसका निर्मापक भी कोई सामान्य व्यक्ति है, इसी से गाथाओं में छन्दो विषयक और व्याकरण विषयक अनेक भूलें दीख रही हैं, इतना ही नहीं गाथाओं में से जो अर्थ ध्वनित होता है, उससे भी ये गाथाएँ अर्वाचीन और असंगत प्रतीत होती हैं, निर्युक्ति और भाष्य को तो जाने दीजिये, सबसे अर्वाचीन निशीथ विशेष चूर्णि में तथा २०वें उद्देशक की संस्कृत वृत्ति में जो १२वीं शती की कृति है, उक्त गाथाओं का कहीं सूचन मात्र नहीं, इससे निश्चित हो जाता है कि ये गाथाएँ किसी अर्द्धदग्ध पण्डित ने बनाकर प्रतिलेखक को दे दी है और उसने अपने किसी लिखे हुए "निशीथ" के पुस्तक के अन्त में लिख डाली हैं, यही कारण है कि प्राचीन निशीथ प्रतियों के अन्त में कहीं भी उक्त गाथाएँ दृष्टिगोचर नहीं होतीं, इस प्रकार की अप्रामाणिक और अशुद्ध गाथाओं के आधार से निशीथ का कर्ता विशाख गणि को मान लेना सम्पादकों की अदीर्घदर्शिता है।

निशीथाध्ययन अन्तिम श्रुतधर आर्यरक्षित की कृति है, यह बात इस अध्याय के अन्तरंग निरूपण से ही स्पष्ट हो जाती है और इस बात को ग्रन्थ के अन्तर्गत कुछ निर्देशों से भी प्रमाणित किया जा सकता है।

निशीथाध्ययन के प्रथम उद्देशक के १३वें सूत्र में "शिक्यक" की चर्चा की गई है, वह सूत्र निम्नोद्धृत है—

"जे भिक्खू सिक्कगं वा सिक्कणंतगं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेति, कारेंतं वा सातिज्जति ॥ सू० १३ ॥"

'जो भिक्षु शिक्यक को अथवा शिक्यक के योग्य वस्त्र को अन्य तीर्थिक साधु से अथवा गृहस्थ से तय्यार करवाये, अथवा करते हुए का अनुमोदन करे, वह अनुद्घातित मासिक परिहार स्थान को प्राप्त होता है।'

निर्ग्रन्थ श्रमण की उपधि में स्थविर भद्रबाहु के समय में शिक्यक को कोई स्थान नहीं था, परन्तु आर्यरक्षित सूरिजी ने निर्ग्रन्थ श्रमण श्रमणियों की उपधि को जब अन्तिम रूप दिया, तब शिक्यक को भी औपग्रहिक उपधि के रूप में स्वीकार किया, इसी कारण से पिछले आचार्यों ने शिक्यक को आगमिक उपकरण न मान कर "कप्पाणं पावरणं" इत्यादि गाथा के "ओवग्गहिअ कडाहय" इस तृतीय चरण में प्रयुक्त "कटाहक" नाम से "शिक्यक" को आचरणा से माने हुए उपकरणों में परिगणित किया है, श्रमणों को गृहस्थ के वहां तैयार "शिक्यक" के लिए लेने की अनुज्ञा दी गई है, परन्तु वे इस उपकरण को अन्य धर्मी साधु के द्वारा अथवा गृहस्थ के द्वारा तय्यार करवाके न लें, इस उद्देश से आचार्य को उपर्युक्त १३वां सूत्र बनाना पड़ा है।

इस सम्बन्ध में चूर्णिकार कहते हैं—मुख्यवृत्त्या तो "शिक्यक" उपकरण न होने के कारण रखना ही नहीं चाहिए, अपवाद रूप में ही "शिक्यक" रखा जाय, खास करके लम्बी मुसाफिरी में साथ रखना जरूरी होता है, अथवा बीमार साधु के लिए लाया हुआ औषध रखने के लिए "शिक्यक" जरूरी होता है और वह पहले से तय्यार किया गया हो तो गृहस्थ से मांगकर लेना चाहिए, यदि पूर्वकृत न मिले तो उसका सामान गृहस्थ से प्राप्त कर "शिक्यक" स्वयं बनाना चाहिए।

प्रथम उद्देशक के ही १४वें सूत्र में "चिलिमिलि" का विधान बताया गया है, वह सूत्र निम्नोद्धृत है—

"जे भिक्खू सोत्तियं वा रज्जुयं वा चिलिमिलिं अण्ण-उत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेति कारेंतं वा सातिज्जति ॥ सू० ॥ १४ ॥"

अर्थात्—'जो भिक्षु सौत्रिक अथवा रज्जुमयी चिलिमिलि को अन्य तीर्थिक द्वारा अथवा गृहस्थ द्वारा तय्यार करवाये, अथवा

करते हुए को अनुमोदन दें, उसको अनुद्घातित मासिक परिहार स्थान प्राप्त होता है।'

मूल सूत्र में "चिलिमिलि" दो प्रकार की बतायी है, परन्तु उस समय यह पांच प्रकार की होती थी, सूत्रमयी, रज्जुमयी, बल्कलमयी, दण्डमयी और कटमयी, ये पांचों प्रकार की "चिलिमिलियां" गच्छ के लिए उपकारक होती थीं।

"चिलिमिलि" का दैर्घ्य और विस्तार क्रमशः पांच हाथ और तीन हाथ का होता था, यह प्रमाण "ऊर्णामयी चिलिमिलि" का होता था, अथवा उसके अभाव में अलसीका उपयोग करते तो परिमाण यही होता, इस परिमाण की "चिलिमिलि" एक-एक व्यक्ति के लिए उपयोगी हो सकती थी, गच्छ के लिए गच्छ को ढांक सके इतनी बड़ी "चिलिमिलि" रखनी पड़ती थी, यह "चिलिमिलि" किस लिए रखी जाती थी इसका खुलासा देते हुए भाष्यकार कहते हैं:—

"खुले मकान में गृहस्थों का आगमन होने पर 'चिलिमिलि' बीच में बांधी जाती थी, स्वाध्याय के समय पास में आने वाले प्राणियों को रोकने के लिए, बीमार को गड़बड़ से बचाने के लिए, श्वापदादि से गच्छ को बचाने के लिए, लम्बी विहार यात्रा में अचिन्तित कार्य उपस्थित होने पर, किसी के मरने पर ओट का काम देती थी, वर्षा के समय में मौसमी हवा पानी से बचने के लिए आवरण का काम देती थी, इस प्रकार गच्छ में यह 'चिलिमिलि' सदा काम में आती थीं।"

उक्त पांच प्रकार की "चिलिमिलियों" में से जिस "चिलिमिलि" की विशेष आवश्यकता हो वह यदि मिल जाय तो ले लेना चाहिए, यद्यपि "कल्पसूत्र" के प्रथम उद्देशक के सूत्र १४ वें और १६ वें में भी "चिलिमिलि" रखने की निग्रन्थ निर्ग्रन्थिनियों को छूट दी है, परन्तु वहां विशेष विवरण नहीं है, तैयार मिलती तो ले लेते थे,

निशीथ के निर्माण समय में वनाने वनवाने की परिस्थिति उपस्थित होने पर निशीथ में विशेष विधान रखना पड़ा।

अगले १५, १६, १७ और १८ इन चार सूत्रों में क्रमशः सीने के लिए सूई, वाल काटने के उस्तरे, नख काटने की नखहरणी और कर्णशोधनक इन चार उपकरणों की अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ द्वारा तैयार न करवाने, करते हुए का अनुमोदन न करने का विधान किया है।

चूर्णिकार लिखते हैं:—'सूई, पिप्पलक (उस्तरा), नखच्छेदन और कर्णशोधन ये चारों ही औपग्रहिक उपकरण हैं, इनमें से एक-एक उपकरण गुरु (आचार्य) के पास रहना चाहिए, शेष साधु भी उन्हीं से अपना काम कर सकते हैं, यदि गच्छ वहुत वड़ा हो तो अन्य साधु भी वांस अथवा सिंग से वने हुए इन पदार्थों में से एक-एक को रख सकते हैं, लोहमय नहीं रख सकते।'

इसी प्रकार सूत्र १९ से २२ तक में निष्प्रयोजन सूई, उस्तरा, कर्णशोधन और नखच्छेदनी इन पदार्थों को न मांगने का अथवा इन्हीं पदार्थों को अवधि से मांगने का और इन्हीं पदार्थों को पारिहारिक के रूप में मांगकर उनसे अन्य कार्य करने का निषेध किया गया है।

उपर्युक्त सभी उपकरणों का निशीथमात्र में विधान है "वृहत्कल्प और व्यवहाराध्ययन" में इन वातों का विशेष विधान दृष्टिगोचर नहीं होता, इसका कारण यही है कि भद्रवाहु स्वामी के समय में श्रमण श्रमणियों की संख्या इतनी नहीं थी और जो थे वे भी इन औपग्रहिक उपकरणों का उपयोग कम करते थे।

आचार्य आर्यरक्षितसूरिजी के समय में निर्ग्रन्थ श्रमण श्रमणियों की संख्या वहुत ही वढ़ गयी थी, सभी की सहनशीलता भी समान नहीं थी। इस परिस्थिति को देखकर श्रुतधर आर्यरक्षितसूरिजी महाराज ने प्राचीन कालसे चली आने वाली जैन श्रमणों की

आचार विधियों में अनेक परिवर्तन किये, उनके पहले से आगमों के चारों ही अनुयोग एक साथ चलते थे, उनको चार विभागों में बांटकर सूत्र पढ़ने वाले श्रमणों का मार्ग सुगम बनाया।

इनके पहले के अनुयोग धर कालिक श्रुत में भी नयों की चर्चा करते थे, आपने कालिक श्रुत में नयों की चर्चा करना रोक दिया, आपके पहले जैन श्रमणियां भी छेद सूत्र पढ़ती थीं और अपने वर्ग को प्रायश्चित्त प्रदान करती थीं, परन्तु स्थविर आर्य रक्षितसूरिजी ने श्रमणियों के लिए छेदसूत्र पढ़ना सदा के लिए बन्द कर दिया और श्रमणियों के लिए जानने योग्प जो सूत्र-नियम होते उनको "वृषभ" द्वारा श्रमणियों की प्रवर्तिनी को समझा देने का विधान किया।

निशीथाध्ययन के प्रथम उद्देशक के ४० वें सूत्र में निर्ग्रन्थ भिक्षु के लिए दण्डक, लाठी, अवलेखिनिका और वेणुसुई का विधान किया है और इन चीजों की अन्यतीर्थिक और गृहस्थ से घिसाई, पालिश आदि न करवाने का आदेश किया है।

इसी उद्देशक के ४६ वें सूत्र में साधु को अविधि से वस्त्र सीना, सीते हुए का अनुमोदन करना निषिद्ध किया है, इसी प्रकार इस उद्देशक के ५६ वें सूत्र में भिक्षु को परिमाण के अतिरिक्त लिए हुए वस्त्र को डेढ़ महीने के उपरान्त अपने पास न रखने का आदेश किया है, ये सभी आदेश और नियम आर्यरक्षितसूरिजी के नये परिवर्तनों के बाद बने हुए हैं, उक्त नियम और आदेश मात्र नमूने के रूप में बताये हैं, वाकी निशीथाध्ययन में सैंकडों ऐसे नियम और विधान हैं, जो भद्रबाहुउद्धृत दशा, कल्प और व्यवहार में नहीं हैं।

साध्वी को "कमठक" नामक छोटा पात्र रखना, साधु को "पतद्ग्रह" के अतिरिक्त चातुर्मास्य में "मात्रक" नामक दूसरा पात्र रखना, साधु को "अग्रावतार" के बदले में "चोलपट्टक" बांधना

और झोली में भिक्षा लाना ये सभी आर्यरक्षितसूरिजी के परिर्वतनों का फल है, इतने परिवर्तन करने वाले श्रुतधर को इन परिवर्तनों के अनुरूप नये नियमों की सृष्टि करना अनिवार्य हो जाता है, यदि भद्रबाहु स्वामी के वाद लगभग ४०० वर्षों में निर्ग्रन्थ श्रमणसंघ में वड़े-बड़े परिवर्तन न हुए होते तो आपको "प्रकल्पाध्ययन" के निर्माण की आवश्यकता ही नहीं रहती परन्तु कालदोष से संघ में परिवर्तन अगणित हो चुके थे और परिर्वतनों के अनुसार श्रमणसंघ के आचार विषयक नये नियमों का वनाना भी आवश्यक हो गया था, उस आवश्यकता की पूर्ति ही आर्यरक्षित का प्रस्तुत "प्रकल्पाध्ययन" है।

प्रकल्पाध्ययन (निशीथ) आर्यरक्षित की कृति है इस बात को प्रमाणित करने वाले कतिपय सूत्र हम लिख आए हैं और उनके सिवा भी ऐसे अनेक उल्लेख हैं, जो निशीथ का भी आर्यरक्षित कालीन होना प्रमाणित करते हैं, इसके चतुर्थ उद्देशक के सूत्र २८ से ३७ तक में पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, नित्यक, संसक्त नामक पांच प्रकार के शिथिलाचारी साधुओं के उल्लेख करके लिखा है कि इनको गोचरी पानी के लिए जाते समय अथवा विहार के समय संघाटक नहीं देना चाहिए, न इनका "संघाटक" लेना चाहिए[1]।

इसी प्रकार निशीथ के १६ वें उद्देशक के उक्त पासत्थादि पांच प्रकार के कुसाधुओं को सूत्र २७ से ३७ तक के १० सूत्रों में वाचना देने और उनसे वाचना लेने का निषेध किया गया है।

निशीथ के १३ वें उद्देशक में ४२ से ५६ तक के सूत्रों में पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, नित्यक, संसक्त, काथिक, प्राश्निक,

---

[1]जैन श्रमण को कहीं भी जाना हो तो अकेला न जाकर साथ में एक साधु लेकर जाना चाहिए, जैन शास्त्रीय परिभाषा में इस श्रमण युगल को "संघाटक" कहते हैं, पार्श्वस्थादि पांच कुगुरुओं को न अपना संघाटक देना चाहिए, न इनमें से अपने लिए "संघाटक" ग्रहण करना चाहिए।

मामक और संप्रसारक इन नव प्रकार के साधुओं की वन्दना प्रशंसा करने का प्रायश्चित्त विधान किया है, इन सब लेखों के विधान से प्रतीत होता है कि निशीथ के निर्माण समय में निर्ग्रन्थ श्रमण संघ में अनेक प्रकार के शिथिलाचार घुस गये थे।

"आचारांग सूत्र" जो सर्व प्रथम मौर्यकाल में लिखा गया था उसमें आज तक केवल "पार्श्वस्थ" यह एक ही नाम उपलब्ध होता है, तब "सूत्र कृतांग" सूत्र में "पार्श्वस्थ" के साथ "कुशील" नाम भी प्रविष्ट हो गया है, ये दोनों सूत्र भद्रबाहु के समय में पाटलिपुत्र में लिखे गये थे।

भद्रबाहु स्वामी द्वारा उद्धृत "बृहत्कल्पाध्ययन" में एक भी कुगुरु वाचक नाम नहीं मिलता; परन्तु इन्हीं के द्वारा पूर्वश्रुत से उद्धृत "व्यवहाराध्ययन" में पांच कुगुरुओं के नाम प्रविष्ट हो गये हैं, व्यवहार के प्रथम उद्देशक के सूत्र २८ से ३२ में पार्श्वस्थ, यथाछन्द, कुशील, अवसन्न और संसक्त इन पांच प्रकार के शिथिलाचारी साधुओं के नाम निर्देश करके लिखा है—

"भिक्षु अपने गण से निकल कर, पार्श्वस्थ विहार से विचरे, यथाच्छन्द विहार से विचरे, कुशील विहार से विचरे, अवसन्न विहार से विचरे, अथवा संसक्त विहार से विचरे और कालान्तर में फिर उसकी इच्छा अपने गण का स्वीकार कर विचरने की हो जाय, वो उसे आलोचनापूर्वक पश्चात्ताप करना चाहिए और छेद परिहार अथवा उपस्थापना का स्वीकार करके गण में सम्मिलित होना चाहिए।"

व्यवहार के उपर्युक्त विधान से तो यही ज्ञात होता है कि आचार्य श्री भद्रबाहु के समय में जैन श्रमणों में पार्श्वस्थादि पांचों प्रकार के हीनाचारी साधु उत्पन्न हो चुके थे, परन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है, यद्यपि "व्यवहार सूत्र" मूल में भद्रवाहु की कृति थी और अब तक उसी रूप में है तथापि पिछले समय में "व्यवहार" में अनेक प्रक्षेप हुए हैं और इसकी भाषा तक कल्प से तो क्या, निशीथ

से भी अर्वाचीन प्रतीत होती है, व्यवहार का यह परिवर्तन कब हुआ और किसने किया, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है, सूत्रों में कम ज्यादा जो थोड़े बहुत परिवर्तन हुए हैं, वे निर्ग्रन्थ श्रमण संघ ने ही किये हैं।

आचार्य आर्यरक्षित के परलोक वासी होने के उपरान्त दूसरी वाचना तत्कालीन युगप्रधान स्थविर स्कन्दिलाचार्य की प्रमुखता में मथुरा में हुई थी और उसमें उपलब्ध सभी जैन आगम ताडपत्रों पर लिखे गए थे, लगभग इसी समय में दक्षिण-पश्चिमीय श्रमण संघ सौराष्ट्र देश के पाटनगर वलभी में भी एकत्र हुआ था और वहां पर भी यथोपलब्ध जैन आगम लिखे गये थे परन्तु उत्तरीय संघ के प्रधान और दाक्षिणात्य संघ के प्रधान आपस में मिल नहीं सके थे, भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखाने में पाठभेद होना स्वभाविक था, इस बात का विक्रम की पांचवीं शती के युगप्रधान आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण को पता लगा, तब आपने सौराष्ट्र की तरफ विहार किया और उस प्रदेश में विचरने वाले आचार्य कालक तथा वादिवेताल शान्तिसूरि प्रमुख दाक्षिणात्य श्रमण संघ को भी वलभी में बुलाया और लम्बे समय तक दोनों प्रकार की वाचनाओं का समन्वय करने के साथ उनको एक रूप दिया और सूत्र तथा उनकी पंचांगी तथा इतर धार्मिक साहित्य लिखवाकर गृहस्थों के रक्षण के नीचे पुस्तक भंडार स्थापित करवाये।

साहित्य विषयक इन सम्मेलनों में जो कुछ परिवर्तन हुए थे, वे सर्वसम्मति से ही हुए थे, अन्तिम दो वाचनाओं में मथुरा वाला सम्मेलन विशेष महत्त्वपूर्ण था, उसमें श्रमणों की संख्या भी अधिक थी और स्थविर स्कन्दिलाचार्य की सलाह से जो परिवर्तन हुए होंगे वे भी बडे मार्के के होंगे, आचार्य स्कन्दिलाचार्य का समय विक्रम की चतुर्थशती का प्रथम भाग था, आर्यरक्षित के समय में ही श्रमण संख्या के आधिक्य से अनेक साधु संयम मार्ग से शिथिल हो चुके थे,

कई तो शास्त्रानुसार विहार करना छोड़कर स्थायी निवास करने वाले हो गये थे, "विक्रम की तीसरी शती से सातवीं शती तक का ५०० वर्ष का समय बहुश्रुत प्रधान होते हुए भी शिथिलाचार प्रधान था, इन संयोगों में युगप्रधान स्कन्दिलाचार्य ने वर्तमान कालीन परिस्थिति के साथ संगत करने के लिए भद्रबाहु के "व्यवहाराध्ययन" में उपयोगी परिवर्तन किये हों तो अनुचित नहीं है, देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय में आगमों की पंचांगियां तक अवश्य लिखी गयी थीं, परन्तु उस समय आगमों में समन्वय करने के अतिरिक्त परिवर्तन करने के कोई प्रमाण नहीं मिलते।

नन्दी, अनुयोग द्वार आदि सूत्र अन्तिम वाचना के पहले निर्मित हो चुके थे, नन्दी के प्रारम्भ में तथा आवश्यक के प्रारम्भ में गाथाओं में मंगलाचरण दिये हैं वे तत्कालीन हो सकते हैं, शेष नहीं।

व्यवहाराध्ययन में आचार-प्रकल्प के नामोल्लेख–

आचार्य आर्यरक्षित द्वारा किये गए परिवर्तनों के सम्बन्ध में हम पहले लिख आए हैं, कि आर्यरक्षित सूरिजी ने जैन श्रमणियों को आचार प्रकल्पादि छेदसूत्रों को पढ़ाने का निषेध किया था, इस निषेध का सूचन आचार प्रकल्पाध्ययन की चूर्णि तथा भाष्य आदि से होता है और व्यवहाराध्ययन के कर्त्ता श्रुत स्थविर भद्रबाहु होते हुए भी उसमें "आचार प्रकल्प" का अनेक स्थलों में उल्लेख होना व्यवहार तथा आचार प्रकल्प के पौर्वापर्य्य में शंका उत्पन्न करता है, व्यवहार के उद्देशक तीसरे में दो वार, उद्देशक पांचवे में सातवार उद्देशक छठवें में चार बार और उद्देशक दसवें में तीन बार इस प्रकार व्यवहार के चार उद्देश्कों में सोलह बार "आचार प्रकल्प" का नामोल्लेख हुआ है, इन उल्लेखों से तो यह प्रमाणित होता है कि "व्यवहार सूत्र" के निर्माण काल में श्रमण श्रमणियों को "आचार प्रकल्प छेद" आदि पढ़ने का अधिकार था, यदि "आचार प्रकल्प" के कर्त्ता आर्य रक्षित सूरि होते तो इसका नाम "व्यवहार

सूत्र" में उल्लिखित नहीं होता और श्रमणियों को "आचार प्रकल्प" पढ़ाने का आर्यरक्षित ने निषेध किया होता तो "व्यवहार सूत्र" में उसका विधान नहीं रहता, इन शंकाओं का समाधान यही है कि "व्यवहार" भद्रबाहु प्रणीत होने से उसमें कोई भी विधान सूत्र आर्यरक्षित ने कम नहीं किया, उन्होंने मुख जबानी श्रमणियों को "प्रकल्पाध्ययन" आदि छेदसूत्र न पढ़ने की आज्ञा जारी की थी, जिसका उल्लेख भाष्य चूर्णियों में आज भी मिलता है।

आर्य रक्षित के बाद लगभग २०० वर्ष के भीतर स्कन्दिलाचार्य की वाचना के समय में भी श्रमणियों को छेदसूत्र न पढ़ने संबंधी आर्यरक्षितसूरिजी का प्रस्ताव सर्व सम्मत नहीं हुआ था, यही कारण है कि "व्यवहार सूत्र" में श्रमणियों को प्रकल्पाध्ययन पढ़ाने का विधान था और आज भी विद्यमान है तथापि आज लगभग १५०० वर्षों से श्रमणियों का छेदसूत्र पठन-पाठन सर्वथा बन्द है, इसका कारण आर्यरक्षित की मौखिक निषेधाज्ञा ही हो सकता है।

निशीथ-भाष्य और इसके कर्त्ता-

निशीथ भाष्यकार कौन हैं? इसके सम्बन्ध में चूर्णि में आने वाले सिद्धसेन सूरि के नामोल्लेखों से भ्रमित होकर कोई विद्वान् भाष्यकार को सिद्धसेन सूरि मानते हैं और उन्हें प्रसिद्ध भाष्यकार श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के समकालीन मानते हैं, जो निराधार है, क्योंकि प्राचीन ताडपत्रीय भण्डारों की ग्रन्थ सूचियों में अथवा अन्य किसी भी ग्रन्थ में सिद्धसेन का निशीथ भाष्यकार के रूप में उल्लेख नहीं मिलता।

निशीथ चूर्णिकार ने भी अपनी चूर्णि में कहीं भी सिद्धसेन क्षमाश्रमण को निशीथभाष्यकार के नाम से उल्लिखित नहीं किया, कतिपय गाथाओं की चूर्णि के प्रारम्भ में "सिद्धसेन व्याख्या करते हैं" ऐसा उल्लेख करने मात्र से सिद्धसेन निशीथ भाष्यकार प्रमाणित नहीं होते।

निशीथके १६ वें उद्देशक के भाष्य की–

"उदिएणजोहाउलसिद्धसेणो, सपत्थिवो णिज्जितसत्तुसेणो ।
समंततो साहुसुहप्पयारे, अकासि अंधे दमिले य घोरे ॥५७५६॥"

इस गाथा में आने वाले "सिद्धसेणो" इस शब्द प्रयोग से भी कोई कोई भाष्यकार को सिद्धसेन मानते हैं, जो ठीक नहीं है, गाथा के द्वितीय पाद में आने वाले "सत्तुसेणो" इस "सेण" शब्द के साथ अनुप्रास मिलाने के लिए ही भाष्यकार ने प्रथम चरण में "सिद्धसेणो" यह शब्द प्रयोग किया है, यदि भाष्यकार स्वयं सिद्धसेन होते तो वे अपना नाम स्पष्ट रूप से लिख सकते थे और वह भी भाष्य की समाप्ति में, सो ऐसी बात तो है नहीं, भाष्यकार ने राजा सम्प्रति के सैनिक बल का सूचन करने के लिए उपर्युक्त गाथा लिखी है और ऐसी प्रकरणान्तर्गत गाथा के अमुक शब्द को देखकर उसे ग्रन्थाकार का नाम मान लेना, पद्धति-विरुद्ध है, अधिकांश में भाष्यकार अपनी कृति में अपना नाम लिखते ही नहीं हैं और कोई ऐसी विशेष कृति हो तो उसमें नाम निर्देश होता भी है तो ग्रन्थ की आदि में अथवा अन्त में, अप्रासंगिक स्थान में नहीं।

निशीथ के विशेष चूर्णिकार आचार्य जिनदास गणिजी ने अपने विवरण में सिद्धसेन की व्याख्या का निर्देश किया है, कहीं कहीं उनकी गाथा का भी सूचन किया है, इससे यही सिद्ध होता है कि जिनदास के पूर्ववर्ती निशीथ के सामान्य चूर्णिकार आचार्य सिद्धसेन होने चाहिए और उन्होंने अपनी चूर्णि में उद्धृत पूर्ववर्ती गाथाओं को, सिद्धसेन की गाथाएँ मान ली हैं, वास्तव में सिद्धसेन भाष्यकार नहीं परन्तु चूर्णिकार थे, उन्होंने जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण विरचित गाथाबद्ध "जीत कल्प" पर भी चूर्णि बनाई थी और इन्हीं चूर्णिकार सिद्धसेन ने निशीथ पर भी सामान्य चूर्णि लिखी हो तो संभावित है और विशेष चूर्णि में उनके नामोल्लेख भी संगत हो जाते हैं।

आचार्य श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण का समय विक्रम की

७ वीं शती का मध्यभाग है, "जीतकल्प" की चूर्णि में सिद्धसेन ने जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की जिन शब्दों में स्तुति की है, उससे यही सूचित होता है कि चूर्णिकार सिद्धसेन या तो जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के शिष्य होने चाहिए, अगर ऐसा नहीं है तो उनके प्रतीच्छक तो होने ही चाहिए, इस परिस्थिति में सामान्य चूर्णिकार सिद्धसेन का सत्तासमय विक्रम की सातवीं शती के उत्तरार्द्ध से परवर्ती नहीं हो सकता और सामान्य चूर्णिकार सिद्धसेन सातवीं शताब्दी के व्यक्ति हों तो, विशेष चूर्णिकार आचार्य जिनदास गणि आठवीं शती के ही ग्रन्थकार हो सकते हैं, पहले के नहीं।

भारत में चलने वाले ताम्र, रुप्य और सुवर्ण के सिक्कों का वर्णन करते हुए गणिमहत्तरजी ने निशीथ के दशम उद्देशक में रूप्यमय सिक्कों का निर्देश करते हुए लिखा है—"रुप्यमयं जहा भिल्लमाले वम्मलातो"

अर्थात्—'रुप्यमय नाणक जैसे भीनमाल में "वर्मलात" नामक रुपया चलता है।"

विशेष चूर्णि के उक्त उल्लेख के अनुसार जिनदास गणि महत्तर भीनमाल में वर्मलात नामक रुपया चलता था उस समय के व्यक्ति हैं, भीनमाल के राजा वर्मलात का एक शिलालेख वसन्तगढ से मिला है, जो विक्रम की सातवीं शति के चतुर्थ चरण का है, सातवीं शती के चतुर्थ चरण में राजा वर्मलात विद्यमान था तो उसका चलाया हुआ रुप्य नाणक उसके वाद भी चलता रहा होगा, क्योंकि इस प्रदेश में कई राजाओं के नाम के रुप्यक सिक्के उनके परलोक वास के वाद भी सौ-सौ वर्षों से अधिक समय तक चलने के दृष्टान्त मिलते हैं, इस परिस्थिति में भीनमाल में "वर्मलात रुपया" भी आठवीं शती तक चलता रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं है, प्रसिद्ध प्रतापी राजा के नाम का सिक्का उसके वाद अन्य राजा उस प्रदेश का स्वामी वन जाय तव वहां का प्रचलित नाणा भी वदलता है, यह परम्परा इस प्रदेश में विक्रम की २०वीं शती के मध्य भाग

तक रही थी, यह नजरों देखी बात है, इससे हमारा अनुमान है कि निशीथ के सूत्रों और भाष्य पर प्राकृत टीका बनाने वाले सिद्धसेन क्षमाश्रमण विक्रमीय सातवीं शती के अन्त में और विशेष चूर्णिकार आचार्य जिनदास गणि महत्तर आठवीं शती के उत्तरार्ध भावी ग्रन्थकार मानने में कोई बाधक नहीं होता।

नवमी शती के तत्त्वार्थ टीकाकार आचार्य सिद्धसेन गणि ने निशीथ विशेष चूर्णि का उपजीवन करने के प्रमाण मिलते हैं, इससे निश्चित है कि वे तत्त्वार्थ टीकाकार सिद्धसेन के पूर्ववर्ती थे, इसमें कोई शंका नहीं रहती।

निशीथ निर्युक्तिकार–

निशीथ निर्युक्तिकार कौन ? निशीथ निर्युक्तिकार ही आचारांग निर्युक्तिकार हैं यह कहा जाता है, परन्तु निर्युक्तिकार कौन इस प्रश्न को सुलझाये बिना आचाराँग निर्युक्तिकार को निशीथ निर्युक्तिकार कहने से कोई स्पष्टीकरण नहीं होता, श्वेताम्बर सम्प्रदाय में निर्युक्तिकार भद्रबाहु माने जाते हैं, परन्तु यह मान्यता भी दशवीं ग्यारहवीं शती की है, पहले की नहीं, किसी भी प्राचीन टीका चूर्णि आदि में चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु स्वामी निर्युक्तियों के कर्ता हैं ऐसा उल्लेख नहीं मिलता, निशीथ विशेषचूर्णि आदि में "इयं भद्दबाहु कता गाथा" इत्यादि उल्लेख अवश्य मिलते हैं, परन्तु इन उल्लेखों से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि दश सूत्रों की निर्युक्तियां बनाने वाले भद्रबाहु थे।

चूर्णिकार जिस गाथा को भद्रबाहु कृत कहते हैं, उसी गाथा को मलयगिरि आदि टीकाकार प्राचीन गाथा के नाम से उल्लिखित करते हैं, इन परस्पर विरुद्ध मध्यकालीन उल्लेखों से इतना जरूर कह सकते हैं कि आवश्यक आदि सूत्रों पर प्राचीन भद्रबाहु की निबन्ध के रूप में निर्युक्तियां हों तो आश्चर्य नहीं है, परन्तु विद्यमान निर्युक्तियां भद्रबाहुकृत हैं, ऐसा सिद्ध करने के लिए कोई

प्रमाण नहीं, प्रत्युत इन निर्युक्तियों को भद्रवाहु स्वामी के वाद की कृतियां मानने के लिए अनेक प्रमाण मिल सकते हैं।

आवश्यक निर्युक्ति को ही लीजिये, श्रुतज्ञान की प्रकृतियों का वर्णन करने के बाद निर्युक्तिकार "कत्तो मे वण्णे" इस गाथा में कहते हैं, श्रुत भगवन्त की सर्व प्रकृतियों का वर्णन करना मेरी शक्ति के वाहर है, इसी गाथा की व्याख्या करते हुए आवश्यक चूर्णिकार कहते हैं—

'श्रुत की सर्व प्रकृतियों का निरूपण करना चतुर्दश पूर्वधर अथवा दशपूर्वधरों की शक्ति का विषय है, मैं वैसा न होने से यह गाथा कहकर इस गाथा सूत्र के द्वारा वर्णन यहां ही पूरा करता हूँ।

आवश्यक चूर्णि वर्तमान जैन चूर्णियों में सव से प्राचीन है, इसके आन्तर प्रमाणों से सिद्ध होता है कि आवश्यक चूर्णि हूण लोगों के भारत में आने के वाद तुरन्त वनी हुई विक्रमीय षष्ठी शती की कृति है, इस चूर्णि के कथनानुसार आवश्यक निर्युक्तिकार दशपूर्वधर से निम्नकोटि के व्यक्ति थे, इसका तात्पर्यार्थ यही निकलता है कि आवश्यक निर्युक्तिकार चतुर्दश पूर्वधर भद्रवाहु नहीं थे।

कतिपय विद्वान् कल्पना करते हैं कि आवश्यक आदि ग्रन्थों के के निर्युक्तिकार दूसरे भद्रवाहु मान लिए जाएँ तो क्या आपत्ति है? मैं पूछता हूँ, दूसरे भद्रवाहु हुए थे, इस वात को प्रमाणित करने के लिए आपके पास क्या प्रमाण है? श्वेताम्वर साहित्य में भद्रवाहु ज्योतिषी वराहमिहिर के भाई होने की जो कहानी प्रचलित है, वह विलकुल अर्वाचीन है और दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्वान द्वितीय ज्योतिषी भद्रवाहु को विक्रम की दूसरी शती के आसपास हुआ मानते हैं, उसका आधार एक "आदि पुराण" मात्र है, "धवला, जयधवला, त्रैलोक्य प्रज्ञप्ति, श्रुतावतार कथा" आदि में

द्वितीय भद्रबाहु की कोई चर्चा नहीं है, इस प्रकार प्राचीन ग्रन्थों की प्रशस्तियों में द्वितीय भद्रबाहु का नामोल्लेख न होने से "आदि पुराण" के एक उल्लेख मात्र से द्वितीय भद्रबाहु को द्वितीय शताब्दी के लगभग मानना प्रामाणिक कोटि में नहीं आ सकता।

इस प्रकार निर्युक्तिकार दशपूर्वधरों से निम्न कोटि के थे और द्वितीय भद्रबाहु का कोई प्रमाण न होने से वर्तमान दश सूत्रों की निर्युक्तियाँ भी आचार्य आर्य रक्षित की कृतियाँ होने की मान्यता की तरफ मैं झुकता हूँ।

आर्यरक्षितजी ने अनुयोगों का पार्थक्य और कालिक श्रुत में नयवाद का गोपन जैसे महान् कार्य करने का साहस किया है तो उनके लिए आवश्यकादि दश सूत्री पर निर्युक्ति निर्माण का कार्य दुर्घट नहीं था।

निशीथ भाष्यकार ने भाष्य का निर्माण किस देश में रहकर किया होगा ?–

इस समय मेरे सामने "निशीथ, एक अध्ययन" शीर्षक एक लेख पं० दलसुख मालवणिया का पड़ा है, इसमें पण्डितजी एक प्रश्न उठाकर उसका स्वयं उत्तर देते हुए कहते हैं—

"भाष्यकार ने किस देश में रहकर भाष्य लिखा ? इस प्रश्न का उत्तर हमें गा० २६२७ से मिल सकता है, उसमें 'चक्के थूभाइया' शब्द हैं। चूर्णिकार ने स्पष्टीकरण किया है कि उत्तरापथ में धर्मचक्र है, मथुरा में देवनिर्मित स्तूप है, कोसला में जीवन्त स्वामी प्रतिमा है, अथवा तीर्थंकरों की जन्मभूमियाँ हैं इत्यादि मानकर उन देशों में यात्रा न करे।"

पण्डितजी ने अपने निरूपण में जिस गाथा २६२७ से उत्तर मिलने का लिखा है, उस गाथा को हम नीचे उद्धृत करते हैं—

"दुइज्जंता दुविहा, णिक्कारणिया तहेव कारणिया।
असिवादि कारणिया, चक्के थूभाइया इयरे ॥२६२७॥"

अर्थात्—'विहार करने वाले दो प्रकार के होते हैं–निष्कारणिक तथा कारणिक, अशिवादि के निमित्त अपने क्षेत्र से जो अवधि के पहले विहार करते हैं, वे कारणिक विहार करने वाले हैं; तब धर्म-चक्र, देवनिर्मित स्तूप आदि की यात्रा के लिए जो विहार करते हैं, वे निष्कारणिक हैं।'

तात्पर्य इसका यह है कि साधु साध्वी को निर्वाह योग्य क्षेत्र मिलने पर वर्षाकाल में चारमास और शीत, उष्ण काल में साधु को एक मास और साध्वी को दो मास वहां ठहरने के बाद आगे दूसरे क्षेत्रों में विहार करना चाहिए, इस प्रकार के विहार को निष्कारण विहार कहा है, परन्तु कई ऐसे कारण भी उपस्थित होते हैं, जिनके वश होकर श्रमणों को शास्त्रनियम तोडकर आगे विहार करना पड़ता है।

मास के भीतर विहार कराने वाले कौन कौन कारण होते हैं, वे चूर्णिकार निम्नलिखित शब्दों में सूचित करते हैं—

"असिवोमोदरियरायदुट्ठ-खुभिय-उत्तमट्ठकारणा वा अहवा-उवधिकारणा, लेवकारणा वा, गच्छे वा बहुगुणतरं ति खेत्तं, आयरियादीण वा आगाढ़कारणे एतेहिं कारणेहि दूइज्जंता कारणिया।"

अर्थात्—'जहां पर साधु ठहरे हुए हैं, उस क्षेत्र में हैजा आदि महामारी फैल जाय, दुर्भिक्ष के कारण साधुओं को भिक्षा मिलना दुर्लभ हो जाय वहां का शासक श्रमणों पर नाराज होकर उन्हें कष्ट दे, स्थानिक जनसमाज किन्हीं भी कारणों से क्षुब्ध होकर वहां से भाग जाय, अथवा किसी श्रमण को अनशन करना है परन्तु जहां ठहरे हुए हैं, वह क्षेत्र उस कार्य के योग्य न हो तो

मासकल्पादि की समाप्ति के पहले ही विहार करदें तो दोष नहीं, इसके अतिरिक्त अन्यक्षेत्र में साधुओं के लिए उपधि और पात्रों के लिए लेपादि सुलभ हों, अथवा अपने गच्छ, आचार्यादि के लिए गन्तव्य क्षेत्र विशेष अनुकूल हो तो इन आगाढ कारणों से पूर्व क्षेत्रों में से पहले भी विहार करदें तो दोष नहीं, क्योंकि ये सब कारणिक विहार हैं।'

उक्त अशिवादि में से कोई कारण न हो, उत्तरापथ के धर्मचक्र मथुरा के देवनिर्मित स्तूप, अयोध्या की जीवन्तस्वामी प्रतिमा, तीर्थंकरों की जन्म दीक्षा ज्ञान निर्वाण भूमियों आदि की यात्रा के निमित्त योग्य क्षेत्रों को छोडता हुआ विहार करे तो वह निष्कारणिक विहार है।

उपर्युक्त गाथा और इसकी चूर्णि का तात्पर्यार्थ इतना ही है कि कि साधु को योग्य निर्वाह करने लायक क्षेत्रों को बीच में छोड़कर निष्कारण अथवा तीर्थयात्रादि के निमित्त आगे नहीं जाना चाहिए, "इस गाथा और इसकी चूर्णि में इस बात की गन्ध तक नहीं है कि जहां तीर्थ हो अथवा तीर्थंकरों की कल्याणक भूमियां हों, वहां साधु को विहार ही नहीं करना चाहिये।"

उक्त गाथा और इसकी चूर्णि का भाव लेकर पण्डित मालवणिया ने जो भाष्यकार का उत्तरापथ में जाना वर्जित माना है, वह उनकी समझ का विपर्यास मात्र है।

व्यवहार सूत्र तथा प्रकल्पाध्ययन में साधुओं के विहार योग्य क्षेत्रों की जो सीमा बताई है उसके भीतर वे सभी देशों में विहार कर सकते हैं और विहार दरमियान आनेवाले तीर्थों की यात्रा भी कर सकते हैं, मात्र तीर्थ यात्रा निमित्तक साधुओं का भ्रमण निषिद्ध किया है।

पूर्वोक्त २९२७ वीं भाष्य गाथा और इसकी चूर्णि से ध्वनितार्थ निकालकर पण्डित मालवणिया कहते हैं—

"उक्त प्रदेशों में भाष्य नहीं लिखा गया, संभवतः वह पश्चिम

भारत में लिखा गया हो, यदि पश्चिम भारत का भी संकोच करें तो कहना होगा कि प्रस्तुत भाष्य की रचना सौराष्ट्र में हुई होगी, क्योंकि वाहर से आने वाले साधु को पूछे जाने वाले देश सम्वन्धी प्रश्नों में मालवा और मगध का प्रश्न है, मालवा या मगध में वैठकर कोई यह नहीं पूछता की आप मालवा से आरहे हैं, या मगध से ? अतएव अधिक संम्भव तो यही है कि निशीथ भाष्य की रचना सौराष्ट्र में हुई होगी।"

पण्डित मालवणिया ने अपनी इस तर्कवाजी का मूलाधार निम्नलिखित ३३४७ वीं गाथा को माना है—

"साएता णाऽओज्झा, अहवा ओज्झातोऽहं ण साएता।
वत्थव्वमवत्थव्वो, ण मालवो मागधो वाऽहं ॥३३४७॥"

उक्त गाथा किस प्रसंग पर आई है इसका प्रथम विवरण देकर फिर इस गाथा का अर्थ लिखेंगे।

निशीथ सूत्र के ११ वें उद्देशक में निम्नलिखित दो सूत्र आते हैं—

"जे भिक्खू अप्पाणं विप्परियासेइ विप्परियासंतं वा सातिज्जति ॥६८॥"
"जे भिक्खू परं विप्परियासेइ विप्परियासंतं वा सतिज्जति ॥६९॥"

"जो भिक्षु अपने खुद के प्रति भाषा-विपर्यास करे अथवा उसका अनुमोदन करे, जो भिक्षु दूसरे के प्रति भाषा-विपर्यास करे अगर करने वाले का अनुमोदन करे, उसको अनुद्घातित चतुर्मासिक की आपत्ति होती है।"

यह भाषा विपर्यास द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भेद से चार प्रकार का होता है, द्रव्य विषयक विपर्यास जैसे—किसी अनजान मनुष्य ने पूछा यह दाडिम है ? उत्तर में विपर्यास करने वाला कहता है, यह अम्बाडक है, इसी प्रकार अम्बाडक के पूछने पर उसे दाडिम कहे।

क्षेत्र विपर्यास—जैसे दो नामवाले क्षेत्र के सम्बन्ध में आनन्दपुर पूछने पर उसे अर्कस्थली कहे और अर्कस्थली है ? यह पूछने पर उसे आनन्दपुर कहे ।

काल विपर्यास—अनागाढ बीमारी में आगाढ बीमारी कहे और आगाढ में अनागाढ, अथवा अकाल में उपधि ग्रहण करे और काल में ग्रहण न करे ।

भाव विपर्यास—भाव विपर्यास में अनिवृंत आत्मा को निवृंत बताये और दूसरे को अनिवृंत कहे और स्वयं को निवृंत कहे, जो पदार्थ जिस प्रकार नियत हो उसको दूसरे प्रकार का माने, अथवा कहे वा करे यह भी भाव विपर्यास है ।

जैसे कोई साधु अयोध्या नगर से महमान बनकर आया और स्थानिक साधु ने पूछा—तुम अयोध्या से आते हो ? आगन्तुक कहता है नहीं, मैं साकेत से आया हूँ, स्थानिक साधु, अयोध्या का पर्याय ही साकेत है यह नहीं जानता, इसलिए वह अयोध्या के पूछने पर साकेत एवं साकेत के पूछने पर अयोध्या बताता है, अथवा तुम यहां के रहने वाले हो, यह पूछने पर अपने को अवास्तव्य बताता है और यहां के रहने वाले नहीं हो, यह पूछने पर वह अपने को वहां का रहने वाला बतावे, क्या तुम मालवदेश के जन्मे हुए हो, यह पूछने पर वह अपने को मालवा अथवा अन्य देश का जन्मा हुआ बताता है, यह सब वचन विपर्यास के दृष्टान्त है ।

इन वचन प्रयोगों के आधार से निशीथ भाष्यकार को मालव और मगध देश से भिन्न देश का मान लेना तर्क हीन है ।

लेखक को कोई न कोई तो भाषा विपर्यास सूचक दृष्टान्त देना ही था, मालव और मगध का नाम लिया उसी प्रकार महाराष्ट्र और सौराष्ट्र के नाम लिये होते तो भी भाष्यकार महाराष्ट्र अथवा सौराष्ट्र में नहीं थे यह कहने में कोई भी बाधक नहीं होता ।

उक्त तर्कबाजी से तो पण्डितजी ने अपनी बुद्धि का ही थाह वताया है और कुछ नहीं किया, भाष्यकार के सौराष्ट्र में रहकर भाष्य निर्माण करने का कोई प्रमाण नहीं दिया।

जैन सूत्रों के अधिकांश भाष्य विक्रम की पांचवी शती से सातवीं शती के अन्त तक में निर्मित हुए हैं, संघदास का प्रस्तुत निशीथ भाष्य विक्रम की छट्ठी शताव्दी में हुआ हो तो वाधक नहीं है, परन्तु उक्त समय में सौराष्ट्र देश की क्या स्थिति थी यह भी जान लेना आवश्यक है, क्योंकि श्वेत हूणों के भारत में प्रवेश होने के वाद भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर प्रदेश में वहुत ही क्रान्तियां हुई हैं, प्रारम्भ में तोरमाण के समय में तो धर्म सम्वन्धी विशेष क्रान्ति नहीं हुई, केवल राज्यों का परिवर्तन होने से गुर्जर आदि राज्य कर्तृ जातियां दक्षिण दिशा की तरफ प्रवाहित हुई थीं, और ओसियां, मण्डोवर, जालोर, भीनमाल, अमरकोट, थराद आदि नगरों में आवाद हुए थे और उनके लश्करों में हजारों की संख्या में सैनिक और व्यापारी होने से इस राजस्थान के दक्षिण प्रदेश एवं मध्य भारत तक आए और वसे थे, तोरमाण के मरने के वाद उसके पुत्र मिहिर कुल के राज्य काल में राजकीय परिस्थिति के साथ-साथ धार्मिक परिस्थिति में भी पर्याप्त क्रान्ति हो चुकी थी, पैगम्बर मोहम्मद की तरह मिहिरगुल ने सभी धर्म के अनुयायियों को शैव वनाने अथवा अपने राज्य से चले जाने का चेलेन्ज दिया था, इस क्रान्ति काल में लाखों की संख्या में जैन गृहस्थ और हजारों की संख्या में जैन श्रमण-श्रमणियां उत्तर भारत का त्यागकर राजस्थान, मध्यभारत आदि प्रदेशों में आकार वसे थे।

उपर्युक्त परिस्थिति में आचार्य संघदास के निशीथ भाष्य का किस देश और स्थान में निर्माण हुआ, यह निश्चित कहना कठिन है, पण्डित मालवणिया ने भाष्य की ६५७-६५८-६५६ इन तीन गाथाओं के आधार से भाष्यकार के समय में प्रचलित नाणे का वर्णन किया है और लिखा है वस्त्र का मूल्य जघन्य मध्यम

और उत्कृष्ट तीन प्रकार का होता है, १८ पाटलीपुत्रीय रुपये तक का वस्त्र जघन्य, लाख की कीमत का वस्त्र उत्कृष्ट और दो के बीच का जो भी मूल्य हो, वह वस्त्र का मध्यम मूल्य कहलाता है, भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में चलते हुए रुपयों में क्या-क्या वट्टा है, वह भाष्यकार बताते हुए कहते हैं—

'दीव में चलने वाला रुपया "साभरक" नाम से विख्यात है, दो साभरकों के बराबर उत्तर भारत का एक रुपया होता है।'

उत्तरापथ के दो रुपयों के बराबर पाटलिपुत्र का एक रुपया होता हैं, अथवा दूसरे प्रकार से कहें तो दक्षिणा पथ के दो रुपयों के बराबर काञ्ची का एक रुपया होता है, जो "नेलक" नाम से प्रसिद्ध है और दो नेलकों के बराबर कुसुम नगरीय एक रुपया होता है, इस कुसुम नगरीय रुपये से वस्त्र का १८ रु० जघन्य मूल्य माना जाता है।'

विद्वान् मालवणिया ने भाष्यकार की सिक्कों की चर्चा को भाष्य सौराष्ट्र में बनाने का प्रमाण कैसे मान लिया यह समझ में नहीं आता, सिक्कों की चर्चा में तो सौराष्ट्र के "दीव" के अतिरिक्त मद्रास प्रेसिडेण्टी स्थित "काञ्ची" के "नेलक" पूर्व भारत के "पाटलिपुत्रक" तथा "कुसुमनगरीय" नाम भी आए हैं, इन नामों के आधार पर निशीथ भाष्य की रचना दक्षिणापथ के काञ्चीनगर में कोई बताये अथवा तीसरा कोई पाटलिपुत्र में भाष्य की रचना बताये तो उसके लिए पण्डितजी के पास क्या प्रत्युत्तर है ?

इसी प्रकार पण्डित मालवणिया ने बहुत सी लचर और अप्रामाणिक बातें निशीथ के अध्ययन में लिखी हैं, परन्तु उन सब की चर्चा करने के लिए यह स्थान उचित नहीं है, मात्र दो चार बातों का उल्लेख करके अध्ययन की चर्चा समाप्त कर देंगे।

अध्ययन के पृष्ठ ७ में पण्डितजी लिखते हैं—

"अनाचार के कारण जो प्रायश्चित्त आता है, उसका विधान निशीथ में विशेष रूप से मिलता है।"

इसी पृष्ठ में नीचे पण्डितजी लिखते हैं—

"केवली और चतुर्दश पूर्वधर को प्रायश्चित्त दान का जैसा अधिकार है, प्रकल्प-निशीथधर को भी वैसा ही अधिकार है।"

ऊपर के दोनों वाक्यांश पण्डितजी के छेदसूत्र सम्बन्धी अल्पज्ञता के सूचक हैं, क्योंकि निशीथ में ही नहीं प्रत्येक छेदसूत्र में स्थविरों के लिए अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार के प्रायश्चित्त नहीं होते, किन्तु अनाचार के ही होते हैं, शेष तीन प्रकारों के प्रतिसेवन में प्रायश्चित्त का विधान केवल "जिनकल्पी" साधु के लिए ही है।

निशीथधर को भी केवली तथा चतुर्दश पूर्वधर के जैसा प्रायश्चित्त दान का अधिकार बताना अशास्त्रीय है, केवली, चतुर्दश पूर्वधर द्वारा दिये गए प्रायश्चित्त से जैसी शुद्धि होती है, वैसी श्रुतव्यवहारी से नहीं होती, आगम व्यवहारी प्रायश्चित्त लेनेवाले के मानसिक भावों को जानने वाले होते हैं, आलोचक यदि अपने दोषों को छिपाता है तो वे उसको प्रायश्चित्त नहीं देते परन्तु निशीथधर आलोचकों के कथनानुसार जो आपत्ति आती है, उसका प्रायश्चित्त दे देते हैं।

प्राचीन काल में दशवैकालिक की रचना होने के पूर्व दीक्षार्थि को आचारांग का प्रथम अध्ययन पढाने के बाद दीक्षा दी जाती थी, यह कथन आगम विरुद्ध और शैली विरुद्ध भी है, शस्त्रपरिज्ञा पढाने की बात प्रव्रज्या देने के बाद और छेदोपस्थापना होने के पहले की है, न कि गृहस्थावस्था में किसी को शस्त्र परिज्ञाध्ययन पढाया जाता था।

"चूर्णिकार के उपाध्याय प्रद्युम्न क्षमाश्रमण थे ?"

पण्डितजी का उक्त कथन जैन शैली की कमजानकारी का परिणाम है, क्योंकि चूर्णिकार स्वयं प्रद्युम्न क्षमाश्रमण को अपना अर्थदायी बताते हैं और सूत्रों का अर्थ पढ़ाने वाले आचार्य ही होते हैं, उपाध्याय नहीं, उपाध्याय का कर्त्तव्य शिष्यों को सूत्र पढाना मात्र है, अर्थ देना नहीं।

(१) 'कमठक' को कमण्डलु बताना।
(२) 'लोट्टो' को लोटा कहना।
(३) 'कणिक्का' को आटे का पिण्ड बताना।

इत्यादि बातें पण्डितजी की प्राकृत भाषा की न्यूनता सूचित करती हैं।

कमठक—कमण्डलु नहीं होता, किन्तु कटोरे के आकार का एक पात्र होता है।

लोट्ट—शब्द पीसे हुए धान्य के अर्थ में प्राकृत भाषा में माना गया है, लोटे के अर्थ में नहीं।

कणिक्का—गुंदे हुए आटे के पिण्ड के अर्थ में नहीं किन्तु मोटे पीसे हुए गेहूँ अथवा जव के कोरे आटे के अर्थमें रूढ है।

पण्डित मालवणिया ने हिंसा के उत्सर्ग, अपवाद, आहार और औषध के अपवाद, विकृतियों के ग्रहण-त्याग, ब्रह्मचर्य की साधना में कठिनाई आदि शीर्षकों के नीचे जो ऊहापोह किया है, वह न करते तो बहुत ही अच्छा होता, इस चर्चा से मालवणिया की विद्वत्ता तो प्रकट नहीं हुई पर अनजान पाठकों के लिए एक भ्रान्ति का साधन अवश्य तय्यार हुआ है जो किसी भी प्रकार से हितकर नहीं कहा जा सकता।

चूर्णिकार जिनदास किस देश के थे और चूर्णि का निर्माण किस देश में किया ?–

क्षेत्र संस्तव में कुरुक्षेत्र के नाम निर्देश मात्र से कोई-कोई इन्हें कुरुक्षेत्र निवासी होने का अनुमान करते हैं, यह केवल हास्यजनक हैं, नय-निक्षेपों, अनुयोगों के निरूपण में शास्त्रकार अनेक स्थानों के नाम निर्देश करते हैं, इससे निर्देशक उस प्रदेश के थे, ऐसा मानना केवल निराधार होता है।

आचार्य जिनदास गणि महत्तर ने चूर्णि में अपने भाइयों के नामों के निर्देश किये हैं वे सभी मारवाडियों के नाम हैं, मध्यकालीन और उसके पहले के इस मरुप्रदेश के लोगों के नाम ऐसे ही होते थे।

जिनदास का नाम सूचक श्लोक निम्वोद्धृत है—

"देहडो सीहडो सीहो, थोरो जेट्ठा सहोयरा।
कणिट्ठा देउलो णण्णो, सत्तमो य तिइज्जगो ॥
एतेसि मज्झिमो जो उ मं देवी तेण चिंतिता ॥"

अर्थात्—देहड, सीहड, सिंह और थोर इनमें से प्रथम के तीन जिसके बड़े भाई हैं और देउल, नन्न और सातवां तीजक ये जिसके कनिष्ठ भाई हैं, इनके मझोले भाई थोर ने मंदेवी का ध्यान करके निशीथ चूर्णि का १६ वां उद्देशक पूरा किया।'

उक्त सातों ही नाम पूर्वकाल में इस मरुभूमि में दिए जाते थे, इनमें का मध्यनाम "थोर" अपने ग्रन्थकार जिनदास गणि महत्तर का गृहस्थाश्रम का नाम है।

१३ वें उद्देशक के अन्त में चूर्णिकार ने निम्न गाथा में अपने पिता का नाम भी सूचित किया हैं, वह गाथा यह है—

"संकरजडमउडविभूसणस्स तण्णामसरिसणामस्स ।
तस्स सुतेणेस कता, विसेसचुण्णी णिसीहस्स ॥

अर्थात्—'शंकर जटामुकुट के विभूषण चन्द्रमा के सदृश जिसका नाम है, उसके पुत्र ने यह निशीथ की विशेष चूर्णि बनाई ।

इस गाथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि निशीथ विशेष चूर्णि के कर्त्ता आचार्य जिनदास गणि के पिता का नाम "चंद्र" था, प्राचीन काल में इस प्रदेश में ऐसे नाम व्यवहृत होते थे ।

इसी प्रकार चूर्णिकार ने १५ वें उद्देशक के अन्त में एक गाथा लिखकर अपनी माता का नाम सूचित किया है—

"रविकरमभिधाणऽक्खर-सत्तमवग्गंत-अक्खरजुएणं ।
णामं जस्सित्थीए, सुतेण तस्सेस कया चुण्णी ॥"

उपर्युक्त गाथा के रवि, कर, अभिधा इन शब्दों का अन्तिम अक्षर लेने से "विरधा" और इसके साथ "य" वर्ग का अन्तिम "व" जोड़ने से जिनदास गणि की माता का नाम "विरधाव" ऐसा निष्पन्न होता है ।

इस प्रदेश में आजकल भी विरधाव अथवा विरधादे आदि स्त्रियों के नाम दिये जाते हैं ।

निशीथ के २० वें उद्देशक की चूर्णि की समाप्ति में ग्रन्थकार ने अपने नाम और उपाधि को सूचित करने वाली दो गाथाएँ दी हैं—

"ति चउ पण अट्ठमवग्गे, ति पणग ति तिग अक्खरा य तेसिं ।
ततिय पढमेहिं दुपढम-सर जुएहिं णामं कयं जस्स ॥
गुरुदिण्णं च गणित्तं, महत्तरत्तं च तस्स तुट्ठेहिं ।
तेण कयेसा चुण्णी, विसेसनामा निसीहस्स ।"

'तीसरे, चौथे, पांचवें और आठवें वर्ग के तीसरे पांचवें तीसरे

और तीसरे इन चार अक्षरों में क्रमशः तृतीय (इ), प्रथम (अ), दूसरा (आ) और पहला स्वर (अ) मिलाकर जिसका (जिणदास) नाम दिया है और जिसको गणित्व (गणिपद) और महत्तरपद शुद्धाचारवान् गुरु ने दिया है, उसने निशीथ सूत्र की यह विशेष नामक चूर्णि बनाई।'

ऊपर के नामकरणों से और भिल्लमाल, वर्मलात, आदि नामों के उल्लेखों से जिनदास गणि का मूलनिवास भिल्लमाल (भीनमाल) अथवा इसके आसपास के प्रदेश में होना प्रमाणित है।

अब रहा निशीथ चूर्णि के निर्माण का स्थल—

प्रस्तुत चूर्णि के उन्नीसवें उद्देशक में चार महामहों का निरूपण करते हुए चूर्णिकार लिखते हैं —

"के पुण ते महामहा ? उच्यंते, आसाढी गाहा, आसाढी-आसाढपोण्णिमाए। इह लाडेसु सावणपोण्णिमाए भवति इंदमहो। आसोयपुण्णिमाए, कत्तियपुण्णिमाए चेव सुगिम्हतो चेत्तपुण्णिमाए एते अंतदिवसा गहिया आदितो पुण जत्थ विसए जतो दिवसातो महामहो पवत्तति।"

अर्थात्—'महामह कौन कहे जाते हैं ? आसाढी इस गाथा में महामहों का वर्णन इस प्रकार है—आसाढी पूर्णिमा को इन्द्रमहामह पूरा होता हैं, परन्तु यहां लाट देश में श्रावणी पूर्णिमा को महामह मनाया जाता है, आश्विनपूर्णिमा, कार्तिकपूर्णिमा और चैत्री पूर्णिमा ये महामहों के अन्तिम दिन हैं।'

ऊपर के निरूपणों में चूर्णिकार ने जो लिखा है कि 'यहां लाट देश में श्रावणी पूर्णिमा को महामह मनाया जाता हैं,' इससे निश्चित है कि आचार्य जिनदास गणि ने निशीथ चूर्णि का निर्माण "लाटदेश" में किया है।

अट्ठाईस आचार-प्रकल्प—

आवश्यक-सूत्रान्तर्गत श्रमणप्रतिक्रमणसूत्र में "अट्ठावीसाए आयारप्पकप्पेहिं" इस सूत्र में २८ आचार प्रकल्पों की सूचना की है, इस सूत्र के टीकाकार पूर्वाचार्यों ने २८ प्रकल्प निम्न प्रकार से वताये हैं—

आचारांग सूत्र के दोनों श्रुतस्कंधों के चूलिका सहित २५ अध्ययन और उद्घातित, अनुद्घातित, कृत्स्न ये तीन प्रकार के प्रायश्चित्त मिलकर २८ आचारप्रकल्प होते हैं ऐसा श्रमण प्रतिक्रमण सूत्र के टीकाकार कहते हैं, परन्तु आचारांग की चूलिका निशीथाध्ययन को छोड़कर शेष २४ आचारांग अध्ययनों को "आचार प्रकल्पाध्ययन" मानना तर्क संगत नहीं होता है, क्योंकि शास्त्र में "आचार प्रकल्प" यह नाम निशीथाध्ययन के लिये ही प्रयुक्त होता है। न कि सारे आचारांग सूत्र के लिए, इस परिस्थिति में आचारांग के सर्व अध्ययनों को शामिल करके "आचार प्रकल्प" मानना तर्क संगत नहीं, व्यवहाराध्ययन में आचार-प्रकल्प पढ़ने के लिए तीन वर्ष का चारित्र पर्याय आवश्यक माना है, तब आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और आचारांग ये सब सूत्र तीन वर्ष के पर्याय के पहले ही पढ़ाये जाते थे, इससे भी निश्चित होता है कि "आचार-प्रकल्प" यह नाम आचारांग की पंचम चूलिका का—निशीथाध्ययन का ही है, सारे आचारांग का नहीं।

'स्थानांग सूत्र' में आचार प्रकल्प पांच प्रकार का बताया है जैसे—

"पंचविहे आयारपकप्पे पण्णत्ते, तंजहा—मासिए उग्घाइए, मासिए अणुग्घाइए, चउमासिए उग्घाइए, चउमासिए अणुग्घाइए, आरोवणा।"

इन्हीं पांच प्रकार के आचार प्रकल्पों का विस्तृत वर्णन समवायांग सूत्र में निम्न प्रकार से उपलब्ध होता है, जैसे—

"अट्ठावीसविहे आयारपकप्पे पन्नत्ते तंजहा-मासिआ आरोवणा, सपंचराइमासिआ आरोवणा, सदसराइमासिआ आरोवणा, (सपण्णरसराइ मासिआ आरोवणा, सवीसइराइ मासिआ आरोवणा सपंचवीसराइ मासिआ आरोवणा) एवं चेव दो मासिआ आरोवणा, सपंचराइदो मासिआ आरोवणा, एवं तिमासिआ आरोवणा, चउमासिआ आरोवणा, उग्घाइआ आरोवणा, अणुग्घाइया आरोवणा, कसिणा आरोवणा, अकसिणा आरोवणा, एतावता आयारपकप्पे, एतावता य आयरियव्वे।"

अर्थात—'अट्ठाईस प्रकार का आचार-प्रकल्प कहा है, जैसे—मासिक आरोपणा, पंचरात्र्यधिक मासिकारोपणा, दशरात्र्यधिक मासिकारोपणा, पंचदशरात्र्यधिक मासिकारोपणा, विंशतिरात्र्यधिक मासिकारोपणा, पंचविंशतिरात्र्यधिक मासिकारोपणा, इसी प्रकार द्विमासिकारोपणा, पंचरात्र्यधिक द्विमासिकारोपणा, दशरात्र्यधिक द्विमासिकारोपणा, पंचदशरात्र्यधिक द्विमासिकारोपणा, विंशतिरात्र्यधिक द्विमासिकारोपणा, पंचविंशतिरात्र्यधिक द्विमासिकारोपणा, ऐसे ही त्रिमासिकारोपणा, पंचरात्र्यधिक त्रिमासिकारोपणा, दशरात्र्यधिक त्रिमासिकारोपणा, पंचदशरात्र्यधिक त्रिमासिकारोपणा, विंशतिरात्र्यधिक त्रिमासिकारोपणा, पंचविंशतिरात्र्यधिक त्रिमासिकारोपणा, चातुर्मासिकारोपणा, पंचरात्र्यधिक चातुर्मासिकारोपणा, दशरात्र्यधिक चातुर्मासिकारोपणा, पंचदश रात्र्यधिक चातुर्मासिकारोपणा, विंशतिरात्र्यधिक चातुर्मासिकारोपणा, पंचविंशतिरात्र्यधिक चातुर्मासिकारोपणा, उद्घातितारोपणा, अनुद्घातितारोपणा, कृत्स्नारोपणा (संपूर्णा) अकृत्स्नारोपणा (झोषितारोपणा), यहां तक आचार-प्रकल्प है और यहां तक ही आचार प्रकल्प आचरणीय है।

निशीथ सूत्र का निर्माण प्रदेश—

निशीथ सूत्र का निर्माण मालवे अथवा मध्यभारत के किसी भी प्रदेश में हुआ है यह बात निशीथ के २० वें उद्देशक के ग्यारहवें तथा बारहवें सूत्र में किये गये चार महामहप्रतिपदाओं के निरूपण से प्रमाणित होता है, वे सूत्र निम्नलिखित हैं—

'जे भिक्खू चउसु महामहेसु सज्झायं करेइ करेंतं वा साइज्जइ, तंजहा इंदमहे १ खंदमहे २ जक्खमहे ३ भूयमहे ४ ।"

"जे भिक्खू चउसु महपाडिवएसु सज्झायं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ तंजहा सुगिम्हायापाडिवए १, आसाढीपाडिवए २, भद्दवय पाडिवए ३, कत्तियपाडिवए ४।"

अर्थात्—"जो भिक्षु चार महाउत्सवों में स्वाध्याय करता है वा करने वाले का अनुमोदन करता है, जैसे इन्द्रमहोत्सव में, स्कंद-महोत्सव में, यक्षमहोत्सव में और भूतमहोत्सव में ।"

'जो भिक्षु चार महप्रतिपदाओं में स्वाध्याय करता है अथवा करने वाले का अनुमोदन करता है जैसे—ग्रीष्म की प्रतिपदा में (चैत्री पूर्णिमा के बाद की प्रतिपदा में) आषाढी पूर्णिमा के बाद की प्रतिपदा में, भाद्रपदी पूर्णिमा के बाद की प्रतिपदा में और कार्तिकी पूर्णिमा के बाद की प्रतिपदा में ।'

उपर्युक्त चार उत्सवों की पूर्णिमाओं के बाद की चारों प्रतिपदाएँ सूत्र में बताई हैं, इन्द्र महोत्सव-आसाढी पूर्णिमा को और देश विशेष में श्रावणी पूर्णिमा को अथवा भाद्रपदी पूर्णिमा को समाप्त होता था, स्कन्दमह आश्विनी पूर्णिमा को समाप्त होता था, यक्षमह कार्तिकी पूर्णिमा को होता था और भूतमह चैत्री पूर्णिमा को समाप्त होता था, इन चारों महामहों की समाप्ति पूर्णिमाओं के अन्त में आने वाली कृष्ण प्रतिपदाओं में होती थीं, इन प्रतिपदाओं के नाम स्थानांग सूत्र के चौथे स्थान के दूसरे उद्देशक में इस प्रकार लिखे हैं—"आषाढी प्रतिपदा, इन्द्रमह प्रतिपदा, कार्तिकी प्रतिपदा सुग्रीष्मक प्रतिपदा" इससे ध्वनित होता है कि महामहोंकी

पूर्णिमाओं के वाद की प्रतिपदाएँ उन्हीं मास की प्रतिपदाएँ मानी जाती थीं और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि निशीथ के निर्माण काल में अथवा स्थानांग सूत्र के व्यवस्थित होने और लिखे जाने के समय में उन प्रदेशों में अमान्त महीना चलता होगा, क्योंकि मौर्यकाल में खास करके कौटिल्य अर्थशास्त्र के निर्माण काल में तथा सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करण्ड आदि जैन ज्योतिष सूत्रों में पूर्णान्त मास माना गया है, जो प्राचीन काल में भारत के पूर्वीय तथा पूर्वोत्तरीय देशों में चलता आया है, इस परिस्थिति में यही मानना पडता है कि स्थानांग, व्यवहार, निशीथ आदि सूत्र जहां निर्मित तथा व्यवस्थित हुए हैं उन प्रदेशों में उस समय में अमान्त महीना चलता होगा, "कत्तिय पाडिवए" शब्द का प्रयोग कार्तिकी पूर्णिमा के वाद आने वाली प्रतिपदा के लिए हुआ है, यदि वहां पूर्णिमान्त महीना चलता होता तो कार्तिकी पूर्णिमा के वाद की प्रतिपदा को "मग्गसिर पाडिवए" ऐसा लिखते परन्तु सूत्रों में ऐसा उल्लेख कहीं भी नहीं हुआ, इससे प्रमाणित होता है कि व्यवहाराध्ययन तथा निशीथाध्ययन जहां वर्तमान रूप में निश्चित हुए है, उस प्रदेश में अमान्त महीना चलता था, और यह प्रदेश मालवा का दशपुर, विदिशा, आदि था, क्योंकि "वाराही-वृहत्संहिता आदि से भी यही जाना जाता है कि भारत के मध्यप्रदेशों में पहले अमान्त महीने का प्रचार था, वराहमिहिर तथा अन्य संहिताकार ज्योतिषियों ने शुक्लप्रतिपदा से ही मास का प्रारम्भ माना है, इससे उस समय वहां अमान्त मास ही चलता था यह निश्चित है और इससे निशीथाध्ययन तथा व्यवहार सूत्र का वर्तमान रूप आचार्य भद्रबाहु स्वामी के समय का नहीं है, किन्तु श्रुतधर आर्यरक्षित के समय का ही होना चाहिए यह वात निश्चित हो जाती है।

निशीथाध्ययन का विषय दिग्दर्शन—

छेद सूत्रों का कलेवर बहुत छोटा होता है, परन्तु इनका प्रतिपाद्य विषय इतना गहरा होता है कि निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीकाकार उसके स्पष्टीकरण में हजारों श्लोक लिखते हैं तभी ग्रन्थ का विषय विशद होता है, उदाहरण के रूप में "कल्पाध्ययन" एक छोटा अध्ययन है, इसके मात्र छः उद्देशक हैं और २१२ सूत्र, फिर भी इसके स्पष्टीकरण में लघुभाष्यकार को हजार गाथा परिमित भाष्य, सामान्य चूर्णिकार को १४ हजार श्लोक परिमित चूर्णि और बृहद् भाष्यकार को १३ हजार गाथापरिमित बृहद्भाष्य एकन्दर कल्पसूत्र मूल, दो भाष्य, दो चूर्णियाँ मिलकर ४५४७३ श्लोकात्मक प्राकृत साहित्य और आचार्य मलयगिरि और क्षेमकीर्ति को ४२००० श्लोकपरिमित संस्कृतटीका लिखनी पड़ी।

व्यवहाराध्ययन सूत्र में २७१ सूत्र और मूल का श्लोक परिमाण ३७३ श्लोक का है, इस पर छः हजार परिमित भाष्य, १०३६१ श्लोकपरिमित चूर्णि और ३३००० श्लोक परिमाण वृत्ति, कुल ४९७३४ श्लोक परिमित साहित्य लिखा गया तब इसका स्पष्टीकरण हुआ।

निशीथाध्ययन के मूल सूत्र १४२६, मूल का श्लोकपरिमाण ८०० के लगभग, भाष्य ७४०० और चूर्णि २८०००, एकन्दर ३६२१५ श्लोकों में निशीथ अध्ययन का विवरण किया गया है।

उपर्युक्त व्याख्या ग्रन्थों का परिमाण पढ़ने के बाद इस विषय में कहने की आवश्यकता नहीं रहती कि छेदसूत्र कितने गहन और गूढार्थ हैं, इनमें जैन श्रमण-श्रमणियों के जीवनभर के कर्तव्यों का दिग्दर्शन कराया है और कर्त्तव्यच्युत होने पर शुद्धचर्थ दण्डविधान किया गया है।

(१) प्रकल्पाध्ययन के प्रथम उद्देशक में कुल ५८ सूत्र हैं, इनमें

से प्राथमिक १० सूत्रों में ब्रह्मचर्य का भंग करने अथवा मानसिक विकृतियाँ उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियों से बचने के लिये भिक्षु को सावचेत किया गया है।

शेष सूत्रों में से ३८ तक में पग रखने के लिए सोपान मार्ग, जल निकलने के लिए नीक, शिक्यक अथवा शिक्यक के लिए वस्त्र, सौत्रिक अथवा रज्जुमयी चिलीमीली, सूई, उस्तरा, नखछेदन, कर्णशोधन की याचना करना और इन्हीं पदार्थों की अविधि से याचना करना, अपने खुद के लिए सूई आदि लाकर दूसरे को देना, वस्त्र सीने के लिए सूई मांगकर लाये और पात्र को सीए, वस्त्र काटने के लिए उस्तरा लाकर पात्र काटे, नखकाटने के लिए नखछेदन लाकर कांटा निकाले, कानों का मल निकालने के लिए कर्णशोधन लाकर दांतमल अथवा नखों का मल निकाले, लाई हुई सूई विगैरह विधि से वापस न दे, तुम्बे का पात्र, लकड़ी का पात्र अथवा मिट्टी का पात्र अन्य तीर्थिक अथवा गृहस्थ से घिसावे, ठीक करावे, अथवा अपने लिए मजबूत कराये, जानते हुए और स्मरण रखते हुए उपर्युक्त पदार्थ एक दूसरे को दे, दण्ड, लाठी, पादलेखनी, बांस की सूई अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ से घिसाए अथवा उनको दे, पात्र के एक सांधा दे, पात्र को तीन से अधिक बार सांधे, पात्र को एक बन्ध से बांधे, पात्र को तीन से अधिक बन्ध दे, अनावश्यक अधिक पात्र को १।। मास से अधिक समय तक अपने पास रखे, वस्त्र को एक बार तूने अथवा कारण से तीन से अधिक बार तूने, अविधि से सीए। वस्त्र की फाली खीले, वस्त्र की तीन फालियों से अधिक को खीले। वस्त्र की एक फाली, को गूँथे, वस्त्र को तीन से अधिक बार गूंथे, थीगली के लिए विजातीय वस्त्र को ग्रहण करें, अतिरिक्त लिए हुए वस्त्र को डेढ मास के ऊपर रखे। अन्य तीर्थिक या गृहस्थ से गृहधूम को मंगावे, पूतिकर्म भोजन करे, उक्त सब बातों को करने वाला अथवा करते हुए का अनुमोदन करने वाला साधु, गुरुमासिक परिहार स्थान को प्राप्त होता है।

(२) **द्वितीयोद्देशक**—निशीथ के दूसरे उद्देशक में लकड़ी की

दंडीवाले पादप्रोंछनक करने, लेने, रखने देने, बांटने बापरने और अनावश्यक पाद प्रोंछन को डेढ महीने से अधिक समय तक अपने पास रखने के अपराध में प्रायश्चित्त बताया है।

अचित्त पदार्थ पर रहे हुए गंध को सूंघे, अवलम्बन करे, जल नाली को समारे, अथवा शिक्यक के वस्त्र को साफ करे, सौत्रिक अथवा रज्जुमयी चिलीमिली का संस्कार करे, सूई, उस्तरा, नख-छेदन, और कर्णशोधन को तेज करे, कठोर वचन बोले, झूठ बोले, अदत्त चीज को ग्रहण करे, थोडे ठंडे पानी से अथवा गर्म पानी से हाथ, पग, कान, आंख, दंत, नख, मुंह इनको मले अथवा धोअे अखण्ड चर्म अखण्ड वस्त्र और नहीं कटे हुए वस्त्र को पहिने, तूम्बे, लकड़ी और मिट्टी का त्रिविध पात्र, दण्ड, लाठी, अवलेखनी और बांस की सूई को स्वयं घीसे, रखे उसको संस्कारित करे, अपने खोजे हुए, दूसरे के खोजे हुए, श्रेष्ठ के खोजे हुए, वलवान के खोजे हुए, अपूर्व खोजे हुए पात्र को धारण करे। जो नित्य अग्रपिण्ड का, अग्रपिण्ड के तीसरे भाग अथवा उसके आधे भाग का भोजन करे। पूर्वसंस्तव करे, पश्चात्संस्तव करे, स्थान पर रहता हुआ अथवा ग्रामानुग्राम विचरता हुआ पूर्व संस्तुत अथवा पश्चात् संस्तुत कुलों में प्रथम अथवा पीछे भिक्षार्थ प्रवेश करें, जो भिक्षु अन्य तीर्थिक अथवा गृहस्थ के साथ घर में भिक्षार्थ प्रवेश निर्गमन करे, बाहर विहार भूमि अथवा विचार भूमि में अन्यतीर्थिक वा गृहस्थ के साथ प्रवेश करे अथवा उनके साथ ग्रामानुग्राम विहार करे, किसी भी प्रकार का भोजन लेकर उसमें से सुगन्धी सुगन्धी खाये और दुरभिगन्धी दुरभिगन्धी फेंकदे, किसी भी प्रकार का पानी लाकर अच्छा अच्छा रखले, कषायला कषायला फेंक दे, सुन्दर भोजन ग्रहण कर वासी ठण्डा साम्भोगिक साधर्मियों को पूछे विना अथवा उनको निमंत्रण दिये विना फेंक दे, शय्यातर का खाये अथवा आहार से ग्रहण करे, शय्यातर का घर जाने पूछे विना और उसकी गवेषणा किये विना पहले ही भिक्षा के लिए निकल जाय, जो शय्यातर की निश्रा से दीनता पूर्वक मांगकर ले, ऋतु-

वद्धिक शय्या—संस्तारक देखकर न हटावें, पारिहारिक शय्या संस्तारक आज्ञा लिए विना मूल स्थान से वाहर ले जाय। शय्या संस्तारक पारिहारिक अपने हाथ से दिए विना चला जाय, शय्यातर सम्वन्धी शय्या संस्तारक स्वयं खोले विना और वापस दिये विना चला जाय, पारिहारिक अथवा शय्यातर सम्वन्धी शय्या संस्तारक ठीक किये विना, गुम जाने पर, उसकी गवेषणा न करे, थोडे समय के लिए लाई उपधि की भी प्रतिलेखना न करे और ऐसा करने वाले का अनुमोदन करने वाले भिक्षु को मासिक उद्घातित स्थान प्राप्त होता है।

(३) **तृतीयोद्देशक**—जो भिक्षु मुसाफिर खानों में, आरामगृहों में गृहस्थों के घरों में, अन्य तीर्थिक अथवा गृहस्थ स्त्री पुरुषों से खान, पान, खादिम पदार्थों को दीनता से मांगे, कौतुहल वृत्ति से आए हुए अन्य तीर्थिक अथवा गृहस्थ से दीनता दिखाकर याचना करें, अन्य तीर्थिकों अथवा गृहस्थों के पास से सामने लाया हुआ भोजनादि ग्रहण करें, उनके पीछे जाकर, उनको घेरकर, उनसे छुपी वातें करके दीनता से याचना करे, जो भिक्षु गृहस्थ के घर भिक्षा के लिए जाए और जाने पर घर स्वामी के निषेध करने पर भी फिर उसके घर जाए, संस्कृत भोजन देखकर अशन, पानादि ग्रहण करे गृहस्थ घर में भिक्षार्थ प्रवेश करके तीन घर के उपरान्त से लाया हुआ आहार ग्रहण करे, जो भिक्षु अपने पैरों को पोंछे, पैरों को दवावे, उनका परिमर्दन करें, तेल, घी, चर्वी अथवा मक्खन से पैरों की मालिश करे अथवा उन्हें चुपडे, लोध अथवा अन्य किसी कल्क से पैरों का उद्वर्तन करे, ठण्डे जल से अथवा गर्म जल से सींचें अथवा धोए।

जो भिक्षु अपने शरीर का प्रमार्जन-संवाहन करे, तेलादि से मालिश करे, लोध के कल्क आदि से उद्वर्तन करे, शीत आदि जलसे धोए, पोथी आदि के रंग से रंगे। जो भिक्षु अपने शरीर में उत्पन्न हुए फोडे, पिटक, मस्से, मेद आदि को किसी प्रकार के तीक्ष्ण शस्त्र से काटे, काटकर पीप या खून निकाले, ठण्डे गर्म जल से उसको

धोए, किसी प्रकार का उस पर लेप लगाये, तैल आदि से अभ्यंगन करे, किसी धूप से धूपित करे। जो भिक्षु अधिष्ठान में अथवा कुक्षि में रहे हुए कृमियों को अंगुली द्वारा निकाले, जो भिक्षु अपने लम्बे नखों की शिखा को काटे, तीक्ष्ण बनावे, इसी प्रकार जांघ के बालों को, मूँछों के बालों को, वस्ति के वालों को, नेत्रों के बालों को काटे अथवा व्यवस्थित करे। जो भिक्षु अपने दांतों को रंगे अथवा घिसे, इसी प्रकार अपने ओष्ठों को मांजे, प्रमार्जित करे। जो भिक्षु अपने ओष्ठों का संवाहन करे, तेल, घी आदि से लेप करे, लोध आदि के कल्क से उद्वर्तन करे और ठण्डे अथवा उष्ण जल से अपने ओष्ठों को धोए या रंगे। जो भिक्षु अपनी मूंछ के बालों को काटे या संवारे, आंखों के अक्षिपत्रों को काटे, अथवा संवारे, अपनी आंखों को पोंछ कर साफ करे, उनका संवाहन करे और तैल, घी, वसा अथवा मक्खन से आंखों की मालिश करे, लोध आदि के कल्क से आंखों का उद्वर्तन करे, शीत अगर उष्ण जल से आंखों को छांटे अगर धोए, आँखों को पोंछ कर रंगे, आंखों की भोंहों के बालों को काटे अथवा संवारे, जो भिक्षु अपने पार्श्व के रोमों को काटे अथवा संवारे, जो भिक्षु अपने लम्बे केशों को काटे, अथवा संवारे, जो भिक्षु अपने शरीर के पसीने, सूखे मैल, गीले मैल और सामान्य मैल को निकाले, जो भिक्षु अपने नैत्रमैल, कानों के मैल, दांतों के मैल, नखों के मैल को निकाले। जो भिक्षु विहार करता हुआ सिर पर वस्त्र ओढे, जो भिक्षु शण के रेशों से, ऊनके रेशों से, कपास के रेशों आदि से वशीकरण सूत्र बनावे, जो भिक्षु घर में, घर के सामने, घर के द्वार में, घर की बारी में, घर के उदुम्बर पर, घर के आंगन में और घर के बीच में मल अथवा मूत्र डालें। जो भिक्षु मृतक घर में, मृतक की भस्म पर अथवा उसके स्तूप पर अथवा मृतक के आश्रय स्थान में, मृतक रखने के बन्ध स्थान में, मृतक स्थान की खुली भूमि में और मृतकों के बीच मलमूत्र का त्याग करे।

जो भिक्षु कोयले बनाने के स्थान में, क्षार बनाने के स्थान में

शरीर जलाने के स्थान में, भूसा जलाने के स्थान में, उष जलाने के स्थान में मलमूत्र का त्याग करे।

जो भिक्षु नयी गोलेखनीनिकाओं में, नयी मिट्टी की खानों में, चाहे वे उपभोग में ली जाती हों चाहे न भी ली जाती हों, वहां मलमूत्र का त्याग करे, जो भिक्षु कीचड के स्थान में, पंक के स्थान में और पनक के स्थान में मलमूत्र का त्याग करे।

जो भिक्षु उडुम्बर, वड अथवा पिप्पल के निकट मलमूत्र का त्याग करे, जो भिक्षु शाक, भाजी, मूलक, धनियां, जीरा, दमनक, मरूभ्रे आदि की क्यारियों के निकट मलमूत्र का त्याग करें, जो भिक्षु धान के खेत में, कुसुम्ब्र के खेत में, कपास के खेत में अथवा ईख के खेत में मलमूत्र का त्याग करे, जो भिक्षु अशोक के वन में, सप्तपर्णी के वन में, चम्पों के वन में, आमों के वन में, इसो प्रकार के अन्य किन्हीं भी वृक्षों के वनों में जो पत्रों, पुष्पों, फलों और वीजों से उपकारक हों मलमूत्र का त्याग करे।

जो भिक्षु दिन में, रात्री में, अथवा विकाल समय में पीडित होकर अपने अगर दूसरे के पात्र को लेकर मलमूत्र का त्याग करे और सूर्य उगने से पहले उसको फेंक दे इत्यादि सव प्रवृत्तियों का करने वाला भिक्षु उद्घातित मासिक परिहार स्थान को प्राप्त होता है।

(४) **चतुर्थोद्देशक**—जो भिक्षु राजा को आत्मीय वनाकर पूर्व संस्तव करे, पश्चात् संस्तव करे, जो राज रक्षक को आत्मीय वनाए, जो नैगमिक को अपना वनाए, जो भिक्षु देश रक्षक को आत्मीय वनाए, जो भिक्षु सर्वाऽरक्षक को अपना बनाए अथवा वनाने वाले का अनुमोदन करे।

जो भिक्षु राजा, राजरक्षिक, निगमारक्षिक और देशरक्षिक, सर्वारक्षिक को प्रशंसा द्वारा पूजनीय वनाए।

जो भिक्षु राजा, राजरक्षिक, निगमारक्षिक देशरक्षिक और सर्वारक्षिक की प्रार्थना करे।

जो भिक्षु अखण्डित औषधियों का आहार करे, जो भिक्षु आचार्य द्वारा न दिया हुआ आहार करे, जो भिक्षु आचार्यों उपाध्यायों द्वारा अदत्तविकृतियों का भोजन करे।

जो भिक्षु स्थापना कुलों की पृच्छा गवेषणा और जानकारी के बिना ही भिक्षा के लिए चला जाय।

जो भिक्षु निर्ग्रन्थिनियों के उपाश्रय में अविधि से प्रवेश करे, निर्ग्रन्थियों के आगमन मार्ग में दण्ड, लाठी, रजोहरण, मुँहपत्ती अथवा अन्य कोई भी उपकरण रखे।

जो भिक्षु अनुत्पन्न क्लेश को नया उत्पन्न करे, पुराने क्लेशों को फिर ताजा करे, मुँह फाड़कर हँसे।

जो भिक्षु पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, नित्य, संसक्त को संघाटक दे, अगर उनका संघाटक स्वीकार करे।

जो भिक्षु जलार्द्र हाथ से, कुड़छी से, पात्र से अशनादि ग्रहण करे, रज मिट्टी, उषस (लोनिया धूली) हरिताल, मनःशिला, रंजनी (रजमी) गेरु, खड़ी, हिंगूल, अंजन, लोध, थूली, आटा, कन्दमूल आदि से भरे हुए हाथ से, भाजन से अशन पानादि ग्रहण करे।

जो भिक्षु ग्रामारक्षिक, सीमारक्षिक, राजारक्षिक को आत्मीय करे (बनावे) पूजनीय बनावे, जो भिक्षु एक दूसरे के पगों का पोंछना आदि से लेकर संवाहन परिमर्दन तैलादि से मालिश लोध आदि से उद्वर्तन, जल से धोना, रंगना इसी प्रकार शरीर का पोंछना, दबाना, मलना, तैलादि से मालिश करना, शरीर का लोध आदि के कल्क से उद्वर्तन करना, एक दूसरे का शरीर शीत वा गर्म जल से धोना, शरीर का रंगना, शोभा के लिए रंग चढ़ाना, शरीर के व्रणादि को स्निग्ध पदार्थों से मालिश करना तथा लोध आदि से उद्वर्तन करना, शीतोष्ण पानी से धोना, शारीरिक व्रण को धोना तथा पोंछना, शरीर के फोड़े, मस्से, भगन्दर आदि को तीक्ष्ण शस्त्र से काटना और उनमें से पीप, खून आदि निकालना इत्यादि से लेकर १०१ सूत्र तक उपर्युक्त सभी सूत्रों की यादी

दिलाकर ऐसा करने वालों को प्रायश्चित्त विधान का निर्देश किया है।

जो चतुर्थ भागावशेष अन्तिम पौरुषी में मलमूत्र त्यागने की भूमि की प्रतिलेखना न करे, जो भिक्षु मल मूत्र त्यागने की तीन भूमियों की प्रतिलेखना न करें, जो भिक्षु संकीर्ण भूमि भाग में मल मूत्र का त्याग करे, जो भिक्षु अविधि से मलमूत्र का त्याग करे, जो भिक्षु मलमूत्र त्यागकर शरीर शुद्धि न करे अथवा अवैध रूप से शरीर शुद्धि करे, जो भिक्षु मलमूत्र का त्याग कर आचमन न करे या वहीं आचमन करे अथवा वहुत दूर जाकर आचमन करे, जो भिक्षु मलमूत्र का त्याग कर विहित प्रमाण से आचमन न करे, जो भिक्षु अपारिहारिक को पारिहारिक कहे—इत्यादि प्रति सेवना करने वाला भिक्षु उद्घातित मासिक परिहार स्थान को प्राप्त होता है।

(५) **पंचमोद्देशकः**—जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में वैठकर कायोत्सर्ग करे, शय्या अथवा निषद्या प्रारम्भ करे, आलोचना करे, अशनादि आहार करे, मलमूत्र का त्याग करे, स्वाध्याय करे, उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा करे, वाचना दे या वाचना ले, पठित सूत्र का परावर्तन करे।

जो भिक्षु अपनी संघाटी अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ से सिलाये, अपनी संघाटी के लम्बे सूत्र करे, निम्व पत्र, पटोल पत्र, विल्व पत्र को ठन्डे जल अगर गर्म जल में भिगोभिगोकर खाए, जो भिक्षु प्रातिहारिक पादप्रोंछन मांगकर उसी रात्रि को वापिस देने की वोली से लाये और दूसरे दिन वापिस दे। जो भिक्षु प्रातिहारिक पादप्रोंछन दूसरे दिन देने की वोली करके लाये और उसी रोज लौटाये, जो भिक्षु लाठी, दण्ड, सूई आदि को लाकर दूसरे दिन का कहे, पर रात्रि को लौटाये, अथवा रात्रि का कहकर सुवह लौटाये।

जो भिक्षु शण के कपास से, ऊन के कपास से, पौण्ड्र के कपास से अथवा अमिल के कपास से दीर्घ सूत्र वनावे।

जो भिक्षु सचित्त दारुदण्डक, वेणुदण्डक करे अथवा रखे, जो

भिक्षु लकड़ी के दण्डों, त्रांस के दण्ड को, बेंत के दण्ड को चित्रित करे, रखे, अथवा चित्रित कर रखे अथवा उपभोग करें।

जो भिक्षु नवीन निवेश अगर गांव में जाकर अशन पानादि ग्रहण करे, जो भिक्षु नवीन घर में, लोहे की खान में, ताम्बे की खान में, जस्ते की खान में, सीसे की खान में, सोने की खान में, रत्नों की खान में, हीरों की खान में जाकर अशन पानादि ग्रहण करे।

जो भिक्षु मुख, दांत, ओष्ठ, नासिका, कोंख, हाथ, नख, पत्र, पुष्प, फल, बीज और हरित की वीणा करे।

जो भिक्षु मुख वीणा, दंत वीणा, ओष्ठ वीणा, नासिका वीणा, कोंख वीणा, हाथ वीणा, नख वीणा, पत्र वीणा, पुष्प वीणा, फूल वीणा, बीज वीणा, हरियाली वीणा को बजाये।

जो भिक्षु औद्देशिक शय्या में, प्राभृतक शय्या में अथवा सपरिकर्म्म शय्या में प्रवेश करे।

जो भिक्षु संभोगनिमित्तक क्रिया नहीं माने, जो भिक्षु तुम्ब पात्र, लकड़ी पात्र, मिट्टी का पात्र जो मजबूत है और रखने योग्य है उसको फोड फोडकर फेंक दे।

जो भिक्षु वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंच्छनक, मजबूत धारण करने योग्य होते हुए भी फाड फाडकर फेंक दे, जो भिक्षु दण्ड, लाठी, अवलेखनिका, बांस की सूई कार्यकर होतेहुए भी तोड तोडकर फेंक दे, जो भिक्षु रजोहरण को बार बार दबाये अथवा ऊपर बैठे। जो भिक्षु रजोहरण को सिर के नीचे स्थापन करे, जो भिक्षु रजोहरण को सोते समय पेरों के मूल में रखे अथवा वामदिशा में रखे या उसे सुलादे।

इस प्रकार की प्रतिसेवना करने वाले को मासिक परिहार स्थान की प्राप्ति होती है।

(६) **षष्ठोद्दशकः**—जो भिक्षु मैथुन की भावना से स्त्री जाति को विनति करे, हस्त कर्म करे, इत्यादि १ से ७७ तक के सब सूत्रों

में स्त्री जाति को वश में करने की प्रवृत्तियों का वर्णन किया है और ऐसा करने वाले भिक्षु को अनुद्घातित चातुर्मासिक परिहार स्थान की आपत्ति बताई है।

(७) **सप्तमोद्देशकः**—सप्तम उद्देशक में भी स्त्री जाति को अनुकूल करने के लिए तरह तरह की वनस्पति, शंख आदि की मालाएँ बनाने और धारण के अपराधों के प्रायश्चित्त, लोह, ताम्र, जस्ता, शीशा के आभूषण बनाये रखने के प्रायश्चित्त लिखे हैं, रूपा, सोना आदि के आभूषण बनाने और धारण करने, हार, अर्द्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली कड़े त्रुटितक केयूर, कुण्डल, पट्ट, मुकुट, प्रलम्बसूत्र अथवा सुवर्णसूत्र बनाने, रखने और पहनने के अपराधों के प्रायश्चित्तों का वर्णन है, बढ़िया चमड़े, ऊनके बने हुए कम्बल, दुशाले, काले, नीले, श्यामादि अनेक प्रकार के चर्म के वस्त्र, ऊँट, व्याघ्र आदि के बालों से बने हुए वस्त्र, क्षौम, दुकूल, चीनांशुक, सुवर्ण के तारसे बने हुए बढ़िया वस्त्र तथा आभूषणों को रक्खे या बापरे, स्त्रीजाति को, आकृष्ट करने के लिए उनके शारीरिक अंगों का स्पर्श करें, शीश दुवारिया करे, स्त्री को आकर्षण करने के लिए अन्यान्य अनेक प्रकार की प्रवृत्तियां करे, अपने पास की कोई भी वस्तु उसको दे, किसी भी प्रकार का इंगिताकार बतावे, उस भिक्षु को चातुर्मासिक अनुद्घातित परिहार स्थान प्राप्त होता है।

(८) **अष्टमोद्देशकः**–जो भिक्षु मुसाफिरखानों में, आरामगृहों, उद्यानों में, उद्यानगृहों में, निर्याण गृहों में, अट्टालिकाओं में, आकरों में, द्वारों में, जल स्थानों में, जल मार्गो में, शून्य घरों में, कूटागारों में, कोष्ठागारों में, पाठशालाओं में, गौशालाओं में, महाकुल में, अकेला स्त्री के साथ भ्रमण करें, स्वाध्याय करें, अशनपानादि आहार करे, मलमूत्र त्यागे, अथवा अन्य कोई भी अनार्य निष्ठुर साधु के योग्य न हो ऐसी कथा कहे, रात्रि में अथवा विकाल समय में स्त्रियों के बीच बैठकर स्त्री से संसक्त होकर, स्त्री से परिवृत

होकर अपरिमित कथा कहे, अपने गण की अगर परगण की निर्ग्रन्थी के साथ ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ, आगे चलता हुआ, पीछे रहता हुआ, जिसका मन संकल्पों से पराभूत हुआ है ऐसा—चिन्ता शोक के समुद्र में प्रविष्ट होकर हाथ के ऊपर मुख रखा हुआ, आर्तध्यान वश होता हुआ विचरता है, अथवा कथा कहता है, अपनी जाति का हो अथवा अन्य हो, श्रावक हो, अथवा अन्य, उसे उपाश्रय के अन्दर आधी रात तक अथवा सारी रात तक रखे, उसको जाने के लिए न कहे, उसके लिए स्वयं बाहर जाए भीतर आए।

जो भिक्षु मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रियों के धार्मिक उत्सवों में, अथवा औध्र्वदैहिक उत्सवों में, उत्तारशाला में, अथवा उत्तरघर में जाने वाले घोड़े, हाथियों के स्थानों में, मन्त्राणा स्थानों में, गुप्त स्थानों में, क्रीड़ास्थानों में जाकर अशनपानादि ग्रहण करे, एकत्रित किया हुआ दूध, दही, मक्खन, घी, गुड़, खांड, मिश्री अथवा अन्य किसी भी प्रकार का भोजन ग्रहण करे, उज्झितपिंड, संसृष्टपिण्ड, कृपणपिंड, अनाथपिंड और याचकपिण्ड को ग्रहण करे, वह भिक्षु अनुद्घातित चातुर्मासिक परिहार स्थान को प्राप्त होता है।

(९) **नवम उद्देशक:**—जो भिक्षु राजपिंड ग्रहण करे अथवा उसका भोजन करे, राजा के जनाने में प्रवेश करे और राजा के अन्त:पुर में रहने वाले पुरुष को कहे—हे आयुष्मन्! हमको राजा के महलों में आने का अधिकार नहीं है, तुम यह पात्र लेकर जाओ और अन्त:पुर से जो अशन, पान, खादिम, स्वादिम मिले वह लाकर हमको दे दो, ऐसा कहे, अथवा राजान्त:पुरीय पुरुष को लाकर देने का कहे और वह उसका स्वीकार करे।

मूर्द्धाभिषिक्त राजा के द्वारपालों का भोजन, पशुभक्त, मृतक भक्त, बालभक्त, कृतकभक्त, रयभक्त, कान्तरभक्त, दुर्भिक्ष भक्त, द्रमकभक्त, ग्लानभक्त, वद्दलियाभक्त, अतिथिभक्त आदि भक्त ग्रहण करे।

जो भिक्षु मूर्द्धाभिषिक्त राजा के छः दोषायतनों को विना पूछे,

जाने कोष्ठागार, भाण्डागार, पाठशाला, क्षीरशाला, गंजशाला, महानसशाला में जाए।

जो भिक्षु जाती आती सर्वालंकार विभूषित स्त्रियों के दृष्टि-गोचर होने पर मन में चिंतन करे।

जो भिक्षु मांसखादक, मत्स्यखादक, छविखादक वाहर निकले हों, उनसे अशन, पान, खादिम, स्वादिम ग्रहण करे।

जो भिक्षु किसी प्रकार का पौष्टिक भोजन देखकर उस सभा के वगैर उठे, विखरे, उस अन्न को ग्रहण करे अथवा आज यहां राजा साहव का मुकाम है यह समझकर उस प्रदेश में होकर निकले अथवा कथा कहे।

यात्रार्थ जाते हुए, अथवा यात्रा से निवृत्त होते हुए, जैसे—पर्वत यात्रा, नदीयात्रा, आदि में प्रस्थित अथवा निवृत्त हुए हों उनसे अशन, खादिम, स्वादिम ग्रहण करे।

जो भिक्षु इन दस अभिषेक्य राजधानियों में, जो प्रसिद्ध हैं, गणनीय हैं, वर्णनीय हैं, उनमें एक मास में दो बार या तीन बार निष्क्रमण प्रवेश करे अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करे, वे राजधानियां ये हैं—चम्पा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, कांपिल्य, कौशाम्बी, मिथिला, हस्तिनापुर और राजगृह।

जो भिक्षु मूर्द्धाभिषिक्त राजा का अशन, पान, खादिम, स्वादिम, दूसरे के लिए लाया हुआ ग्रहण करे जैसे:—क्षत्रियों, राजाओं, कुराजाओं, राजसंसक्तों, राजप्रेषकों, नटों, नृत्यकारों, मागधों, मल्लों, कथकों, भाण्डों, अश्वपालकों, हस्तिपोषकों, महिष पोषकों, वृषभपोषकों, सिंहपोषकों, व्याघ्रपोषकों, मृगपोषकों, सूकरपोषकों, शुनकपोषकों, मेंढापोषकों, हंसपोषकों, तित्तिर पोषकों, चिल्लपोषकों, मयूरपोषकों और तोतापोषकों के लिए।

जो भिक्षु मूर्द्धाभिषिक्त राजा के यहां से हस्तिशिक्षक, अश्व-शिक्षक, अश्वपाल, हस्तिपाल, अश्वारोही, गजारोही, इनके यहां गया हुआ अशन, पानादि ग्रहण करे।

जो भिक्षु सार्थवाहक, संवाहक, शरीरमर्दक, शरीरविलेपनकार, स्नान कराने वाला, आभूषण धारण कराने वाला, छत्रधारी, चमर धारी, दीपक धारक, आभूषणमंजूषा धारी तलवारधारी, धनुष धारी, शक्ति धारी, माला धारी आदि राज सेवकों के यहां से अशन पानादि ग्रहण करे।

जो भिक्षु, राजा के अन्तःपुर में काम करने वाले कंचुकी, द्वारपाल, वर्षधर आदि से अशन, पानादि ग्रहण करे।

जो भिक्षु राजा के यहां से गये हुए अशन, पानादि को राज-स्त्रियों से जैसे—कुब्जा, चिलाती, वामनी, वडभी, बब्बरी, पारसी यवनी, पह्लवी, ईसनी, थारुकी, लासी, सिंहली, आलवी, पुलिन्दी, शबरी आदि से ग्रहण करे, उस भिक्षु को उपर्युक्त प्रतिसेवना करने से अनुद्घातित चातुर्मासिक परिहार स्थान प्राप्त होता है।

(१०) **दशमोद्देशक**—जो भिक्षु पूज्य को कठोर परुष अथवा दोनों भाषा बोले अथवा दो में से एक से उनका अपमान करे, अनन्त काय संयुक्त आहार करे, आधाकर्मिक आहार करे, वर्त्तमान अथवा अनागत कालीन निमित्त कहे, शिष्य को बहकावे, अथवा उसका अपहरण करे, दिशा सम्बन्धी विपरिणाम करे, अथवा दिशा का अपहरण करे, वाहर ठहराये हुये महमान को तीन रात तक आलोचना बिना शामिल रक्खे, क्लेश कारक को क्लेश का त्याग किये बिना और प्रायश्चित्त किये विना तीन रात के उपरान्त आलोचना कराकर अथवा न कराकर शामिल भोजन करे। उद्घातित को अनुद्घातित कहे और अनुद्घातित को उद्घातित कहे, उद्घातित के स्थान अनुद्घातित दे और अनुद्घातित के स्थान उद्घातित।

जो भिक्षु उद्घातित हेतु, उद्घातित संकल्प, अनुघोषित संकल्प वा हेतु को सुनकर भी सह भोजन करे। जो अनुद्गत में उद्गत और अनस्त में अस्तमित का संकल्प करे और संशय समापन्न अवस्था में अशन, खान, पान, स्वादिम ग्रहण करे, भोजन करे, जब वह जाने कि सूर्य उगा नहीं, अथवा सूर्य अस्त हो गया है उस समय

यदि उसके मुंह में, हाथ में और पात्र में हो उसकी पारिठावणिया करे तो वह अतिक्रमण नहीं करता, यदि वह उसको खा जाय तो वह अतिक्रमण करता है। रात्री में अगर विकाल वेला में पानी के साथ अगर भोजन के साथ उद्गार मुंह में आए और उसको वापिस गिल जाय तो वह अतिक्रमण करता है, जो भिक्षु वीमार को सुनकर उसकी गवेषणा न करे अथवा उन्मार्ग से अथवा दूसरे मार्ग से गवेषणा के लिए जाय, रोगी के वैयावृत्त्य में तत्पर हुआ भिक्षु अपने लाभ से पहुंच न सके उसकी चिन्ता न करे, रोगी के वैयावृत्त्य के लिए प्रवृत्त भिक्षु ग्लान योग्य द्रव्य न मिलने पर उसकी खवर न दे, प्रावृष ऋतु में गांव गांव फिरे, वर्षावास निश्चित करके विहार करे, पर्युषणा के अयोग्य दिन में पर्युषणा करे, पर्युषणा के योग्य दिन में पर्युषणा न करे। पर्युषणा में गोलोम प्रमाण भी वाल रहने दे, पर्युषणा में इत्वरकालिक भी आहार करे, अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ को पर्युषणा कराये, प्रथम सवसरण के भीतर आये हुए वस्त्रों को ग्रहण करे, इस प्रकार की प्रतिसेवना करने वाला भिक्षु अनुद्घातित-चातुर्मासिक परिहार स्थान को प्राप्त होता है।

(११) **एकादशोद्देशकः**—जो भिक्षु लोह, ताम्र, जस्ता, कांसा, रूपा, सोना, सफेदसोना, मणि, दांत, सिंग, चर्म, वस्त्र, शंख, हीरा के पात्र करे, रक्खे और उनका उपयोग करे, लोहे के वन्धन करे, रक्खे और उनका उपयोग करे।

जो भिक्षु अर्द्ध योजन की मर्यादा के वाहर पात्र के लिए जाये, अर्द्धयोजन से अधिक दूर से सप्रत्यवाय स्थान में लाकर दिया हुआ पात्र ग्रहण करे, धर्म का अवर्णवाद वोले, अधर्म की प्रशंसा करे। अन्य तीर्थिक अथवा गृहस्थ के पग साफ करे अथवा प्रमार्जन करे, इस उद्देशक में सू० ११ से ६३ पर्यन्त का विधान तृतीयोद्देशक कथित सू० १८-६९ पर्यन्त के विधान के समान है, फरक मात्र इतना ही है कि तृतीय उद्देशक में भिक्षु स्वयं अपने लिए करता है, तव यहां अन्य तीर्थिक और गृहस्थों की सेवा करने पर प्रायश्चित्त विधान है।

जो भिक्षु स्वयं डरता है, दूसरों को डराता है, स्वयं विस्मित होता है, औरों को विस्मय में डालता है, स्वयं विपर्यास में पड़ता है, औरों को विपर्यास में डालता है। जो भिक्षु मुख को वर्णक रंग द्वारा सजाये। जो भिक्षु वैराज्य में और विरुद्ध राज्य में बार बार गमनागमन करे, जो भिक्षु दिन भोजन की निन्दा करे और रात्रि भोजन की प्रशंसा करे, दिन को अशन, पान, खादिम, स्वादिम ग्रहण करे, दिन में भोजन करे, दिन को ग्रहण कर रात्री में भोजन करे, रात्रि में ग्रहण करके दिन में भोजन करे, । रात्रि में ग्रहण कर रात्रि में भोजन करे, पर्युषित, अशन, पान, खादिम, स्वादिम का अणुमात्र अथवा चिपट भर अथवा बिंदु प्रमाण भी अनागाढ कारण में आहार करे।

तरह तरह के भोजन को ले जाते देख शय्यातर के स्थान से अन्यत्र निवास करे, निवेदित पिण्ड का भोजन करे, यथाच्छन्द की प्रशंसा करे, उसकी वन्दना करे, अपनी जाति का हो वा अन्य जाति का, श्रावक हो वा अन्य, असमर्थ को प्रव्रज्या दे, उपस्थापना करावे, इसी प्रकार स्वजातीय, अन्य जातीय, उपासक, अनुपासक, अशक्त से वैयावृत्त्य करावे, सवस्त्र सवस्त्रों के, अवस्त्र सवस्त्रों के, सवस्त्र अवस्त्रों के मध्य में रहे, पर्युषित पीपर पीपर के चूर्ण, सोंठ, सोंठ के चूर्ण, कालानमक, पांसुक्षार का सेवन करे।

पर्वत से गिरना, भृगुपात करना, वृक्ष से गिरना, जल प्रवेश करना, अग्नि में प्रवेश करना, शस्त्र से मरना, गृद्धों से अपने को नोंचवाकर तडपते मरना अथवा अन्य किसी प्रकार के मृत्यु की प्रशंसा करना, वाल मरण को ठीक समझे, वह अनुद्घातित चातुर्मासिक परिहार स्थान को प्राप्त होता है।

(१२) **द्वादशोद्देशक**—जो भिक्षु करुणा के भाव से किसी सजीव प्राणी को बांस के पाश, सूत्र के पाश, मुञ्ज के पाश आदि से बंधे हुए को छोडे, अथवा बांधे।

बार बार प्रत्याख्यान का भंग करे, प्रत्येक वनस्पति काय से संयुक्त आहार करे, सलोम चर्म को रखे, तृण-पुञ्ज, पलाल पुञ्ज,

गोवर पुन्ज, काष्ठ पुन्ज जो ओरों के वस्त्र से ढंके हुए हैं उन पीठासनों पर वैठे, निर्ग्रन्थी की संघाटी को अन्य गृहस्थ से अथवा अन्य तीर्थिक से सिलाये, पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय अथवा वनस्पति काय का अल्पमात्रा में भी अथवा मटर प्रमाण में भी समारम्भ करे, सचित्त वृक्ष पर चढे, गृहस्थ के पात्र में भोजन करे, गृहस्थ का वस्त्र पहिने, गृहस्थ की निषद्या वहन करे, गृहस्थ की चिकित्सा करे, पहले जिसमें शीतल जल का परिभोग हुआ है, ऐसे हाथ से, पात्र से, चम्मच से भोजन जात से अशन, पान, खादिम स्वादिम ग्रहण करे।

जो भिक्षु काष्ठ कर्म, चित्रकर्म, पुस्तककर्म, दन्तकर्म, मणिकर्म, शैलकर्म, गूँथना, भरना, उपर्युपरि जोडना, कागज पर वैल-वूटे वनाना आदि स्वयं करे अथवा अन्य कृत को आनन्द पूर्वक निहारा करे, तन्मयता जाहिर करे।

जो भिक्षु वप्र, खाई, पल्वल, निर्झर, वापिका, सरपंक्ति, सरोवर, पर्वत, नहर, पुष्करिणी आदि को तन्मयता से देखे। वन के झुन्ड, पर्वत की रम्यता, गहन वन की शोभा आदि को यदि प्रसन्नता अथवा वहार के लिए देखे। ग्राम, नगर, खेडा, कर्पट, मडंव, पाटन द्रोणमुख खनिज की खानें, मण्डी अथवा रम्य हर्म्यको प्रसन्नता से देखे।

जो भिक्षु ग्रामोत्सव, सन्निवेशोत्सव, खेडोत्सव तथा ग्रामवध नगरवध और ग्राममार्ग, नगरमार्ग आदि को देखे अथवा प्रशंसा करे, वा लीन हो जाय।

जो भिक्षु अश्वकरण, उष्ट्रकरण, हस्तिकरण, वृषभकरण, भैंसा-करण, सूकरकरण, अश्व-युद्ध, हस्ति-युद्ध, उष्ट्र-युद्ध, वैल-युद्ध, भैंसा-युद्ध, अश्वयुद्धस्थान, हस्तिस्थान, अश्वस्थान, उष्ट्रस्थान, अभिषेक स्थान, आख्यायिकास्थान, मानोन्मानिकास्थान और जोरों के साथ वजते हुए तूर्य, गीत, तंत्री, तलताल, तुडियादि स्थान, उत्पातों के, उपद्रवों के, महायुद्धों के, वैरों के, महासंग्रामों के, कलहों के और कोलाहलों के स्थानादि, इसी प्रकार तरह तरह के

महोत्सवों में स्त्री, पुरुष, वृद्ध, बच्चों को अलंकृत, अनलंकृत, सजे, उछलते, कूदते, गाते, बजाते, हंसते, इठलाते, प्रसन्नता से झूमते हुए को देखकर तन्मय हो जाय, इहलौकिक रूपों में, अगर पारलौकिक रूपों में, श्रुत रूपों में, अश्रुत रूपों में, दृष्ट रूपों में, अदृष्ट रूपों में, विज्ञात रूपों में, अविज्ञात रूपों में लयलीन हो जाय अथवा आसक्त हो जाय।

जो भिक्षु प्रथम पौरुषी में अशन, पान, खादिम, स्वादिमादि ग्रहण कर पश्चिम पौरुषी तक रखे, आधे योजन की मर्यादा के ऊपर अशन पानादि को ले जाय, दिन को गोबर लेकर दिन में व्रण पर विलेपन करे, दिन में ग्रहण कर रात्रि में विलेपन करे, रात्रि में ग्रहण कर दिन में विलेपन करे, रात्रि में ग्रहण कर रात्रि में ही विलेपन करे।

जो भिक्षु दिन में आलेपन जात को व्रण पर लगावे और दिन में लेकर रात्रि में व्रण पर लगावे, अन्यतीर्थिक से अथवा गृहस्थ से उपधि वहन करावे, उसको अपनी निश्रा में अशन, पान, खादिमादि दिलावे।

जो भिक्षु एक महीने में दो अगर तीन बार इन पांच महानदियों को-जो बड़ी विस्तृत हैं, प्रसिद्ध हैं, जिनकी महानदियों में गणना और वर्णना है, जिनके नाम—गंगा, यमुना, सरयू, एरावती और मही हैं, उतरे, उपर्युक्त प्रतिसेवना करने वाला भिक्षु उद्घातित चातुर्मासिक परिहार स्थान को प्राप्त होता है।

(१३) **त्रयोदशोद्देशक**—जो भिक्षु अन्तर रहित पृथ्वी पर, स्निग्ध पृथ्वी पर, मिट्टी रूपी पृथ्वी पर, रजस्वला पृथ्वी पर, सचित्त पृथ्वी पर, सचित्त शिला पर, सचित्त मिट्टी के ढेले पर, भीतर घुण वाले काष्ठ पर, सजीव पदार्थ पर जिसमें अण्डे हैं, बीज हैं, त्रस हैं, ओस है, सूक्ष्म विवर हैं, मकडी के जाले हैं ऐसे स्थान पर शय्या करे, निवास करे।

स्तम्भ पट्टी पर, घर द्वार के उदुम्बर पर, ओखली पर, स्नान पीठ पर, अस्थि पर, निराधार पर, प्रकम्पित पर कायोत्सर्ग, शय्या, निषद्यादि चेताये, चेताते हुए का अनुमोदन करे।

जो भिक्षु कुलिक पर, शिला पर, ढेले पर जो निराधार हो, प्रकम्पित हो, दुर्वद्ध हो, दुर्निक्षिप्त हो, चलाचल हो कायोत्सर्ग अथवा निषद्या चेतायें चेताते हुए का अनुमोदन करे।

जो भिक्षु पीठ, अर्गला, मंच, मण्डप, मंजिल, प्रासाद अथवा हर्म्यतल में जो दुर्वद्ध है, दुर्निक्षिप्त है, चलाचल है, कायोत्सर्ग, निषद्या चेताता है, चेताते हुए का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु अन्य तीर्थिक अथवा गृहस्थ को शिल्प, श्लोक, अष्टापद (जुगार खेलना) कर्कटक (तर्क शास्त्र) को सिखाए।

जो भिक्षु अन्य तीर्थिक, गृहस्थ को आगाढ वचन वोले, परुष वचन वोले अथवा अन्य किसी भी प्रकार की आशातना करे।

जो भिक्षु अन्य तीर्थिक अथवा गृहस्थों के कौतुक कर्म करे, भूतिकर्म करे, प्रश्न करे, प्रश्नाप्रश्न करे, अतीत निमित्त कहे, अन्य तीर्थिक गृहस्थ को लक्षण व्यंजन कहे, स्वप्न कहे, विद्या का प्रयोग करे, मन्त्र का प्रयोग करे, योग का प्रयोग करे, करते हुए का अनुमोदन करे, जो भिक्षु भूले हुए, दिग्मूढ हुए, विपरीत मार्ग में गए हुए अन्य तीर्थिक को, गृहस्थ को, सन्धि वतावे, राह बतावे, धातु प्रयोग सिखावे, निधि का प्रवेदन करे, जो भिक्षु जल भृतपात्र में अपना प्रतिविम्व देखे, दर्पण में अपना शरीर देखे, जल भरे हुए कुण्डों में अपना मुंह देखे, घृत में मुंह देखे, फाणित में अपना मुंह देखे, देखते हुए का अनुमोदन करे।

जो भिक्षु वमन करे, विरेचन करे और वमन विरेचन दोनों करे। जो भिक्षु आरोग्यार्थ प्रतिकर्म करे, जो भिक्षु पार्श्वस्थ की प्रशंसा करे, कुशील की वन्दना प्रशंसा करे, अवसन्न की प्रशंसा वन्दना करे, नित्यक की प्रशंसा वन्दना करे, काथिक की वन्दना प्रशंसा करे, प्राश्निक की वन्दना प्रशंसा करे, मामक की वन्दना प्रशंसा करे, सम्प्रसारिक की प्रशंसा वन्दना करे। जो भिक्षु धात्री पिण्ड का सेवन करे, दूतीपिण्ड का सेवन करे, निमित्त पिण्ड का सेवन करे, आजीवक पिण्ड भोगवे, वनीपक पिण्ड भोगवे, चिकित्सा पिण्ड भोगवे, क्रोध पिण्ड, माया पिण्ड, मान पिण्ड, लोभ पिण्ड, विद्या

पिण्ड, अंजनपिण्ड, योगपिण्ड, चूर्णपिण्ड, अन्तर्धानपिण्ड भोगवे अथवा अनुमोदन करे, वह भिक्षु उद्घातित चातुर्मासिक परिहार स्थान को प्राप्त होता है।

(१४) **चतुर्दशोद्देशक**—जो भिक्षु पात्र को खरीदे, खरीदावे, जो पात्र को प्रामित्यक ले, अथवा पात्र की अदला बदली करे, करावे, दूसरे से अथवा मालिक से छीनकर उसकी आज्ञा के विना सामने लाकर दिये जाने वाले पात्र को ग्रहण करे, जो भिक्षु आवश्यकता से अधिक पात्र को ग्रहण करे, जो भिक्षु गणि के उद्देश-समुद्दश से लेकर उसे गणि को वगैर पूछे, बगैर बताये अन्य को दे दे, क्षुल्लक अथवा क्षुल्लिका, स्थविर अथवा स्थविरा जो हाथों से अखण्ड, पैरों से अखण्ड, नाक से अखण्ड, ओष्ठों से अखण्ड हैं उन्हें दे, क्षुल्लक अथवा क्षुल्लिका, स्थविर अथवा स्थाविरा जिनके हस्त पादादि अखण्डित नहीं हैं और शक्ति नहीं है उनको न दे।

जो भिक्षु, कमजोर, न टिकने वाला, जल्दी नाश पाने वाला पात्र रखे और मजबूत, स्थिर, टिकाऊ, रखने योग्य पात्र को न रखे, जो भिक्षु लाक्षणिक वर्णवाले पात्र को विवर्ण बनावे, विवर्ण को लाक्षणिक वर्ण वाला बनावे।

जो भिक्षु "मुझे नवीन पात्र नहीं मिला" यह समझकर घी से, तैल से, मक्खन से, चर्वी से उनका म्रक्षण करे "मुझे नवीन पात्र नहीं मिला" यह जानकर लोध से, कल्क से, चूर्ण से और वर्णक से उसे उबटे, "मुझे नया पात्र नहीं मिला" यह सोचकर उसको ठण्डे जल से अथवा गर्म जल से धोए, पुराना पात्र मिला इसलिए पुराने तेल से अथवा जल से उसे घिसे अथवा धोए, दुरभिगन्ध-पात्र मिला यह सोचकर तैल, शीतजल से धोए। जो भिक्षु अनन्तर पृथ्वी पर और चलाचल स्थान में पात्र को सुखाये, धूप में रक्खे, जो भिक्षु पात्र से पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, कन्द, मूल, पत्र, पुष्प, फल, औषधि, बीज, त्रस जाति के जीवों को हटाये, अथवा किसी के देने पर पात्र में ले, पात्र को कोरे, कोरावे और एकदम दिया जाता ग्रहण करे, जो भिक्षु स्वज्ञातीय, अन्य ज्ञातीय, उपासक वा अनुपासक

को ग्रामान्तर में से, मार्ग में से, सभा में से, उठाकर दीनता से पात्र की याचना करे, जो भिक्षु पात्र की निश्रा से ऋतुवद्ध अथवा वर्षावास वहां ठहरे, इस प्रकार की प्रतिसेवना करने वाले भिक्षु को उद्घातित चातुर्मासिक परिहारस्थान प्राप्त होता है।

(१५) **पंचदशोद्देशक**:—जो भिक्षु भिक्षुओं को आगाढ़, कठोर, या दोनों प्रकार के वचन बोले और उनकी अत्याशातना करे। जो भिक्षु सचित्त आम खाये, सचित्त आम को काटे, सचित्त आम की पेशी आदि को काटे, छेदे, खाये, जो भिक्षु सचित्त पदार्थ पर रहे हुए आम को खाये या काटे। जो भिक्षु आम, आम की पेशी, आम के टुकडे, आम की छाल, आम की डगली, आम के रेशे, आम की गुठली-इन को काटे या काटने वाले का अनुमोदन करे।

जो भिक्षु अन्य तीर्थिक अथवा गृहस्थ से अपने पैर साफ करावे, पोंछावे, परिमर्दन करावे, घी, तैल, चर्वी, मक्खन से मालिश करावे, लोध, कल्क से उद्वर्तन करावे, शीत, उष्ण, जल से पैरों को धुलावे, घिसाकर रंगावे। इसी तरह शरीर को स्नान परिमर्दन करावे, घी, तैल की मालिश करावे। लोध कल्क से शरीर को उद्वर्तित कराये। शीतोष्ण जल से शरीर को नहलाये इत्यादि। जो भिक्षु अपने शरीरगत व्रण को साफ करावे, परिमर्दन करावे, घी, तैलादि से मालिश करावे, लोध कल्क से उद्वर्तित करावे, शीतोष्ण पानी से धुलावे, फिर साफ कर रंगाये, जो भिक्षु अपने शरीरगत फोडे, फुन्सी, भगन्दर आदि को साफ करावे, तीक्ष्ण शस्त्र से छेदाये, पीप खून को निकलवाये और शीतोष्ण जल से धुलावे, फिर उस पर विलेपन करावे और घी, तैल, वसादि से म्रक्षण करावे, धूपौषधि से धूपित करावे, जो भिक्षु अपने शरीरगत व्रण को साफ करावे, परिमर्दन करावे, घी, तैलादि से मालिश करावे, लोध, कल्क से उद्वर्तित करावे, शीतोष्ण पानी से धुलाये, फिर साफ कर रंगाये। जो भिक्षु अपने शरीरगत फोडे, फुन्सी भगन्दर आदि को साफ करावे, तीक्ष्ण शस्त्र से छेदाये, पींप खून को निकलवाये और शीतोष्ण जल से धुलावे, फिर उस पर विलेपन करावे, धूपौषधि से

धूपित करावे । जो भिक्षु अपने अपान, कुक्षि से कृमि निकलवाये । अपने लम्बे नखों को कटवावे, लम्बे कक्षारोमों को, जंघा रोमों को, मूंछ के रोमों को, वस्तिरोमों को कटवाये, चक्षु रोमों को कटवाये, दांत घिसवावे, साफ करवावे, पोंछाये, रंगावे, अपने ओष्ठों को कल्क से उद्वर्तित करावे, शीतोष्ण जल से धुलवावे, पोछाये, रंगवाये, बढे हुए ऊपर के ओष्ठों को कटाये, अपनी आंखों को साफ कराये, प्रमार्जित कराये, तैल, घृत, मक्खन, वसा से मालिश करवावे, लोध अथवा कल्क से रंजित करावे, शीतोष्ण जल से सिचावे, लम्बे भुवों को कटवावे, पार्श्व भागों के रोमों को कटवावे, नख कान के मैल को निकलवावे, अपने शरीर से पसीना, सूखा मैल, घुला हुआ मैल निकलवावे, ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ, अपने सिर पर शीर्ष द्वारिका करवावे, करते हुए का अनुमोदन करे ।

जो भिक्षु मुसाफिरखानों में, आरामगृहों में, गृहस्थों के घरों में, रात्रि के ठहरने के स्थानों में मल-मूत्र का त्याग करे, उद्यान गृहों में, निर्याणघरों में, निर्याणशालाओं में, अट्टालिका में, किला में, प्राकार में, मुख्यद्वार में, द्वार में, मल-मूत्र का त्याग करे, पानी में, पानी के मार्ग में, जलाशय के बडे मार्ग में, जलाशय के किनारे पर मलमूत्र का परित्याग करे, शून्यघर में, शून्यशाला में, भग्नघर में, भग्नशाला में, कूटागार में, कोठार में, घास की झौंपडी में, तृणशाला में, भूसा के घर में, भूसा की शाला में मलमूत्र का परित्याग करे, यानशाला याने घरयुग्मशाला में, युग्मघर में मलमूत्र का परित्याग करे, किराने की शाला, किराने की दूकान में कुप्यशाला, कुप्यघर में, गौ घर, गौशाला में, महाघर, महाशाला में मलमूत्र का परित्याग करे, पार्श्वस्थादि को अशन, पान, खादिम, स्वादिम दे अथवा गृहस्थों को अशनादि दे, इन पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त नित्यकादि, शिथिल साधुओं के साथ अशन, पान का व्यवहार करे दे अथवा ले ।

जो भिक्षु शोभा के निमित्त अपने पैरों का प्रमार्जन कराए, संबाधन कराये, तैल, घी, मक्खन से मालिश कराये, लोध या कल्क

से उद्‌वर्तन कराये, शीत या उष्ण जल से धुलाये, पोंछाये, रंगाये। इसी प्रकार शरीर का प्रमार्जन कराये, तैल, घृत, मक्खनादि से मालिश कराये, लोध, कल्क से उद्‌वर्तन कराये, ठण्डे-उष्ण जल से धुलवाये, पोंछाये वा रंगवाये, शरीरगत व्रण का प्रमार्जन कराये, संवाधन और तेल, घृत, नवनीत, वसा से मालिश कराये, लोध, कल्क से उद्‌वर्तन करे, शीतोष्ण जल से शरीर गत व्रण को धोए, साफ करे, पोंछे और रंगे। शरीर गत पिटक, फोड़ा, भगन्दर आदि को तीक्ष्ण शस्त्र से छेदे, इसमें से पीप, रक्त निकाले, शीतोदक, उष्णोदक से धोए, आलेपन करे, तेल, घृत, वसा, मक्खन से मालिश करे, बाद में किसी धूप से धूपित करे, अपान-कृमि, कुक्षि-कृमि अंगुली से निकाले, दीर्घ नखों को काटे, व्यवस्थित करे, नैत्र रोमों को काटे, व्यवस्थित करे, दांतों को घिसे धोए, पोंछे, रंगे, ओष्ठों को प्रमार्जित करे, ओष्ठों की नवनीतादि से मालिश करे, ओष्ठों का लोध, कल्क से उद्‌वर्तन करे, शीत, उष्ण जल से धोए, पोंछे और रंगे, लंबे उत्तरोष्ठ को काटे, दीर्घ नेत्र पलकों को काटे, अपनी आंखों का प्रमार्जन करे, आँखों की नवनीत, तैल, घृतादि से मालिश करे। लोध अथवा कल्क से उद्‌वर्तन करे, शीत, उष्ण जल से धोए, पोंछे और रंगे, अपने भोओं के लंबे बाल काटे, संवारे, पार्श्वरोमों को काटे, संवारे, नेत्रमल, कर्णमल, दन्तमल को निकाले शरीर से स्वेद, सूखा, गीला मैल निकाले, ग्रामानुग्राम विचरता हुआ अपने शिर पर शीर्ष द्वारिका करे। वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोञ्छन, अथवा अन्य किसी भी उपकरण को आवश्यकता से अधिक रखे, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोञ्छन अथवा अन्य कोई भी उपकरणजात शोभा के लिए ढोए, इस प्रकार की प्रतिसेवना करने वाला भिक्षु उद्‌घातित चातुर्मासिक परिहारस्थान को प्राप्त होता है।

(१६) **षोडशोद्देशक** :—जो भिक्षु गृहस्थनिवासवाले स्थान में प्रवेश करे, पानी भरे हुए मकान में प्रवेश करे, अग्नि वाले मकान में प्रवेश करे।

जो भिक्षु सचित्त ईख को खाए, सचित्त ईख को काटे, सचित्त

पदार्थ पर रहे हुए ईख को काटे, सचित्त पर्वरहित ईख का टुकड़ा, ईख के रेशे आदि को खाए और उसकी पतली डाली को भी खाए वा काटे, अथवा शस्त्र से काटे।

जो भिक्षु आरण्यकमनुष्यों से—जंगल में रहने वालों से, आरण्यक यात्रा में प्रस्थित मनुष्यों से—अशन, पान, खादिम, स्वादिम ग्रहण करे।

जो भिक्षु धनिक को अधनिक कहे—संविग्न चारित्रवान् को असंविग्न साधु कहे और असंविग्न को संविग्न कहे।

जो भिक्षु क्लेश करके दूर होने वालों से अशन, पान, खादिम स्वादिम ले, अथवा उनको दे। व्युद्ग्रह-व्युत्क्रान्तों को स्थान दे, अथवा उनसे वस्त्र ले अथवा वस्त्र दे। उनकी वसति में प्रवेश कर उनको वाचना दे, अथवा स्वयं पढे सुने। जो भिक्षु अच्छा क्षेत्र विहार के लिए होते हुए भी अनेक दिनों में पूरा हो सके ऐसे मार्ग को अपनाये अर्थात् लम्बी मुसाफिरी करने का विचार करे।

जो भिक्षु निर्वाह योग्य अच्छे देशों के होते हुए भी म्लेच्छ, दस्यु, अनार्य क्षेत्रों में विहार करने की अभिलाषा करे और विहार करे।

जो भिक्षु अशन, पान, खादिम, स्वादिम बिना अन्तर पृथ्वी पर रखे, उक्त चीजों को खुल्ले आकाश में रखे।

जो भिक्षु अन्य तीर्थिकों और गृहस्थों के साथ भोजन करे, उनसे आवेष्टित होकर भोजन करे। जो भिक्षु आचार्य, उपाध्याय के शय्या संस्तारक को पग से ठोकर लगाता हुआ और हाथ से अनुज्ञा न लेता हुआ चला जाय।

जो भिक्षु प्रमाणातिरिक्त और गणनातिरिक्त उपधि रखे।

जो भिक्षु अनन्तरपृथ्वी पर, जीवप्रतिष्ठित स्थान में, अण्डे प्राण, ओस, पानी, कीडीनगरे, जलयुक्त, मिट्टी, मकड़ी के जाले वाले दुर्बद्ध दुर्निक्षिप्त अनिष्प्रकम्प चलाचल स्थान में मलमूत्र का परित्याग करे।

स्निग्धपृथ्वी, धूलयुक्तपृथ्व, सचित्तधूलयुक्तपृथ्वी, मिट्टी वाली पृथ्वी, सचित्तपृथ्वी, जहाँ अनेक जीव, प्राण, अण्डे, ओस, पानी, कीडीनगरे, हरितादि रहे हुए हैं ऐसे दुर्निक्षिप्त, दुर्बद्ध, अनिष्प्रकम्प, चलाचल स्थान में मलमूत्र का परित्याग करे।

उक्त प्रकार की शिला पर, उस प्रकार के मिट्टी के खोट पर, कीडों का घर बनी हुई लकड़ी पर, वली पर, घर के उदुम्बर पर, भींत पर, शिला पर और अन्तरिक्ष जात में मल मूत्र का परित्याग करे।

पीठ, पाटिया, मंच, मंजिल और प्रासाद जो दुर्बद्ध हैं, दुर्निक्षिप्त हैं, चलाचल हैं उन पर बैठकर मलमूत्र का त्याग करे।

इस प्रकार करने वाला भिक्षु उद्घातित चातुर्मासिक परिहार स्थान को प्राप्त होता है।

(१७) **सप्तदशोद्देशक**—जो भिक्षु कौतूहल के खातिर किसी भी प्रकार के प्राणिजात को तृण, मुंज, काण्ठ, चर्म, वेंत, रज्जु अथवा सूत के पाश से बाँधे, बाँधने वाले का अनुमोदन करे, तृण मुंजादि के पाशों से बन्धे हुए प्राणिजात को कौतूहल के निमित्त छोडे, जो भिक्षु कौतूहल के खातिर तृणों की माला, मुंज की माला, पिच्छों की माला, दांत की माला, सिंग की माला, काष्ठ की माला, पत्रों की माला, पुष्पों की माला, बीजों की माला, हरियाली की माला को धारण करे। जो भिक्षु कौतूहल के खातिर लोहे, आयसलोहे, जस्ता-लोहे, शीशकलोहे, रूप्यलोहे, सुवर्णलोहे को बनावे, धारण करे। इन्हीं धातुओं के हार, अर्द्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, कटक, त्रुटितक, केयूर, कुण्डल, पट्ट, मुकुट, प्रलम्बसूत्र, सुवर्णसूत्रादि को रखे।

जो भिक्षु कौतूहल वश हार, अर्द्धहारादि बनाकर पहिने।

जो भिक्षु कौतूहल के खातिर चमड़ों के दुशाले, कम्बल, क्षौम, चीनांशुक, कनकखचितादि चर्म और वस्त्रों का उपयोग करे।

जो श्रमणी पाद, काय, शरीरव्रण की सेवा शुश्रूषा, अन्य

तीर्थिक, गृहस्थ से कराये, शारीरिक गड्, पिटकादि छेदाये, दीर्घ कक्षारोम, दीर्घ वस्तिरोम, दीर्घ चक्षुरोम आदि कटावे, दांत, ओष्ठादि साफ करावे, रंगावे, भोओं के रोम, पलकों के रोम, करावे इत्यादि शीर्ष द्वारिका तक की बातें श्रमणी के लिए लिखी हैं, जो सूत्र १५ से ६७ तक के सूत्रों में कही हुई हैं, निर्ग्रन्थी अन्य तीर्थिक गृहस्थों द्वारा कराये उसका प्रायश्चित्तविधान भी है।

जो निर्ग्रन्थ, निर्ग्रन्थी के पग, अन्य तीर्थिक अथवा गृहस्थ द्वारा प्रमार्जित करावे-यहाँ से लेकर संबाधन, म्रक्षण, उद्वर्तन, धावन, रंजन, कायप्रमार्जन, संबाधन, म्रक्षण, उद्वर्तन, धावन और रंजन, ऐसे ही कायिक व्रण का प्रमार्जन, संबाधन, म्रक्षण, उद्वर्तन, धावन और रंजन। इसी प्रकार गण्डपिटकादि को कटाना और उसमें से पीप, खून निकलवाना, उसे जलादि से धुलाना, लेप करवाना, फिर शीतोष्ण पानी से धोना, धूप से धूपित करना, कृमि निकलवाना, कक्षारोम कटवाना, श्मश्रुरोम कटवाना, वस्तिरोम कटवाना, चक्षुरोम कटवाना, दांत घिसवाना, दांत मंजवाना, रंगाना, ओष्ठ साफ़ करवाना, वैसे अधरोष्ठ रंगाना, म्रक्षण कराना आदि।

दीर्घ अक्षिपत्र और आंख का प्रमार्जन करावे, म्रक्षण करावे, रंजन करावे, भुवों के रोमों को कटावे, आंखों का मल निकलवाए, शरीर के स्वेद मल आदि को साफ करावे, शीर्ष द्वारिका करावे।

जो निर्ग्रन्थ अपने जैसे निर्ग्रन्थ को अवकाश होते हुए भी स्थान न दे, वैसे ही श्रमणी भी अपने बराबर योग्यता वाली श्रमणी को अवकाश होने पर भी स्थान न दे।

जो भिक्षु माला पहिन अशन, पान, खादिम, स्वादिम ग्रहण करे।

जो भिक्षु कोठी में रहा हुआ अशन, पान, खादिम, स्वादिम ग्रहण करे, कोठी को खोलकर दिया जाता ग्रहण करे, करावे।

जो भिक्षु मिट्टी के ढक्कन खोलकर दिया जाने वाला अशन, पानादि ग्रहण करे।

जो भिक्षु जमीन पर रहा हुआ अशन, पान, ग्रहण करे।

अप्काय पर रहा हुआ अशन पान ग्रहण करे, अग्निकाय पर रहा हुआ अशन, पान ग्रहण करे, वनस्पति काय पर रहा हुआ अशन, पान, ग्रहण करे।

जो भिक्षु तुरन्त बनाया हुआ उत्स्वेदिम, संस्वेदिम, चाउलोदक, तिलोदक, तुषोदक, जवोदक, आचाम, सौवीर, खट्टा कंजिक, शुद्ध गर्म जल, जिसमें अम्लता पैदा नहीं हुई हो और अपरिणत हो अनपध्वस्तयोनिक हो ग्रहण करता है।

जो भिक्षु आचार्यपन के लक्षण अपने में कहता है, जो भिक्षु गाये, हंसे, बजाये, नाचे, घोड़े की तरह हिनहिनाये, हाथी की तरह चिंघाड़े, सिंहनाद करे, अथवा करने वाले का समर्थन करे।

जो भिक्षु भेरी, पटह, मुख, मृदंग, नन्दी, झल्लरी, वल्लरी, डमरू, मड्डुय आदि अनेक प्रकार के शब्द कान में पड़ने पर अपना लक्ष्य उस तरफ खींचे।

जो भिक्षु वीणा, वीपंची, तूण, तुंववीणादि के शब्दों को सुनकर अपना चित्त उस तरफ लगाये।

जो भिक्षु कांस्यताल, गोधिका, मकरिका, कच्छपी आदि के शब्द सुनकर अपने ध्यान को उन पर स्थिर करे।

जो भिक्षु शंख, वांस, खरमुखी आदि शुषिरवाद्यों के शब्द सुनकर उस तरफ चित्त लगावे।

जो भिक्षु कोट, खाई, तलैया, निर्झर, पुष्करणी, वापी, सरोवर, सरोवरपंक्ति आदि की बातें सुनकर देखने के लिए जाए।

जो भिक्षु कच्छ, गहनवन, वनविदुर्ग, पर्वत, पर्वतविदुर्ग की बातों को सुनकर मन को उस तरफ लगाये।

जो भिक्षु गांव, नगर, कर्पट, द्रोणमुखों की बातें सुनकर उस तरफ मन खींचे।

जो भिक्षु गांव, नगर, कर्पटादि के उत्सवों की बातें सुनकर उस तरफ हृदय लगाये।

जो भिक्षु गांव, नगर, वाहनादि की बातें सुनकर उनमें मन लगाये ।

जो भिक्षु गांव-मार्गों, नगर-मार्गों, कर्पट-मार्गों की कहानियां सुनकर उनमें लीन हो जाय ।

जो भिक्षु अश्वकरण, हस्तिकरण, उष्ट्रकरण आदि की बातें सुनकर उनको देखने की इच्छा करे ।

जो भिक्षु घोडे, हाथी, ऊँट, बैल, भैंसे आदि के युद्धों को सुनकर उसमें मन लगाये ।

जो भिक्षु हययूथिक, गजयूथिक की बातें सुनकर तत्पर होता है ।

जो भिक्षु अभिषेकस्थान, कथास्थान, मानोन्मानस्थान, नाट्य, गीत, वादित्र के स्थान कानों में सुनकर उस तरफ लक्ष्य करे ।

जो भिक्षु डिंब, विप्लव, युद्ध, महायुद्ध आदि की बातें सुनकर उस तरफ ध्यान देता है ।

जो भिक्षु अनेक प्रकार के उत्सवों में स्त्रियों, पुरुषों, बच्चों को खेलते, नाचते, कूदते, हंसते देखकर अपना हृदय उस तरफ खींचे ।

जो भिक्षु इहलौकिक, पारलौकिक, रूपों में, श्रुत रूपों में, दृष्टाऽदृष्ट रूपों में, ज्ञात अज्ञात रूपों में लयलीन होता है, लुब्ध होता है और ऐसा करने वालों का अनुमोदन करता है वह उद्घातित चातुर्मासिक परिहार स्थान को प्राप्त होता है ।

(१८) **अष्टादशोद्देशकः**—जो भिक्षु प्रयोजन बिना नाव में बैठे, नाव को खरीदे, नाव का प्रामित्यक करण करे, नाव को अदल बदल करे, नाव को छीनकर उस पर चढे, नाव को स्थल से जल में उतारे, जल से नाव को बाहर निकलवाये, नाव में भरे हुए पानी को बाहर फेंके, लंगर डाली हुई नाव को चालू करावे, दूसरे को नाविक बनाकर स्वयं नाव में बैठे, ऊर्ध्वगामिनी वा अधोगामिनी नाव पर बैठे, योजन वेलागामिनी नाव पर अथवा अर्द्ध योजन वेलागामिनी नाव पर बैठे, नाव को खेवे अथवा खेवावे, नाव को रज्जु से खींचावे ।

जो भिक्षु नाव को नौकादण्ड से, खुरपे से, बांस से, वलय से चलाये। नाव के पानी को छोटे अथवा बडे बर्तन से बाहर फेंके, नाव के पानी के छेद को पीपल के पत्ते से, कुश से, बांस की पट्टी से, मिट्टी से रोके।

जो भिक्षु जलगत एक नाव में दूसरी नाव से लाया हुआ अशन, पानादि ग्रहण करे, स्थलगत, कीचडगत आदि में स्थित नाव से अशन-पानादि ग्रहण करे। नाव से जल में उतर कर अशन, पानादि, खादिम, स्वादिम ग्रहण करे।

जो भिक्षु वस्त्र को खरीदे, खरीदावे, खरीदकर दिया जाता ग्रहण करे, वस्त्र का प्रामित्य करे, वस्त्र परिवर्तित कर दिया जाता ग्रहण करे, वस्त्र को मालिक से छीनकर उसकी आज्ञा बिना देने वाले से ग्रहण करे, अधिक वस्त्र गणि के उद्देश-समुद्देश से ग्रहण कर गणि को विना पूछे दूसरे को दे। भिक्षु अधिक वस्त्र, अतिरिक्त वस्त्र, क्षुल्लक, क्षुल्लिका, स्थविर, स्थविरा जो हाथ पगों से अखण्डित हैं, नाक, कान होठों से युक्त और सशक्त हैं, उनको दे।

जो भिक्षु अतिरिक्त वस्त्र सशक्त को दे, जो क्षुल्लक, क्षुल्लिका, स्थविर, स्थाविरा अशक्त हैं उनको न दे।

जो भिक्षु कमजोर, अस्थिर, न टिकने वाला और न रखने योग्य वस्त्र रखे और मजबूत टिकाऊ और रखने योग्य को न रखे।

जो भिक्षु वर्णवाले वस्त्र को विवर्ण करे और विवर्ण को वर्ण वाला बनाए।

जो भिक्षु "मुझे नया वस्त्र नहीं मिला" इस धारणा से तैल, घृत, नवनीत से म्रक्षण करे, चूर्ण और वर्णक से उद्वर्तन करे, शीतोष्ण जलों से धोए, इसी प्रकार "मुझे नया वस्त्र नहीं मिला" इस विचार से तैल, घृत, वसा, से म्रक्षण करे, चूर्ण और वर्णक से उद्वर्तन करे, शीतोष्ण जल से धोए, इसी प्रकार मुझे नया वस्त्र नहीं मिला इस विचार से तैल, घृत, वसादि से म्रक्षण करे। इसी प्रकार मुझे दुर्गन्धयुक्त वस्त्र मिला यह जानकर, तैल, घृत, वसादि से म्रक्षण करे, शीतोष्ण जल से धोए, सुगन्धि वस्त्र मुझे नहीं मिला

इस विचार से तैल, घृत, वसादि से म्रक्षण करे, कल्क, लोध, चूर्ण से उद्वर्तित करे, शीतोष्ण जल से धोए, अनन्तर पृथ्वी पर अथवा दुर्बद्ध, अनिष्प्रकम्प, चलाचल पदार्थ पर वस्त्र को सुखाये, तपाये, स्निग्ध, सरजस्क और मृत्तिकामयी सचित्त पृथ्वी पर, सचित्त शिला पर, सचित्त पृथ्वी के खोट पर, सडी लकड़ी पर, वली पर, कुलिक पर, पीठ पर सुखाये, सुखातेहुए का अनुमोदन करे, वस्त्र से पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, कन्दमूल, वनस्पति, बीज, सप्राण जीवनिकाय को निकलवाये, वस्त्र को कोरे, स्वजन, परजन, उपासक, अनुपासक से ग्रामान्तर में, ग्राममार्गान्तर में, दीनता पूर्वक वस्त्र की याचना, करे। स्वज्ञातीय, अन्यज्ञातीय, उपासक वा अनुपासक को सभा में से उठाकर दीनता पूर्वक वस्त्र की याचना करे।

जो भिक्षु वस्त्र के निमित्त विहार न कर अधिक रहे, वस्त्र के निमित्त वर्षावास रहे, रहते हुए का अनुमोदन करे, इस प्रकार का प्रतिसेवक भिक्षु उद्घातित चातुर्मासिक परिहार स्थान को पाता है।

(१६) **एकोनविंशोद्देशकः—** जो भिक्षु विकट को खरीदे, खरीदावे, अथवा खरीदकर लाये हुए को ग्रहण करे।

जो भिक्षु विकट को प्रामित्यक कराये, प्रामित्यक करके देने वाले से ग्रहण करे, परावर्तित करे, परावर्तित कराये, परावर्तित करके देने वाले से ग्रहण करे। विकट को उसके मालिक से छीन कर उसका न दिया हुआ ग्रहण करे।

जो भिक्षु रोगी के निमित्त तीन से अधिक विकटदत्तियाँ ग्रहण करे।

जो भिक्षु एक ग्राम से दूसरे ग्राम विहार करता हुआ विकट को साथ में ले।

जो भिक्षु विकट गाले, गलवाये, गालकर दिया जाता ग्रहण करे।

जो भिक्षु ४ सन्ध्याओं में स्वाध्याय करे, पूर्व सन्ध्या में, पश्चिम सन्ध्या में, अपराण्ह सन्ध्या में और अर्धरात्रि सन्ध्या में स्वाध्याय करे।

जो भिक्षु कालिकश्रुत की तीन से अधिक पृच्छा पूछे और दृष्टिवाद के सात से अधिक प्रश्न पूछे। जो चार महामहों में स्वाध्याय करे, इन्द्रमह, स्कन्दमह, यक्षमह, भूतमह।

जो भिक्षु चार महामह प्रतिपदाओं में स्वाध्याय करे, सुग्रीष्म प्रतिपदा, आश्विनी प्रतिपदा, आषाढी प्रतिपदा, कार्तिकी प्रतिपदा में।

जो भिक्षु पौरुषी में करने के स्वाध्याय को न करे।

जो भिक्षु चार वार स्वाध्याय न करे।

जो भिक्षु अस्वाध्यायिक में स्वाध्याय करे।

जो भिक्षु नीचे के सूत्रों को न वंचाकर ऊपर के सूत्रों को वंचाये।

जो भिक्षु नव ब्रह्मचर्य को न पढाकर ऊपर के श्रुत की वाचना दे।

जो भिक्षु अपात्र को वाचना दे और पात्र को वाचना न दे।

जो भिक्षु योग्य (प्राप्त) को वाचना न दे और अयोग्य (अप्राप्त) को वाचना दे।

जो भिक्षु अव्यक्त को वाचना दे और व्यक्त को वाचना न दे।

जो भिक्षु अप्राप्त (अधिकार रहित) को पढाये, प्राप्त को न पढाये (प्राप्त अप्राप्त का अर्थ यहां पर्याय-वय समझना चाहिए।

जो भिक्षु दो सदृश पढने वालों में से एक को पढाये, दूसरे को न पढाये।

जो भिक्षु आचार्य, उपाध्याय द्वारा अदत्त ज्ञान को ग्रहण करे।

जो भिक्षु अन्य तीर्थिक, गृहस्थ को वाचना दे अगर ग्रहण करे।

जो भिक्षु पासत्थ, अवसन्न, कुशील, नित्यक, संसक्त इन पांचों को वाचना दे अथवा इनसे वाचना ले। चातुर्मासिक उद्‌घातित परिहारस्थान को प्राप्त होता है।

(२०) **विंशतितमोद्देशकः**—जो भिक्षु मासिक परिहारस्थान की कपटरहित आलोचना करे तो मासिक और कपटसहित आलोचना करे तो द्विमासिक, दो मासिक परिहारस्थान की प्रति-

सेवना करके निष्कपट आलोचना करे तो द्विमासिक, माया सहित करे तो त्रिमासिक, त्रिमासिक परिहार स्थान की निष्कपट आलोचना करे तो त्रिमासिक, सकपट आलोचना करे तो चातुर्मासिक, चातुर्मासिक स्थान की प्रतिसेवना कर निष्कपट आलोचना करे तो चातुर्मासिक, कपट सहित करे तो पंचमासिक। पंचमास परिहार स्थान की निष्कपट आलोचना करे तो पंच मासिक, सकपट आलोचना करे तो छः मासिक, इसके बाद याने छः मास परिहार स्थान की प्रतिसेवना कर निष्कपट अथवा सकपट आलोचना करने पर भी प्रायश्चित्त षाण्मासिक ही प्राप्त करता है।

जो भिक्षु अनेक बार मासिक परिहार स्थान की प्रतिसेवना कर आलोचना करता है, उसको निष्कपट आलोचना में मासिक, सकपट आलोचना में द्विमासिक, इसी प्रकार अनेक बार द्विमासिक, अनेक बार त्रिमासिक, अनेक बार चातुर्मासिक, अनेक बार पंच मासिक परिहार स्थानों की प्रतिसेवना कर आलोचना करता है उसको निष्कपट आलोचना में क्रमशः—द्विमासिक, त्रिमासिक, चातुर्मासिक, पंचमासिक और सकपट आलोचना करने वालों को त्रिमासिक, चातुर्मासिक, पंचमासिक और षाण्मासिक प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। इसके उपरान्त षाण्मासिक परिहार स्थान की प्रतिसेवना करने वाले भिक्षु को सकपट निष्कपट आलोचना करने पर षाण्मासिक ही प्रायश्चित्त दिया जाता है।

जो भिक्षु मासिक, द्विमासिक, त्रिमासिक, चातुर्मासिक, पंच-मासिक, इन पांच परिहार स्थानों में से किसी भी एक परिहार स्थान की प्रतिसेवना कर आलोचना करे तो निर्माय आलोचना में मासिक, द्विमासिक, त्रिमासिक, चातुर्मासिक, पंचमासिक दिया जाता है और सकपट आलोचना करने वालों को द्विमासिक, त्रिमासिक, चातुर्मासिक, पंचमासिक और षाण्मासिक प्रायश्चित्त दिया जाता है, इसके उपरान्त चाहे सकपट आलोचना करे अथवा निष्कपट, वे ही छः मास दिये जाते हैं।

जो भिक्षु अनेक प्रकार से मासिक, द्विमासिक, त्रिमासिक, चातुर्मासिक, वा पंचमासिक इन पांच में से किसी भी एक परिहार स्थान की प्रतिसेवना कर आलोचना करे तो निष्कपट आलोचना करने वाले को मासिक, द्विमासिक, त्रिमासिक, चातुर्मासिक, पंचमासिक प्रायश्चित्त दे और सकपट आलोचक को द्विमासिक, त्रिमासिक, चातुर्मासिक, पंचमासिक, षाण्मासिक इस क्रम से उनको प्रायश्चित्त दे।

जो भिक्षु चातुर्मासिक, सातिरेक चातुर्मासिक, पंचमासिक, सातिरेक पंचमासिक इन परिहार स्थानों में से किसी भी एकपरिहार स्थान की प्रतिसेवना कर आलोचना करे तो निष्कट आलोचना करने वाले को चातुर्मासिक वा सातिरेक चातुर्मासिक पंचमासिक और सकपट आलोचक को पंचमासिक वा सातिरेक पंचमासिक अथवा षाण्मासिक इसके उपरान्त सकपट निष्कपट सभी आलोचकों को वही षाण्मासिक।

जो भिक्षु अनेक वार चातुर्मासिक, अनेक वार सातिरेक चातुर्मासिक, अनेक वार पंचमासिक अनेक बार सातिरेक पंचमासिक इन परिहार स्थानों में से किसी भी एक परिहार स्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो निष्कपट को अनेक बार चातुर्मासिक अनेक वार सातिरेक चातुर्मासिक, पंच मासिक आलोचक को पंचमासिक, अनेक वार सातिरेक पंचमासिक, और सकपट आलोचक को अनेक वार पंचमासिक, सातिरेक पंचमासिक, अथवा अनेक वार षाण्मासिक की प्राप्ति होती है। उसके ऊपर सकपट, निष्कपट आलोचना करने पर वे ही छः मास आते हैं।

जो भिक्षु चातुर्मासिक, सातिरेक चातुर्मासिक, पंचमासिक, सातिरेक पंचमासिक इनमें से किसी भी एक स्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो निष्कपट आलोचना करने पर स्थापनीय को स्थापन कर वैयावृत्य करे, स्थापित में भी प्रतिसेवना करने पर उसमें पूर्ण चढाये। पहले प्रतिसेवना की, पीछे आलोचना की, पीछे प्रतिसेवना की, पीछे आलोचना की, निष्कपट में निष्कपट का, निष्कपट में सकपट का, सकपट में निष्कपट का, सकपट में सकपट

का। सर्व स्वकृतप्रायश्चित्त की अपूर्णता में नयी प्रतिसेवना के प्रायश्चित्त का समावेश करे।

जो भिक्षु अनेक वार चातुर्मासिक, सातिरेक चातुर्मासिक अनेक वार पंचमासिक, सातिरेक पंच मासिक, इन परिहार स्थानों में से किसी एक परिहार स्थान की प्रतिसेवना करे, निष्कपट आलोचना करता हुआ स्थापना स्थाप कर उसकी कमी करे, और उसीमें पूर्ण कर, सकपट को भी ऐसा व्यवहृत करे। स्थापनीय स्थापित करके वैयावृत्य करे, स्थापित में भी फिर प्रतिसेवना करने पर सम्पूर्ण प्रायश्चित्त चढा दे। निष्कपट में निष्कपट, निष्कपट में सकपट, सकपट में निष्कपट, सकपट में सकपट निष्कपट आलोचना करते हुए का सर्व यह सुकृत साधनीय है जो इस प्रस्थापना में प्रस्थापित करता हुआ समाप्ति करते हुए फिर प्रतिसेवना करे तो वह भी सम्पूर्ण उसीमें चढ़ा देना। प्रायश्चित्त पूरा करते हुए यदि प्रतिसेवना करे तो मूल राशि में उसे चढा देना। इसी तरह १९ और २० वें सूत्र को समझना।

बीसवें उद्देशक के कुल सूत्र ५३ हैं और सभी प्रायश्चित्त दान विधि के साथ सम्बन्ध रखते हैं, एक ही अपराध की अनेक बार आपत्ति होने पर उसकी स्थापना और आरोपणा द्वारा विशुद्धि करने की विधियां लिखी हुई हैं व्यवहार सूत्र के प्रथम उद्देशक के वीस सूत्र और निशीथ के वीसवें उद्देशक के प्राथमिक २० सूत्र अभिन्न हैं।

निशीथ के तृतीयोद्देशक के सूत्र १६ से ६९ वें शीर्ष द्वारिका सूत्र तक ५४ होते हैं, जबकि चूर्णिकार ने केवल ४० सूत्र होने की सूचना की है, चतुर्थ उद्देशक में ४८ से १०१ पर्यन्त के सूत्रों में अन्योन्य पाद सम्मार्जन, आदि के प्रायश्चित्त लिखे हैं, ये ही सूत्र उद्देशक सातवें में और १७ वें में सामान्य परिवर्तन के साथ लिखे मिलते हैं, षष्ठ उद्देशक में सूत्र २४ से ७६ तक के सूत्र सप्तमोद्देशक के सूत्रों से मिलते जुलते हैं। १४ वें उद्देशक के सूत्र १२ से २३ पर्यन्त पात्र के सम्बन्ध में वर्णन करते हैं, वैसा ही

वर्णन १८ वें उद्देशक में सूत्र २४ से ५२ तक में वस्त्र का किया है।

१८ वें उद्देशक में कुल ७६ सूत्र हैं, जिनमें प्रारम्भ के २३ सूत्रों पर कम ज्यादा चूर्णि है, उनके बाद के ५१ सूत्रों पर चूर्णि नहीं है, उद्देशक के अन्त में चूर्णिकार-लिखते हैं—

सूत्र २५ का उच्चारण करना जब तक उद्देशक समाप्त हो, इनका अर्थ १४ वें उद्देशक में जैसे पात्र के साथ किया है वैसा १८ वें उद्देशक में वस्त्र के साथ करना, इस प्रकार निशीथ के अनेक उद्देशकों के सूत्र नाम मात्र के फेर फार के साथ अन्यान्य उद्देशकों में आए हैं और अनेक सूत्रों पर चूर्णि भी नहीं है, चूर्णिकार जहां सूत्र संख्या कम बताते हैं वहां सूत्र संख्या अनेक गुनी दृष्टिगोचर होती है, इससे प्रतीत होता है कि विशेष चूर्णि के बनने के बाद निशीथ के अनेक उद्देशकों में नये सूत्र प्रक्षिप्त हुए हैं और उनका प्रक्षेप जाना भी जा सकता है।

महानिशीथ की परीक्षा-

महानिशीथ का नामोल्लेख नन्दीसूत्र और पाक्षिक सूत्रान्तर्गत आगम-नामावली में हुआ है, सर्वत्र दशा, कल्प, व्यवहार, निशीथ, महानिशीथ इस क्रम से "महानिशीथ" का नाम छेद सूत्रों में निशीथ के बाद आता है। हमारे पास एक ताडपत्र पर लिखे गए प्राचीन पुस्तकभंडार की ताडपत्रीय सूची है, जिसमें महानिशीथ की कनिष्ठ, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से तीन वाचनाओं का निरूपण किया है, कनिष्ठ वाचना में ३४००, मध्यम वाचना में ४२०० और उत्कृष्ट वाचना में ४५०० परिमित श्लोक संख्या लिखी है, परन्तु आजकल विद्यमान जितने भी महानिशीथ के पुस्तक देखे उन सभी में सूत्र का श्लोक परिमाण ४५०० लिखा मिलता है, किसी में ४५४४ श्लोक भी बताये हैं, परन्तु लघु-मध्यम-वाचनात्मक पुस्तक अथवा उनका परिमाण लिखा नहीं मिला। वास्तव में वर्तमान महानिशीथ सूत्र एक भेदी कृति है, इस कृति के उद्धारक प्रसिद्ध आचार्य श्रीहरिभद्रसूरि माने जाते हैं और इस उद्धृतसूत्र का सिद्धसेन दिवाकर, वृद्धवादी, यक्षसेन, देवगुप्त, यशोवर्धन क्षमाश्रमण शिष्य रविगुप्त, नेमिचन्द्र, जिनदासगणि क्षपक, सत्यश्री प्रमुख युगप्रधान श्रुतधरों द्वारा समर्थन कराया है, जो संदेहास्पद है, क्योंकि जिन (श्रुतधरों) द्वारा इसको प्रमाणित करने की बात कही गई है वे श्रुतधर समकालीन नहीं थे, वृद्धवादी और सिद्धसेन दिवाकर हरिभद्रसूरि से ३०० वर्ष पहले के व्यक्ति थे, जो हरिभद्रसूरि की कृति का समर्थन नहीं कर सकते थे, यक्षसेन, रविगुप्त, देवगुप्त अप्रसिद्ध नाम हैं, हरिभद्र के समय में अथवा कुछ परवर्ती काल में उक्त नाम के आचार्यों के अस्तित्व का इतिहास से समर्थन नहीं होता, ऊकेशगच्छ में प्रति चौथे आचार्य का नाम "देवगुप्त सूरि" दिया जाता था, परन्तु इस प्रकार के नामों के निर्देशमात्र से किसी के समय का निर्णय नहीं हो सकता, नेमिचन्द्र और जिनदासगणि

क्षपक के नाम भी परस्पर समसामयिक नहीं हैं, नेमिचन्द्र का समय विक्रम की ग्यारहवीं शती के पूर्वार्धमें पडता है, तब जिनदासगणि क्षपक को यदि निशीथ की विशेष चूर्णि का निर्माता जिनदासगणि महत्तर मान लिया जाय तो इनका सत्ता समय विक्रम की आठवीं शती के उत्तरार्ध में पडेगा जो संगत हो सकता है, परन्तु एक दो का समर्थन मिल जाने मात्र से महानिशीथ का हरिभद्रसूरि द्वारा उद्धार होना प्रमाणित नहीं हो सकता, हमने श्री हरिभद्रसूरि के लगभग ६० ग्रन्थ पढे हैं, पर उनमें महानिशीथ के उद्धार की बात तो क्या उसका नाम निर्देश तक नहीं मिलता। इस स्थिति में 'महानिशीथ सूत्र दीमक ने खंडित कर दिया था और शासनवात्सल्य से आचार्य हरिभद्रसूरि ने इसको अन्यान्य शास्त्र पाठों के आधार से व्यवस्थित किया और सिद्धसेन दिवाकर आदि ८ श्रुतधर युग प्रधान आचार्यों ने इसे प्रामाणिक ठहराया' इत्यादि दन्तकथा सत्य होने में कोई प्रमाण नहीं है।

(१) **अध्ययन:**––महानिशीथ का प्रथमाध्ययन "सुयं मे आउसं-तेणं भगवया एवमक्खायं" इस सूत्र से प्रारम्भ होता है, इसमें साधु साध्वियों को अपने पापों का प्रायश्चित्त करने का २२२ गाथाओं में उपदेश किया है और इसी कारण से इस अध्ययन का नाम "शल्योद्धरण" रक्खा है।

इस अध्ययन के अंत में सांकेतिक लिपि में गद्यपाठ दिया है, जिसमें से "श्रुतदेवताविद्या" का उद्धार होता है, वह पाठ—

"ॐ नमो कोठ्ठबुद्धीणं, ॐ नमो पयाणुसारीणं, ॐ नमो संभिण्णसोईणं, ॐ नमो खीरासवलद्धीणं, ॐ नमो सव्वोसहिलद्धीणं, ॐ नमो अक्खीणमहाणसलद्धीणं, ॐ नमो भगवओ अरहओ महइमहावीरवद्धमाणस्स, धम्मतित्थंकरस्स, ॐ नमो सव्व तित्थंकराणं, ॐ नमो सव्वसिद्धाणं, ॐ नमो सव्वसाहूणं, ॐ नमो भगवतो मइनाणस्स, ॐ नमो भगवओ सुयणाणस्स, ॐ नमो भगवओ ओहिणाणस्स, ॐ नमो भगवतो, मणपज्जवणाणस्स, ॐ नमो भगवओ केवलणाणस्स, ॐ नमो भगवतीए सुयदेवयाए, सिज्झउ में सुयाहिवा

विज्जा, ॐ नमो भगवओ, ॐ नमो वं, ॐ नमो नमो अठ्ठारससीलंग सहस्साहिठिठ्यस्स, णीसंगणिण्णियाणणीसल्लभयसत्तगत्तणसरण्ण सव्वदुक्खनिम्महृणपरमनिव्वुइकरस्स णं, इमाए पवरविज्जाए सत्तहाउ अत्ताणयं अभिमंतेऊणं सोवेज्जा खंतो दंतो जिइंदिओ" (३०-१३) यह है।

प्रथमाध्ययन की समाप्ति में प्राकृत गद्य में लिखा है:—

"एयस्स य कुलिहियदोसो न दायव्वो सुयहरेहिं, किन्तु जो चेव एयस्स पुव्वायरिसो आसि तत्थेव कत्थइ सिलोगो, कत्थइ सिलोगद्धं, कत्थइ पयअक्खरं, कत्थइ अक्खरपंतिया, कत्थइ पण्णगपुठिठ्या, कत्थइ एग-बे-तिण्णि पण्णगाणि, एवमाइबहुगंथं परिगलियंति।" अर्थात् इस सूत्र पुस्तक में दृष्टिगोचर होने वाली अशुद्धियों के सम्बन्ध में पुस्तक लेखक को दोष नहीं देना चाहिए, क्योंकि इस सूत्र की जो मूल प्रति थी उसीमें कहीं श्लोक, कहीं आधा श्लोक, कहीं पदों के अक्षर, कहीं पंक्तियां, कहीं पाने की एक पुठ्ठी, कहीं एक दो तीन पाने तक नष्ट हो जाने के कारण से सूत्र का अधिक भाग लुप्त हो गया था, इसी कारण से कहीं कहीं त्रुटियां प्रतीत होती हैं जो मौलिक हैं, प्रतिलेखक कृत नहीं।

(२) **अध्ययन**—"वण्णस्सइ गए जीवे" इस गाथा से दूसरा अध्ययन प्रारम्भ होता है, इस अध्ययन में गद्य पद्य दोनों हैं, प्रारम्भ में अधमाधम१, अधम२, विमध्यम३, उत्तम४, उत्तमोत्तम५, और सर्वोत्तमोत्तम नामक ६ पुरुषों के लक्षण बताये हैं। स्त्रियों के सम्बन्ध में भी सविस्तर वर्णन किया है, अप्काय, तेजस्काय और मैथुन प्रतिसेवना से वचने के लिए साधुओं को बार बार उपदेश देकर लिखा है कि उक्त तीन प्रकार की प्रतिसेवना से साधु दुर्लभ वोधिक होता है, इन तीन प्रतिसेवनाओं से मुनि को सर्वथा दूर रहना चाहिए।

महानिशीथ के दूसरे अध्ययन का नाम "कर्मविपाक व्याकरण" है, इसकी समाप्ति में "उ०६" लिखा है, जो दूसरे अध्ययन के उद्देशकों की संख्या का सूचक है। इस अध्ययन का नाम अन्वर्थक

नहीं है ! यद्यपि इसमें सामान्यप्रकार का उपदेश अवश्य है, पर कर्म के विपाक का फल वर्णित नहीं है और न इस प्रकार की कुछ योजना ही है कि उक्त नाम आवश्यक हो ।

(३) अध्ययन—महानिशीथ का तृतीय अध्ययन "अओ परं चउकण्णं, सुमहत्थाइसयं परं" इस सूत्र से प्रारम्भ होता है, इसकी प्रारम्भिक ७ गाथाओं में वाचना विधि का स्वरूप वताने के अतिरिक्त प्रस्तुत सूत्र के ८ अध्ययनों में किसमें कितने उद्देशक हैं इसका निरूपण किया है । गाथा ५-६वीं में २ से ८ वें तक के ७ अध्ययनों के उद्देशकों की संख्या का निरूपण किया है, संख्या तथा तपोनिरूपक गाथाएँ नीचे मुजब हैं ।

"बीयज्झयणेऽम्बिले पञ्च, णवुद्देसा तहिं भवे ।
तइए सोलस उद्देसा, अट्ठ तत्थेव अंबिले ॥
जं तइए तं चउत्थे वि, पंचमंमि छायंबिले दस ।
छट्ठे दो सत्तमे तिण्णि, अट्ठमे आयंबिले दस ॥"

अर्थात्—'दूसरे अध्ययन में नव उद्देशक हैं और इनके पढने में पांच आयंबिल करने पड़ते हैं, तीसरे अध्ययन में सोलह उद्देशक हैं और आठ आयंविल, करने पड़ते हैं, महानिशीथ के चौथे अध्ययन में भी उद्देशक १६ और आयंविल ८ होते हैं, पांचवां, छट्ठा, सातवां और आठवां इन ४ अध्ययनों में क्रमशः ६-२-३-१० आयंबिल होते हैं, इन चार अध्ययनों में उद्देशक कितने हैं यह नहीं लिखा, केवल तप लिखा है और प्रथम अध्ययन के उद्देशक तथा तपों में कुछ भी नहीं लिखा, यद्यपि महानिशीथ से उक्त वातों का खुलासा नहीं मिलता, पर सामाचारीगत योग विधि से सभी बातें स्पष्ट हो जाती है, "आयारविहि" में महानिशीथ के योगविधान का प्रतिपादन करने वाली निम्न लिखित गाथाएं उपलब्ध होती हैं:—

"पढमेग सरं १ नव २ सोल ३ सोल ४ बारस ५
चउ ६ छग ७ बीसा ८ ।

अट्ठज्झयणुद्देसा, तेसीइ महानिसीहंमि ।
इय तेयालीस दिणा, सुयक्खंधे दुन्नि सव्व पणयाला ।
आउत्तवाणयं इइ, पणचत्ता याम नन्दिदुगं ।"

अर्थात्—'महानिशीथ' के ८ अध्यायों में पहला एकसर है, अर्थात् इसमें उद्देशक नहीं है, दूसरे अध्ययन के उद्देशक ६ हैं, तीसरे चौथे अध्ययनों के उद्देशक १६-१६ हैं, पांचवें अध्ययन के उद्देशक १२ हैं और अध्ययन ६-७-८ वें के उद्देशक क्रमशः ४-६-२० हैं, इस प्रकार महानिशीथ में ८ अध्ययन और ८३ उद्देशक हैं, प्रायः प्रतिदिन २-२ उद्देशक निकलते हैं अतः प्रथम अध्ययन और ८३ उद्देशकों के ४३ दिन और श्रुतस्कंधक के समुद्देश और अनुज्ञा के २ दिन मिलकर ४५ दिनों में महानिशीथ के योग समाप्त होते हैं, परन्तु वृद्धि आलोचना के दिन ७ मिलाने से आजकल महानिशीथ के आगाढ योग ५२ आयंबिलों से पूर्ण होते हैं, सं० १८९० में पं० दीपविजयजी ने बडोदे के कतिपय श्रावकों की प्रार्थना से महानिशीथ का संक्षिप्त परिचय लिखा है, उसमें महानिशीथ के ६ अध्ययन और २ चूलिकाएं होने का लिखा है, हमारी एक नोट बुक में जो कागज की प्रति पर से लिखी हुई है, उसमें भी "बिइया चूलियां" ऐसा अंत में उल्लेख है, परन्तु महानिशीथ के सम्बन्ध में इस प्रकार के सभी उल्लेख गतानुगतिकता से लिखे गये हैं, महानिशीथ वास्तव में ८ अध्ययन और ८३ उद्देशात्मक ग्रन्थ हैं, यह बात "आयारविहि" नासक प्राचीन सामाचारी से सिद्ध हो चुकी है। ताडपत्रीय प्रति के अन्त में "इइ बिइया चूलिया" ये शब्द लिखे मिलते हैं, परन्तु ये शब्द प्रतिलेखक विशेष के हो सकते हैं, मूल संदर्भकार के नहीं, वस्तुतः महानिशीथ के प्रत्येक अध्ययन की समाप्ति पुष्पिका भी एक सी नहीं है, कहीं कहीं अध्ययनों के नाम सविशेषण लिखे हुए हैं, तव कतिपय विशेषण हीन, यह पद्धति मूलकार की नहीं, प्रति लेखक की होनी चाहिए, ऐसी हमारी मान्यता है। ६ अध्ययनों की समाप्ति में नाम पुष्पिका दी ही है, तब ७-८ इन दो

अध्ययनोंके अंत में "इति ब्रवीमि" लिखा है, अष्टम अध्ययन के अन्दर दो बार "इति ब्रवीमि" का स्थानापन्न प्राकृत पाठ है, इस उल्लेख के आधार से ही किसी ने अन्तिम तीन प्रकरणों को चूलिका मान लिया है जो वास्तविक नहीं है, मुनि प्रवर श्री पुण्यविजयजी द्वारा ताडपत्रीय प्रति के ऊपर से कराई गई प्रेस कॉपी के हमारे नोट में ३ स्थानों में "त्तिबेमि" इस प्रकार के समाप्ति सूचक उल्लेख हुए हैं, जिनमें अष्टम अध्ययन की समाप्ति में एक स्थान पर "अणंत सोक्खं मोक्खं परिवसेज्ज त्तिबेमि" यह लिखकर "महानिसीहस्स विइया चूलिया" यह पुष्पिका लिखी है परन्तु प्रथम चूलिका कहां से प्रारम्भ हुई और कहां समाप्त हुई इसका पृथक् करण नहीं होता। हमारी राय में योगविधि के लेखानुसार ही महानिशीथ में पूर्वकाल में अध्ययन और उद्देशक होंगे परन्तु जब से प्राचीन महानिशीथ के स्थान में प्रस्तुत महानिशीथ का जन्म हुआ है तब से महानिशीथ के नाम से श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अनेक अवैध बातों का प्रचार हुआ और श्वेताम्बर समाज के गच्छों के बीच में क्लेश के बीजारोपण हुए हैं जो समाज को पर्याप्त छिन्न भिन्न कर अनेक पौराणिक तथा अनागमिक विधियों को जन्म दे चुके हैं।

उपधान का शब्दार्थ और आधुनिक प्रवृत्ति-

आजकल हमारे समाज में उपधान तप की आबालवृद्ध तक प्रसिद्धि है और इसके निमित्ति लाखों रुपया प्रतिवर्ष खर्च होता है, प्रतिवर्ष अनेक स्थानों में सामूहिक रूप से उपधान तप कराया जाता है, पहले "उपधान" शब्द सामान्य 'तप' के अर्थ में प्रसिद्ध था और साधु के वर्णन में इसका उल्लेख आता था, "उपधान" में उपवास आयंबिल का ही तप होता था, विक्रम की पन्द्रहवीं शती में खरतर गच्छ के आचार्य श्री तरुणप्रभसूरि ने "तपोविधि" में परिवर्तन करके इसको सुकर बनाया, परिणामतः व्यक्तिगत आराधना से हटकर यह तप गृहस्थों में समूहों द्वारा किया जाने लगा, इसके आराधकों की संख्या एक एक समारोह में सौ दो सौ की तो सामान्य

मानी जाती है; एक समारोह में तो १७०० मनुष्यों की संख्या भी हो चुकी है, उपधान का मौलिक आशय शुद्ध था जैसे श्रमणों के लिए योगोद्वहन पूर्वक सूत्र पढने का शास्त्रीय विधान था, वैसे ही प्रस्तुत नव्य महानिशीथ में श्रावक के लिए पंच मंगलसूत्र पढते समय उपवास और आयंबिल तपोविधान करना लिखा है। मूल शास्त्रों में जैन धर्मी गृहस्थ का नाम "उपासक" "श्रमणोपासक" अथवा "श्रावक" लिखा है, जिसका अर्थ क्रमशः 'सेवा करने वाला, साधु की सेवा करने वाला, धर्म सुनने वाला' होता है, पूर्व काल में भी गृहस्थ जैन धर्म का आंशिक आराधन करता था और वह "देश विरत" अथवा "विरताविरत" कहलाता था, जैन साधुओं का वसतिवास होने के बाद साधु गृहस्थ दोनों के आचार मार्ग बहुत परिवर्तित हुए और उनकी मौलिकताएँ समय समय की आचरणा-रूढियों से आच्छादित प्रायः हो गई है। महानिशीथोक्त तपोविधान से उस समय गृहस्थ का जीवन अनेक अभिग्रहों से पलट सा जाता था, तब आज वही "उपधान" जीवन निर्वाह का साधन सा हो गया हैं। प्रभावना के नाम से जो सैकडों का माल बाँटा जाता है उसके लोभ से सैंकडों मनुष्य विशेष करके स्त्रीवर्ग उपधान की खबरें पूछा करता हैं। उपधान करने के बाद उन उपधानवाही मनुष्यों के जीवन में कोई नवीनता आती प्रतीत नहीं होती, आरंभ, समारंभ और व्रतपालन में कोई अन्तर नहीं पडता, प्रतिवर्ष लाखों रुपया खर्च होता है, परन्तु न तप तप समझकर किया जाता है, न स्थायी लाभ का कारण समझकर, खर्च करने वाला गृहस्थ आमंत्रण पत्रिकाओं में अपने बाप दादा और पुत्र पौत्रादि के २०-२५ नाम छपवाकर द्रव्य की सफलता मान लेता है और उपदेशक साधु महाराज डेढ़ दो महीनों तक चहल पहल और सैंकडों स्त्री पुरुषों के परिचय में रहकर संतुष्ट हो जाते हैं, यह उपधान की करामात नव्य महानिशीथ और बाद के सामाचारी ग्रन्थों ने फैलाई है, इसमें कोई शंका नहीं, यह प्रवृत्ति १० वीं से १४ शती तक मर्यादित और मौलिक थी, परन्तु सामूहिक रूप पकडने के बाद यह पद्धति प्रति

वर्ष वढती चली और अब तो टीकापात्र तक हो गई है। यदि इसका उचित संशोधन न किया गया तो भविष्य की जैन जनता इसका खुला 'विरोध करेगी, कतिपय विधानों को लक्ष्य करके आंचलिक, पौर्णमिक, आदिगच्छों ने तो पहले ही से इस महानिशीथ को अप्रामणिक ठहरा दिया था, केवल तपागच्छ और खरतर गच्छ के अनुयायी अब तक महानिशीथ और इसके "उपधान" आदि विधानों को मानते हैं, परन्तु इस मान्यता को स्थायी बनाने के लिए समय संशोघन की मांग कर रहा है, समय रहते उपधान की प्रवृत्ति में समयोचित संशोधन न हुआ तो इस तपोविधान को दफनाने की मांग होगी, परिणाम जो होगा उसकी कल्पना की जा सकती है।

क्या महानिशीथोक्त उपधान विधि आगमोक्त है?

महानिशीथ के तीसरे अध्ययन में उपधान तप का विधान लिखा है, कहा गया है कि 'अमुक प्रकार की योग्यता प्राप्त करने के वाद गृहस्थ धर्मी अमुक तपःकरण पूर्वक "पंच नमस्कार सूत्र" पढे, पहले पढ़ने वाला जिन प्रवचन का महान् आशातनाकारी वनता है।'

पंचमंगल महाश्रुतस्कन्ध पढने के वाद ईर्यापथिकीप्रतिक्रमण श्रुत आदि सूत्र पढने का विधान वताया है, लिखा है—'पंच नमस्कार सूत्र सामायिकधारी वा असामायिकधारी दोनों पढ़ सकते हैं, पर सामायिकादि शेषश्रुत यावज्जीव सामायिकधारी हो वही पढ सकता है, सामायिकहीन नहीं।

जैन गृहस्थ श्रावक के धर्माधिकार में आगम साहित्य में "उपधान" का विधान नहीं है—

सूत्रों में जहां जहां देशविरति श्रावक का वर्णन आया है, वहां कहीं भी "उपधानकारी" अथवा इस अर्थ का सूचक अन्य कोई भी विशेषण श्रावक के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ, इससे ध्वनित होता है कि

गृहस्थ वर्ग में उपधान पद्धति का जन्म वर्तमान महानिशीथ के निर्माण समय विक्रम की नवमी दशमी शती के वाद के काल में हुआ है।

मुहूर्त देखने का विधान—

पंचमंगल के विनयोपधान की आदि अन्त में तथा सर्वोपधान के अंत में माला पहिनाने के समय शुभ समय देखने का सूत्रकार कहते हैं, तीनों मुहूर्त संवन्धी सूत्र पाठ निम्न प्रकार का है—

"सुत्तत्थो भयत्तगं चिइवंदणा-विहाणं अहिज्जित्ता णं तओ सुपसत्थे सोहणे तिहि-करण-मुहुत्त-णक्खत्त-जोग-लग्ग-ससिवले जहासत्तीए जगगुरूणं संपाइयपूओवयारेणं पडिलाहियसाहुवग्गेण य।"

अर्थात्—'सूत्र अर्थ और तदुभयात्मक चैत्यवंदना विधान को पढ़ कर शुभवार, शोभनतिथि, करण, मुहूर्त, नक्षत्र, योग, लग्न और चन्द्रवल में यथाशक्ति जिन पूजा और साधुवर्ग की भक्ति करके गुरु के हाथ से पुष्पमाला परिधान करके गुरु साक्षिक अभिग्रहादि धारण करे।'

पूर्वोक्त पाठ उपधान की माला के मुहूर्त सम्बन्धी है, इसी प्रकार पंच मंगल महाश्रुत स्कन्ध के उद्देश तथा अनुज्ञा के प्रसंगों पर भी "दिन" "लग्न" शब्द प्रयुक्त हुए हैं, इससे "महानिशीथ" सूत्र के निर्माण समय का भी पता चल जाता है, विद्यमान महानिशीथ सूत्र की रचना विक्रमीय नवमी शती अथवा उसके बाद की सिद्ध होती है, क्योंकि इसमें प्रत्येक मुहूर्त के पाठ में "लग्न" शब्द प्रयुक्त हुआ है जो प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण समय विक्रम की नवमी शती अथवा इसके परवर्ती समय को सूचित करता है। वर्तमान पद्धति के भारतीय पञ्चांग विक्रम की नवमी शती के उत्तरार्ध में बनने लगे और सर्व मान्य हुए थे और इस समय के वाद के लेखों, प्रशस्तियों में "लग्न" "वार" "दिन" शब्द प्रयुक्त होने लगे थे, पहले नहीं।

पंचनमस्कार-उपधान विधि—

"पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स पंचज्झयणेगचूलापरिक्खि-त्तस्स पवरपवयणदेवयाहिट्ठियस्स तिपदपरिछिन्नेगालावगस्स सत्तक्खरपरिमाणं अणंतगमपज्जवत्थपसाहगं सव्वमहामंतपवर विज्जाणं परमबीयभूयं "नमो अरहंताणं" ति पढमज्झयणं अहि-ज्जेयव्वं, तद्दियहे य आयंबिलेणं पारेयव्वं।"

अर्थात्—पंचमंगल महाश्रुत स्कन्ध जो पांच अध्ययन और एक चूलिका से परिक्षिप्त है, जो प्रवर-प्रवचन देवता से अधिष्ठित है, इसका प्रथमाध्ययन जो तीन पदों में विभक्त और एक आलापक रूप है, सप्ताक्षरपरिमित है, अनंत गम-पर्यायात्मक है और सर्व महामंत्र तथा प्रवर विद्याओं का बीज रूप है, जिसका शब्दात्मक रूप "नमो अरहंताणं" यह है, यही पंच मंगल का प्रथम अध्ययन है।

"गोयमा×चेइयालए+जंतुविरहियोगासे+खितिणिहियजाणु-गंसि उत्तमंगकरकमलमउलसोहजलिफुडेणं सिरिउसभाइ पवरवरधम्मतित्थयरपडिमाबिम्बविणिवेसियणयणमाणसेगग्ग तग्ग-यज्झवसाणेणं समयाएगग्गया दढचरितादिगुणसंयमोववेया+णिण्णियाणं दुवालसभत्तट्ठिएणं चेइयालए जंतुविरहियोगासे"।

अर्थ—हे गौतम जिनालय में जीव जन्तु रहित स्थान में जानु पृथ्वी पर टेककर शिर पर कर कमल द्वारा अंजलि करके श्री ऋषभादिसर्व धर्मतीर्थंकरों की प्रतिमा-बिम्ब पर नेत्र मन एकाग्रकर तद्गताध्यवसायवाला होकर समता, एकाग्रता और चारित्रगुण संपत्ति से युक्त निदान रहित ५ उपवास आदर के निर्जन्तु जिनालय में ठहरकर पूर्व सेवा करे, फिर अरहंतादि पंच नमस्कार के ५ पद पांच आयंबिल करके पढे, चूलाके उद्देशक ३ "एसो पंच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो १। मंगलाणंच सव्वेसिं २। पढमं हवइ मंगलं ३॥"

प्रत्येक उद्देशक १—१ आयंबिल करके पढे, पूर्व सेवा के ५ उपवास, ३ चूलिका सहित पंच नमस्कार पढने के लिए ८ आयंबिल और उत्तर सेवा का १ अट्ठम (३ उपवास) करने से १६ दिनों में पंच मंगल महा श्रुत स्कन्ध की आराधना पूर्ण होती है।

ईर्यापथिकी आदि के उपधान

'भगवान् महावीर ने कहा—गौतम ! पंचमंगल को स्थिर-परिचित करके फिर इरियावही पढना चाहिए।' गौतम ने प्रश्न किया—

"से भयवं कयराए विहीए तमिरियावहियमहीए ? गोयमा ! जहाणं पंचमंगलमहासुयक्खंधं, से भयवं इरियावहिय महिज्जित्ता णं तओ किमहिज्जे ? गोयमा सक्कत्थयाइयं चेइयवंदणविहाणं, णवरं सक्कथयं एगट्ठम-बत्तीसाए आयंबिलेहिं, अरहंतत्थग (व) णं एगेण चउत्थेणं तिहिं आयंबिलेहिं, चउवीसत्थयं एगेणं छट्ठेणं एगेण य चउत्थेणं पणुवीसाए आयंबिलेहिं, णाणत्थयं एगेणं चउत्थेणं पंचहिं आयंबिलेहिं।"

अर्थात्—'हे भगवन् ! किस विधि से ईर्यापथिकी को पढा जाय ?' भगवान ने फरमाया 'गौतम ! जो पंचमंगल महा श्रुतस्कन्ध शक्र स्तवादिक चैत्यवंदन के सूत्र पढने की विधि कही है, उसी विधि से ईर्यापथिकी पढना चाहिए'। भगवन् ! ईर्या, पथिकी पढने के बाद आगे क्या पढें ? भगवान ने कहा—'गौतम ! शक्र स्तवादि चैत्यवंदन विधान पढे, विशेष इतना ही है कि शक्र स्तव एक अष्टम और बत्तीस आयंबिलों से पढा जाता है, अरिहंत चैत्यस्तव एक चतुर्थ भक्त और तीन आयंबिलों से पढा जाता है, चतुर्विंशति स्तव एक षष्ठ भक्त, एक चतुर्थ भक्त और पच्चीस आयंबिलों से पढा जाता है, और ज्ञानस्तव एक चतुर्थ भक्त और पांच आयंबिलों से पढा जाता है।

पंचमंगल महाश्रुतस्कन्ध और प्रतिक्रमण श्रुतस्कन्ध के उपधान समानविधिक होने का सूत्रकार लिखते हैं, पंचमंगल

महाश्रुतस्कन्ध के प्रारम्भ के पहले पूर्वसेवात्मक द्वादश भक्त (५ उपवास) बीच में ८ आयंबिल, पंचमंगल के अन्त में अष्टम भक्त (३ उपवास) उत्तर सेवा के करने का विधान किया है, इस प्रकार ५+८+३=१६ दिनों में उपधान पूरा होता है और १६ ही दिनों में दूसरा प्रतिक्रमणाध्ययन के उपधान होते हैं, एकंदर ६ उपधान वहनमें १६+१६+३५+४+२८+६=१०५ एक सौ पांच दिन लगते थे।

उपधान माला-परिधान विधि—

स्वर, व्यञ्जन, मात्रा, विन्दु, पदार्थ, सम्पदा, अक्षर, विशुद्ध, अन्यत्याम्रेडित सूत्र पढकर उसका सम्पूर्ण सूत्रार्थ जान ले, जहां कुछ भी शंका हो उसे वार वार विचार कर निश्शंकित करले, इस प्रकार सूत्र, अर्थ और दोनों को पढकर अच्छे दिन में शुभ तिथि, करण, मुहूर्त, नक्षत्र, योग, लग्न में चन्द्रवल देखकर यथाशक्ति जिनपूजा, वस्त्रादि से गुरु भक्ति करके विशुद्ध विशुद्धतर परिणाम वाला होकर जिनदेव पर दृष्टि स्थिर कर एकाग्रचित्त से-"मैं धन्य हूं, कृतपुण्य हूं, जिनवन्दनादि से मेरा जन्म सफल हो गया" इत्यादि चिन्तन करता हुआ वह हाथ जोड़कर हरियाली तृणादि से रहित भूमिभाग में जानुद्वय टेककर गुरु के साथ साधु-साध्वी सार्धर्मिक वन्धुवर्ग से परिवृत हो प्रथम जिन प्रतिमा के सामने चैत्यवन्दन करे, वाद में गुणवान् पुरुष की, साधु, सार्धर्मिक गण की यथाशक्ति भक्ति करे, इस अवसर पर गुरु धर्मदेशना करे और माला पहिनने वाले का उपबृंहण करते हुए कहें—'देवानुप्रिय ! आज तूने अपना जन्म सफल किया है, अव से तूने जीवन पर्यन्त के लिए त्रैकालिक देववन्दन करना चाहिए, इस असार शरीर का यही सार है, दिन के पूर्व भाग में तव तक पानी न पीये जवतक कि जिनवंदन तथा गुरुवन्दन न किया हो, दिन के मध्य में तवतक भोजन न करे जब तक मध्याह्न का चैत्यवन्दन न किया हो, अपराह्न में ऐसा करे कि चैत्यवन्दन किये विना स्वाध्याय का समय व्यतीत न हो, इस प्रकार यावज्जीव के लिए अभिग्रह करवाकर हे गौतम ! उसी

विद्या से अभिमंत्रित वास की मुठ्ठियां माला पहिनने वाले के शिर पर डालने के लिए तैयार रखे और नन्दी की क्रिया के अन्त में गुरु—

"तओ जगगुरूण जिणिंदाण पूएगदेसाओ गंधड्ढाऽमिलाणसियमल्लदामं गहाय सहत्थेणोभयखंधेसु मालमारोवेमाणेण गुरुणा णीसंदेहमेवं भाणियव्वं जहा-भोभो ! जम्मंतरसंचियगुरुय पुण्णपब्भार सुलद्धसंविढत्तसुसहलं मणुसजम्मं देवाणुप्पिया ! ठइयं च णिरयतिरियगइदारं तुज्झंति, अबंधगो य अयस-अकित्ति-णीयागोत्तकम्मविसेसाण तुमं ति।"

अर्थात्—'उसके बाद जगद्गुरु जिनेन्द्र के एक पूजा भाग से सुगन्ध अम्लान श्वेत पुष्पमाला को लेकर अपने हाथों से दोनों कन्धों पर माला को आरोपण करते हुए गुरु को ऐसे बोलना चाहिए-भो ! देवानुप्रिय ! जन्मान्तर में संचित महापुण्यसमूह से प्राप्त तुम्हारा मनुष्य जन्म आज सफल हुआ है, हे महाभाग ! तुमने नारकतिर्यग्गति के द्वार बन्ध किये और अब से तुम अयश:, अकीर्ति, नीचैर्गोत्रादि कर्म विशेषों के अवन्धक हो गये, यह कहकर गुरु तथा संघ माला परिधायी के शिर गंधाढ्य वास की मुट्ठियां डालें और सर्व "नित्थार पारगो हवेज्जा" यह आशीर्वाद दें।

अज्ञान दशा में पंच मंगल पढने का अधिकार नहीं है--

"गोयमा जे णं बाले जाव अविण्णायपुण्णपावविसेसे तावण से पंचमंगलस्स ण गोयमा ? एगंतेणं अओगे, ण तस्स पंचमंगल महासुयक्खंधं दायव्वं न तस्स पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स एगमवि आलावगं दायव्वं।"

अर्थात्—'भगवान् ने कहा—गोतम ! जो मनुष्य अज्ञान है, जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि को जानता नहीं' है, वह पंचमंगल पढने के लिए सर्वथा अयोग्य है, उसको पंचमंगल महाश्रुत का एक आलापक भी नहीं देना चाहिए, क्योंकि अनादि भवपरंपरा में समुपार्जित अशुभ कर्मराशि को जलाने का परम साधन पंचमंगल

को पाकर के भी अज्ञानी जीव इसकी यथार्थ आराधना कर नहीं सकता, उल्टा इसका महत्त्व घटाता है, अतः बाल (अज्ञान) जीवों को पंचमंगल पढाने के पहले उस पर उनकी भक्ति उत्पन्न करना चाहिए, फिर उसकी दृढ़ धर्मश्रद्धा जानकर उसे शक्त्यनुसार तप करने का अभ्यास कराना चाहिए, ४५ नमस्कार सहित, २४ पौरुषी, १२ पूर्वार्ध, १० अपार्ध, ६ निर्विकृतिक, ४ एकस्थान, २ आयंविलों से १ उपवास का कार्य होता है, तपस्या करने वाले की शक्ति की तुलना करके उस प्रकार से उस शक्तिहीन को तप करवा के पंचमंगल पढावे।

पंचमंगल और अन्य श्रुताध्ययन में विशेषता—

गौतम ने पूछा—क्या भगवन्! पंच मंगल के पठनानुसार ही सामायिक श्रुतादि पढा जाता है? या इसमें विशिष्टता है? गौतम के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा—

"दुवालसंगस्स सुयनाणस्स पढम-चरिमजाममहण्णिसमज्झयण ज्झावणं च, पंचमंगलस्स सोलसद्धजामियं, अण्णं च पंचमगलं कयसामाइएइ वा अकयसामाइएइ वा अहीए, सामाइयमाइयं तु सुयं चत्तारंभपरिग्गहे जावज्जीवंकयसामाइए अहिजिणेइ ण उण सारंभ परिग्गहे अकयसामाइए।"

अर्थात्—हे गोतम द्वादशांग श्रुतज्ञान का दिवस और रात्रि के प्रथम चतुर्थ पहरों में पठन पाठन किया कराया जाता है, तब पंच मंगल का दिवस और रात्रि के १६ अर्ध पहरों में से किसी भी अर्ध प्रहर में पठन पाठन हो सकता है, इसके अतिरिक्त पंचमंगल को सामायिक धारी अथवा सामायिक हीन दोनों प्रकार के मनुष्य पढ़ सकते हैं, तब सामायिक आदि श्रुत आरंभ त्यागी और यावज्जीवकृत सामायिक ही पढ सकते हैं, सारंभ परिग्रहधारी अकृतसामायिक नहीं।

कुशीलादि कुगुरुओं के लक्षण—

"से भयवं केरिसं तेसिं, कुसीलादीण लक्खणं।
सम्मं विन्नाय जेणं तु, सव्वहा ते विवज्जए॥
गोयमा! सामन्नओ तेसिं,लक्खणमेयं निबोधय।
जं नच्चा तेसिं संसग्गी, सव्वहा परिवज्जए॥
कुसीले ताव दुसयहा उ, वोच्छं ते ताव गोयमा।
कुसीले जेसि संसग्गी-दोसेणंभस्स दे मुणी खणा॥

अर्थात्—'भगवान्! कुशील आदिका लक्षण कैसा होता है, जिसको अच्छी तरह समझ कर उन के संसर्ग को सर्व प्रकार से छोड़ दे। भगवान ने कहा—कुशील दो सौ प्रकार के होते हैं, अवसन्न दो प्रकार के जानो, ज्ञान आदि से पार्श्वस्थ होते हैं और शवल बाईस प्रकार के होते हैं। इनमें दो सौ प्रकार के कुशील हैं उनके संसर्गदोष से मुनि क्षण भर में मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है।

कुशील संक्षेप में दो प्रकार के होते हैं, वे इस प्रकार—

"तत्थ कुसीलै ताव समासओ दुविहे णेए-परंपरकुसीले, अपरंपरकुसीले, तेवि उ दुविहे णेए-सत्तट्ठ गुरु परंपरकुसीले, एग दुतिगुरुपरंपरकुसीलें य। जे विय ते अपरंपरकुसीले ते विउ दुविहे णेये आगमओ-णो-आगमओ। तत्थ आगमओ गुरुपरंपरएणं आवलिआए ण केई कुसीले आसी, ते चेव कुसीले भवंति णो आगमओ अणेगविहा तंजहा-नाणकुसीले, दंसणकुसीले, चारित्त कुसीले तवकुसीले वीरियकुसीलो। तत्थ जे से नाणकुसीले से णं तिविहे नेए पसत्थापसत्थनाण कुसीले अपसत्थनाण कुसीले सुपसत्थनाण कुसीले, तत्थ जे से पसत्थापसत्थ नाणकुसीले से दुविहे नेए—आगमओ नो आगमओ य, तत्थ आगमओ विहंगनाणी, पन्नविय पसत्थापसत्थणवत्थजालअज्झयणज्झावणा कुसीले, नो

आगमतो अणेगहा, पसत्थाऽपसत्थपरपासंडसत्थजालाहिज्भण अज्भावणवायणापेहणाकुसीले, तत्थ जे ते अपसत्थनाणकुसीले ते एगूणतीसइविहे'' इत्यादि ।

अर्थात्—'कुशील संक्षेप में दो प्रकार के जानने चाहिए, परम्परा कुशील और अपरम्पराकुशील, परम्पराकुशील भी दो प्रकार के होते हैं—सात आठ पीढी से कुशील और एक दो तीन पीढी से कुशील। जो भी अपरंपराकुशील होते हैं, वे भी दो प्रकार के होते हैं—आगम से और नोआगम से, आगम से गुरु परम्परा की आवलिका में कोई कुशील नहीं था पर वर्तमान कालीन आचार्य साधु ही कुशील हैं, नो आगम से अनेक प्रकार के कुशील होते हैं, जैसे—ज्ञान कुशील, दर्शन कुशील, चारित्र कुशील, तप: कुशील, वीर्यकुशील इनमें ज्ञान कुशील तीन प्रकार के होते हैं—प्रशस्त अप्रशस्त ज्ञान कुशील, अप्रशस्त ज्ञानकुशील, सुप्रशस्त ज्ञानकुशील, इनमें जो प्रशस्ताऽप्रशस्त ज्ञानकुशील हैं वे दो प्रकार के जानो—आगम से और नोआगम से, आगम से विभंग ज्ञानी प्रज्ञप्त प्रशस्त अप्रशस्त अर्थ जाल का अध्ययन करने कराने वाले कुशील, नो आगम से भी अनेक प्रकार के कुशील होते हैं-प्रशस्त अप्रशस्त परपाषंडों के शास्त्रार्थ जाल का अध्ययन-अध्यापन-वाचनाऽनुप्रेक्षा कुशील आदि। तहां अप्रशस्त ज्ञान कुशील उनतीस (२९) प्रकार के होते हैं।'' इत्यादि।

शरीर कुशील

महानिशीथ के तृतीयाध्ययन को सूक्ष्म दृष्टि से पढ़ने से इस सूत्र के रचे जाने के समय में जैन श्रमणों का आचार कितनी हद तक बिगड़ गया था यह स्पष्ट हो जाता है, यद्यपि वह समय गीतार्थ युग में पड़ता था, तथापि ज्ञान के साथ क्रिया मार्ग हद से ज्यादा बिगड़ चुका था, पार्श्वस्थ, कुशील, अवसन्न, संसक्त, नित्यवासी आदि नामों से पहिचाने जाने वाले शिथिलाचारी साधु-वेषधारी इतने बढ गये थे कि उनके सामने वैहारिक साधुओं की संख्या अल्प

प्रतीत होने लगी थी, विक्रम की पांचवीं शती तक शिथिलाचारी पर्याप्त वढ़ चुके थे, फिर भी तव तक वहुमत में वैहारिक श्रमण संघ ही था, ज्यों ज्यों श्रमण समुदायों में शैथिल्य वढ़ता गया त्यों त्यों तत्कालीन युग प्रधानों ने अपने अपने समय में सुगमता पूर्वक संक्षेप में श्रमण अपना आचार मार्ग समझ सके इस दृष्टि से आगमों में से कल्प, व्यवहार आदि को पृथक् निर्माण किया, भगवन्त महावीर के निर्वाणानन्तर श्रमणों में आचार विषयक स्वल्प भी शिथिलता दृष्टिगोचर करके श्रुतधर आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी ने दशाश्रुतस्कन्ध, कल्पाध्ययन और व्यवहाराध्ययन का पूर्वश्रुत में से उद्धार करके श्रमण श्रमणियों का आचारमार्ग सुगम वना दिया था, परन्तु समय अवसर्पणशील था और मौर्यकाल से जैन श्रमण-श्रमणियों की संख्या में कल्पनातीत वाढ़ आयी हुई थी, परिणाम स्वरूप निर्ग्रन्थ श्रमणों के नियत आचारों में अनेक नवीन वातें घुसी और घुस रही थीं, परिणामस्वरूप जिन-निर्वाण की छठवीं शती में तत्कालीन युगप्रधान आचार्य श्री आर्यरक्षितजी ने निशीथाध्ययन का निर्माण किया और व्यवहाराध्ययन में आवश्यक नूतन सूत्रों के प्रक्षेप करके निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थिनियों के आचारमार्ग को सुदृढ़ वनाया और वह मार्ग सैकड़ों वर्षों तक सुरक्षित रहा, पर समय भी अपना काम कर रहा था, विक्रम की सातवीं शती तक उसमें अनेक ऐसी खरावियां उत्पन्न हुईं जो प्रतिदिन मार्ग को विगाड़ रही थीं, इस बिगडती हुई परिस्थिति को देखकर सातवीं शती के सुविहित श्रुतधर श्री धर्मदासगणिजी ने "उपदेशमाला" नामक एक औपदेशिक प्रकरण का निर्माण करके शिथिलाचारियों को ललकारा, फिर भी शिथिलाचार का प्रवाह नियंत्रित नहीं हो सका, बीच बीच में त्यागमार्ग के प्रशंसक आचार्यादि विशिष्टव्यक्तियां शिथिलाचार को नियंत्रित करने के लिए भरपूर कोशिश करती रहीं, पर जहां प्रवल वांध टूट जाता है वहां फैलता हुआ जलप्रवाह किसी से नहीं रोका जा सकता, विक्रम की नवमी शती तक शिथिलाचार ने अपनी शक्ति का पूर्ण प्रदर्शन करा दिया, तव प्रस्तुत महानिशीथ का जन्म

हुआ, यद्यपि महानिशीथ सूत्र पहले भी था इसीलिए नन्दीसूत्र आदि में इसका नाम निर्देश हुआ है, इतना होने पर भी यह तो कहना पड़ेगा कि आज का महानिशीथ नन्दीसूत्रनिर्दिष्ट महानिशीथ नहीं है, इसमें सैकडों ऐसी वातें और परिभाषाएं उपलब्ध होती हैं जो इस कृति को विक्रम की नवमी शती से पहले की प्रमाणित नहीं होने देतीं। यहां हम महानिशीथोक्त तत्कालीन जैनश्रमणों की शिथिलप्रवृत्तियों के उद्धरण देंगे, जिन्हें पढ़कर पाठकगण स्वयं समझ सकेंगे कि वर्तमान महानिशीथ में दिया हुआ वर्णन विक्रम की किस शती के जैन श्रमणों को लागू हो सकता है। यों तो महानिशीथ के तृतीयाध्ययन में द्रव्य-भावस्तव, पिण्डविशुद्धि, पंचमंगलादि-श्रुताध्ययन के समय किये जाते विनयोपधान आदि अनेक वातों का निरूपण किया है, परन्तु विशेष ध्यान देने योग्य तो कुगुरुओं का वर्णन है और उसमें भी विशेष आकर्षक वर्णन है-कुशीलों का, योंतो सूत्रकारने कुशील नामक साधुओं के २०० भेद वताये हैं, परन्तु यहां हम केवल शरीर कुशील का ही वर्णन देंगे।

"तहा सरीरकुसीले दुविहे-चेट्ठा कुसीले, विभूसाकुसीले य, तत्थ जे भिक्खू, एयं किमिकुलनिलयं सउणसाणाइभत्तं सडण-पडणविद्धंसणधम्मं असुइं असासयं असारं सरीरगं आहारादीहिंणिच्चं चेट्ठेज्जा, णो णं इणमो भवसयसुलद्धदंसणाइसमण्णिएणं सरीरेणं अच्चंत घोरवीरुग्गकट्ठघोरतव संजममणुट्ठेज्जा, से णं चेट्ठाकुसीले।"

अर्थ—'तथा शरीर-कुशील दो प्रकार के होते हैं, चेष्टा कुशील और विभूषा कुशील, जो भिक्षु इस कृमिसमूह के घर तथा पक्षी और कुत्तों के भोजन रूप सटन-पतन विध्वंसनधर्मक अपवित्र अशाश्वत और असार शरीर को आहारादि से वनाये रखने की नित्य चेष्टा करता है, परन्तु वह सैंकड़ों भवों के वाद प्राप्त ज्ञान दर्शनादिसमन्वित इस शरीर से अत्यन्त उग्र, घोर और कष्टकारक तप तथा संयममय अनुष्ठान नहीं करता इसलिए ऐसे भिक्षु को 'चेष्टा-कुशील' कहते हैं।

"तहा जे णं विभूसा कुसीले से वि अणेगहा-तंजहा-तेलाभंगए, विमद्दण-संवाहण-सिणाणुवट्टणपरिहसण-तंबोल-धूवण-वासण-दसणुग्घंसण-समालहण-पुप्फोमालण-केससमारण-सोवाहण-दुव्वियड्ढगई भणिर-हसिरं-उवविट्ठुट्ठिया-सण्णिवण्णेक्खिय-विभूसावत्ति-सविगारणियं-सणुत्तरीय-पाउरण-दंडग-गहणमाई सरीरविभूसा-कुसीले णेए।"

अर्थ—'तथा विभूषा कुशील भी अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे—तैल मालिश कराने वाले, शरीरमर्दनकारक, शरीर दबवाने वाले, स्नान करने वाले, उद्धर्तन करवाने वाले, हंसी ठट्ठा करने वाले, तंबोल, धूपन, वासन, दातून करना, विलेपन करना, पुष्प सुंघना, बाल बनवाना, जूता पहनना, दुर्विदग्धगति से चलना, अधिक बोलने, हंसने वाला, क्षण क्षण में बैठने उठने वाला, लेटे लेटे सविकार दृष्टि से देखने वाले, शोभार्थ विकार जनक अधोंशुक पहनने वाले, शोभार्थ दण्ड आदि रखने वाले इत्यादिक को विभूषा कुशील जानना चाहिये।

"एते य पवयणउड्डाहयरे दुरंतपंतलक्खणे, अदट्ठव्वे, महापावकम्मकारी विभूसा कुसीले भवन्ति।"

अर्थात्—'उपर्युक्त विभूषा कुशील शासन की अतिशय हीलनाकारक अत्यन्त हीन लक्षण वाले, अद्रष्टव्यमुख और महापाप कर्मों के करने वाले होते हैं ?

"तहा ओसण्णेसु जाणे, णेत्थं लिहिज्जइ, पासत्थे णाणमादीणं, सच्छंदे उस्सुत्तुम्मग्गगामी, सबले णेत्थं लिहिज्जंति, गंथवित्थरभयाओ, भगवया ण एत्थं पत्थावे कुसीलादओ महयापबंधेण पण्णविया।"

अर्थ—'कुगुरुओं के निरूपण के प्रसंग पर सूत्रकार कहते हैं—अवसन्नों का स्वरूप स्वयं जान लें, यहां लिखा नहीं जाता, पार्श्वस्थों का तात्पर्यार्थ ज्ञान दर्शनादि के पास में रहने वाले होता है उनको

पालने वाले नहीं। स्वच्छंदों का अर्थ है—मार्ग को छोड़कर अपनी इच्छा से चलने वाले, शवलों के सम्वन्ध में लिखा नहीं जाता, क्योंकि ग्रन्थ का विस्तार हो जाने का भय है, भगवान ने भी इस प्रसंग पर कुशीलादिकों का अधिक वर्णन नहीं किया। ऊपर के वर्णन से स्वयं जान लेना' इत्यादि वचनों का सार देखने से यही ज्ञात होता है कि महानिशीथ सूत्र नहीं वल्कि एक प्रवन्ध है, सूत्रकार "ग्रन्थ विस्तार के भय से अधिक नहीं लिखा जाता।" इस प्रकार सूत्रों में कभी नहीं लिखते। "भगवान ने भी इस प्रसंग पर कुशीलादिक का अधिक वर्णन नहीं किया" यह कथन महानिशीथ का असौत्रत्व प्रमाणित करता है, जो सूत्र गणधर रचित होता है उसमें "भगवान ने भी अधिक नहीं कहा" यह कभी नहीं लिखा जाता, भगवान तो अर्थों का भाषण करते हैं उन अर्थों को अभिव्यक्त करने वाले शब्दों में ग्रन्थित करना गणधरों का काम है, इसीलिए तो शास्त्रकार कहते हैं—"अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं" इस शास्त्रीय नियम को देखते हुए यही कहना पड़ता है कि महानिशीथ एक अर्वाचीन ग्रन्थ है, गणधर रचित सूत्र नहीं। तृतीय अध्ययन की समाप्ति में ग्रन्थकार लिखते हैं—

"एत्थं च जा जा कत्थइ अण्णण्णा वायणा सा सुमुणिय समयसारेहिंतो पञ्चोसेयव्वा, जओ मूलादरिसे चेव वहुगंथं विप्पणट्ठं, तेहिं च जत्थ जत्थ संवन्धाणुलग्गं गंथं संवज्झइ तत्थ तत्थ वहुसुएहिं सुयहरेहिं संमिलिऊणं अंगोवंगदुवालसंगाओ सुय समुद्दाओ अण्णमण्णअंगउवंगा सुयक्खंध-अज्झयणुद्देसगाणं समुच्चिणिऊण किंचि किंचि संवज्झमाणं एत्थं लिहियंति ण उण सकव्वं कयंति।"

अर्थात्—'जहां जो जो कोई अन्यान्य वाचना भेद हैं, उन्हें आगम वेदी आचार्यों से समझ लेना चाहिए, क्योंकि पुस्तक की मूल प्रति में से ही खासा ग्रन्थ नष्ट हो गया है, जहां जहां सम्वन्धित पाठ देखे उन्हें वहुतेरे श्रुतधरों ने सम्मिलित होकर अंग-उपांगात्मक-

द्वादशांग श्रुत समुद्र से अंग, उपांग, श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, उद्देशकों का चयन करके कुछ कुछ सम्बन्धित पाठ लेकर इसे व्यवस्थित कर लेखवद्ध किया है, अपना काव्य नहीं किया।'

(४) अध्ययन:--तृतीयाध्ययन की समाप्ति होने के बाद चतुर्थ अध्ययन के प्रारम्भ से ही "अत्थि इहेव भारहे वासे मगहा जणवओ" इस सूत्र का प्रारम्भ कर सुमति नागिल का चरित्र दिया है, सुमति नागिल दोनों श्रावक थे, नागिल ने श्री नेमिनाथ से साधुओं का आचार सुना था, सुमति ने सामान्य रूप से साध्वाचार जानते हुए भी शिथिलाचार की उपेक्षा की, नागिल ने शिथिलाचारियों की संगति न करने पर जोर दिया, नागिल उत्तम गति का भागी हुआ, तव सुमति ने संसार भ्रमण वढाया।

इसी अध्ययन में जल-मनुष्यों की कथा सविस्तर लिखी है, निह्नवों और परपाषंड प्रशंसकों की गति परमाधार्मिकों में होने का लिखा है।

चतुर्थाध्ययन की समाप्ति में निम्नोद्धृत संस्कृतगद्य लिखा मिलता है—

"अत्र चतुर्थाध्ययने वहवः सैद्धान्तिकाः कवि प्रलाप का (काँश्चिदालापकान्) न सम्यक् श्रद्धत्येव तैश्चाश्रद्धधानैरस्माकमपि न सम्यक् श्रद्धानं इत्याह हरिभद्रसूरिः न पुनः सर्वमेवेदं चतुर्थाध्ययनं अन्यान्यपि वा अध्ययनानि, अस्यैव कतिपयैरालापकैरश्रद्धानमित्यर्थः। यत् स्थान-समवाय-जीवाभिगम-प्रज्ञापनादिषु न कथंचिदिदमाचख्ये-यथा प्रतिसंताप स्थलमस्थितता (?) तद् गुहावासिनस्तु मनुजास्तेषु च परमाऽधार्मिकाणां पुनः पुनः सप्ताष्टवारान् यावदुपपातस्तेषां च तैर्दारुणैर्वज्रशिलाघरट्टसंपुटैर्गिलितानां परिपीड्यमानानामपि संवत्सरं यावत्प्राणव्यापत्तिर्न भवतीति। वृद्धवादस्तु पुनर्यथा-तावदिदमार्षं सूत्रं, विकृतिर्नतावदत्र प्रविष्ट, प्रभूताश्चात्र

श्रुतस्कन्धे अर्थाः सुष्ठ्वतिशयेन सातिशयानि गणधरोक्तानि चेह वचनानि, तदेवं स्थिते न किंचिदाशंकनीयम् ।"

अर्थात्—'यहां चौथे अध्ययन में कई सैद्धान्तिक विद्वान् कतिपय आलापकों पर श्रद्धा नहीं करते और उनके श्रद्धा न करने से हमको भी उन पर श्रद्धा नहीं होती, ऐसा हरिभद्रसूरि कहते हैं, परन्तु सारा चौथा अध्ययन अथवा अन्य अध्ययन ऐसे नहीं हैं, अर्थात् चौथे अध्ययन के ही कुछ आलापक अश्रद्धेय हैं, क्योंकि स्थानांग, समवायांग, जीवाभिगम, प्रज्ञापनादि सूत्रों में ये बातें कहीं नहीं लिखीं—जैसे प्रतिसंतापस्थल आस्थित तद्गुफावासी मनुष्य, उनमें परमाधार्मिकों का सात आठ बार उत्पन्न होना, उनका कठोर वज्रशिला के पुडों में पीडित होने पर भी वर्ष के पहले प्राणों का न निकलना इत्यादि, 'वृद्धों का कथन तो यह है कि यह सूत्र आर्ष है, इसमें कुछ भी विकृति प्रविष्ट नहीं हुई, इस श्रुत स्कन्ध में भरपूर अर्थ भरे पड़े हैं और इसमें विशिष्ट प्रकार के गणधरोक्त वचन हैं इसलिए इस विषय में कुछ भी शंका नहीं करनी चाहिए।'

भले ही लेखक अथवा वाद के महानिशीथ के प्रशंसक आचार्य कहें कि इसमें कुछ भी शंकनीय विषय नहीं है, पर सारे सूत्र का अवलोकन पढ़कर पाठक महोदय यह समझ सकेंगे कि वास्तव में नन्दीसूत्र सूचित यह महानिशीथ नहीं है, वृद्धवाद का नाम लेकर चतुर्थाध्ययनोक्त बातों को मान लेना एक बात है और परीक्षा की कसौटी पर कसकर इन बातों को प्रामाणिक ठहराना दूसरी, एक नहीं पच्चासों बातें महानिशीथ में ऐसी हैं जो शास्त्रान्तरों के प्रमाणों से सिद्ध नहीं की जा सकतीं और इसका प्रायश्चित्त निरूपण तो किसी भी छेदसूत्रोक्त प्रायश्चित्त से मेल ही नहीं खाता, न प्रायश्चित्त के निरूपणों में छेदसूत्रोक्त परिभाषाओं का उपयोग ही इस सूत्र में संदर्भकार ने किया है, इससे भी प्रमाणित होता है कि प्रस्तुत महानिशीथ खंडित महानिशीथ का अवशेष नहीं, किन्तु एक स्वतन्त्र कृति है कि जिसके कर्त्ता का नाम तक अज्ञात है, आचार्य श्री

हरिभद्रसूरिजी तथा सिद्धसेन दिवाकर आदि के जो नाम लिखे गये हैं वे विश्वास करने योग्य नहीं हैं, यह पहले कहा जा चुका है।

(५) **अध्ययनः**—महानिशीथ का पांचवां अध्ययन "अत्थेगे गोयमा पाणी, जे ते उम्मग्गपट्ठियं" इस सूत्र से प्रारम्भ होता है, इस अध्ययन में गच्छ के अतिरिक्त अयोग्य दीक्षा, धर्मचक्रतीर्थ की यात्रा आदि अनेक बातों का निरूपण किया है, इस अध्ययन का नाम "द्वादशांगश्रुतज्ञाननवीनतसार" रक्खा है, "महानिसीह-सुयक्खंधस्स दुवालसंगसुयनाणस्स णवणीदसारं णाम पंचमं अज्झयणं" यह नाम निस्सार है, शिथिल आचार्यों तथा उनके गच्छों के वर्णन को "श्रुतज्ञान का नवनीत" कहना कुछ भी वास्तविकता नहीं रखता।

पंचम अध्ययन में सावद्याचार्य का वृतान्त दिया है और जरा से अस्पष्ट भाषण से उन्हें अनन्तसंसारी बना दिया है, इस अध्ययन में ब्रह्मचर्य पर विशेष जोर दिया है, "संयती-कल्प" अर्थात् साध्वी का लाया हुआ वस्त्र, पात्र, आहार, पानी लेना इसका कड़ा विरोध किया है, अप्काय तथा वायुकाय की विराधना और ब्रह्मचर्य के खण्डन का बार बार विरोध किया है, इससे ध्वनित होता है कि उस समय में उक्त बातों के सम्बन्ध में शिथिलाचार हद से ज्यादा बढ चुका था।

"जत्थित्थी करफरिसं, अन्तरिमं कारणेवि उप्पण्णे।
अरहावि करेज्ज सयं, तं गच्छं मूलगुणमुक्कं ॥"

अर्थात्—'जहां कारण विशेष से वस्त्रादि के अन्तर से भी आचार्य तो क्या स्वयं जिन भी स्त्री का हस्त स्पर्श करते हों तो उस गच्छ को मूल गुणों से हीन समझना चाहिए।'

"गोयमा उसग्गाववाएहिं चेव पवयणं ठियं, अणेगंतं च पण्णविज्जइ णो णं एगंतं, णवरं आउक्काय-परिभोगं, तेउकाय समारंभं मेहुणसेवणं च, एते तओ दोसाणवरं एगंतेणं ३

निच्छयओ ३ वाढं ३ सव्वहा सव्वपयारेहिणं आयहियट्ठीणं निसिद्धत्ति।"

अर्थात्—'हे गौतम ! प्रवचन उत्सर्गापवादों पर स्थित है और अनेकान्त रूप से इसका प्रज्ञापन होता है, एकान्तरूप से नहीं, इतना विशेष है कि कच्चे जल का पीना, अग्नि का आरम्भ करना और मैथुन सेवन ये तीन कार्य एकान्त से-निश्चय से दृढता-से-सर्वथा-सर्वप्रकारों से आत्महितार्थियों को निषिद्ध हैं।

उपर्युक्त कथन से इतना तो सिद्ध होता है कि उस समय सचित्त जल का पान अथवा अन्य प्रकार से सचित्त जल का उपयोग, अग्नि का आरंभ-दीवावत्ती के रूप में अथवा शीत रक्षार्थ और ब्रह्मचर्य खण्डन इन तीन बातों के सम्वन्ध में लेखक एकान्त निषिद्ध मार्ग का सूचन करते हैं, जवकि जैनसिद्धान्त केवल मैथुन को निरपवाद बताता है, जल और अग्न्यारंभ से प्रथम महाव्रत में भंग अवश्य लगता है, परन्तु चतुर्थ महाव्रत को छोड़ शेष सभी महाव्रतों में अपवाद माने गये हैं उक्त महानिशीथ के पाठ में सचित्त जल तथा अग्न्यारंभ को जो एकान्त निषिद्ध लिखा है उसका कारण यही है कि उस काल में पार्श्वस्थादि जैन श्रमणों में उक्त दो बातों का प्रचार ज्यादा बढ़ गया था, इसी कारण जलारम्भ तथा अग्न्यारम्भ को एकान्त निषिद्ध लिखा है, पर जैन सिद्धान्त इस प्रकार का नहीं है।

उस काल में आर्याओं द्वारा लाया गया, वस्त्र, पात्र, आहार, पानी आदि आचार्य महत्तर आदि लेने लगे थे इसी से सूत्रकार ने इस पद्धति का जोरों से विरोध किया है, जैन निर्ग्रन्थों की उपर्युक्त दशा विक्रम की नवमी दशमी शती का सूचन करती है, यद्यपि विक्रम की पांचवीं शती में जैन श्रमणों में पर्याप्त शैथिल्य बढ़ चुका था, तथापि महानिशीथोक्त अनेक बातें नवमी शती के पूर्वकाल में नहीं थीं, जैसे—मयार—जयारुच्चारणाइं,+संयतीकप्पं+अज्जा कप्पं—सील+तव—दाण भावणा+(मकार—जकार आदि गालि प्रदान, संयतीकल्प, आर्याकल्प, शील-तप-दान भावनात्मक चतुर्विध

धर्म) आदि शब्द-प्रयोग अर्वाचीन शैली के हैं, इनका व्यवहार प्राचीन साहित्य में नहीं होता था, इसी प्रकार स्तेन कथा, भ्रष्टाचार कथा आदि शब्द व्यवहार भी महानिशीथ का निर्माण काल अर्वाचीन ठहराता है। जैन शास्त्रों में ४ विकथाएं प्रसिद्ध हैं, परन्तु प्रस्तुत संदर्भ में ६ विकथाओं के उल्लेख हुए हैं जिनमें "स्तेन कथा" और "परिभ्रष्टाचार कथा" ये दो कथाएं देश की "अराजकता" और धर्मोपदेशक साधुओं की "आचार भ्रष्टता" को सूचित करती हैं, स्तेन कथा आठवीं नौवीं शती और आचार भ्रष्टता विक्रम की नवमी दशवी शती में पराकाष्ठा को पहुंच चुकी थी, यद्यपि इसकी नींव पांचवीं शती में ही लग चुकी थी, तथापि उत्तर भारत में श्रमण वर्ग के मूल गुणों को क्षति पहुंचाने वाली शिथिलता न होने पायी थी, दक्षिण भारत की स्थिति उत्तर भारत से एकदम भिन्न थी, मौर्यकाल से ही, उस प्रदेश में आजीविकादिनग्न सम्प्रदायों का मान था, दिगम्बर जैन सम्प्रदाय भी उत्तर में जन्म पाकर भी दक्षिण में जाकर पनपा था, आजीविक, दिगम्बर जैनों के अतिरिक्त श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय भी थोडे प्रमाण में उस प्रदेश में पहुंच चुका था और तत्कालीन राजशासकों को अपनी तरफ खींचकर अपने सम्प्रदाय का भक्त ही नहीं बनाते थे, बल्कि जैन चैत्यों के निर्माण का उपदेश और उनके निर्वाह के लिए भूमिदान का भी उपदेश करते थे और मंदिरों के साथ मठ बनवाकर वे स्वयं वहां रहते हुए उन जिन मन्दिरों की व्यवस्था में अपनी अध्यक्षता बना लेते थे और धीरे धीरे पक्के मठपति बन जाते थे, इसके परिणाम स्वरूप जनता प्रतिदिन उनकी टीका टिप्पणी ही नहीं बुराइयां तक करने लगी थी, यही वस्तु आगे जाकर "परिभ्रष्टाचार कथा" कहलाई।

"स्तेन कथा" की उत्पत्ति का आधार क्या है, यह बताना कठिन है, फिर भी दशवीं शती तक दक्षिण प्रदेश में बड़ी बड़ी राज्य सत्ताएं निर्बल बन गई थीं, एक दूसरी पर चढ़ाइयां करके अपनी सत्ता का दीपक जलता रखने की चेष्टाएं कर रही थीं इस

"धांधा गर्दी" में लूटेरे अपना काम निकाल लिया करते थे, प्रतिदिन गांव, कस्वे लूटे जाते थे और सर्व साधारण की जवान पर चोरी और लूट की ही वातें होती रहती थीं जिन्हें धर्मोपदेशकों ने "स्तेन कथा" कहकर प्रसिद्ध किया। उक्त सूचनों-संकेतों और परिभाषाओं से प्रमाणित होता है कि महानिशीथ का रचना काल नवमी शती या दशमीं का प्रारम्भ होना चाहिए और रचना प्रदेश दक्षिणा पथ होना चाहिए, सूत्रों में पेट के अर्थ में "उदर" अथवा "कुक्षि" शव्दों के प्रयोग होते हैं, परन्तु प्रस्तुत संदर्भ में "पेट" के अर्थ में अनेक वार "पोट्ट" शव्द का प्रयोग किया है, इससे भी इस सन्दर्भ के निर्माता की "महाराष्ट्रीयता" ज्ञात होती है। अनुयोग के स्थान में दिगम्वर सम्प्रदाय के "धवला" "जयधवला" आदि ग्रन्थों में "अणियोग" शव्द प्रयुक्त हुआ है, उसी प्रकार प्रस्तुत महानिशीथ में भी "अनुयोग द्वार" के स्थान में सर्वत्र "अणिओग दार" शव्द का प्रयोग हुआ है, जो इस ग्रन्थ की "महाराष्ट्रीयता" सूचित करता है।

आवश्यक-चूर्णिकार ने रात्रिक प्रतिक्रमण के अन्त में लिखा है—

"जइ चेइयाणि अत्थि तो वंदंति" अर्थात् रात्रि के प्रतिक्रमण की समाप्ति में "विशाल लोचनदलं" इत्यादि वर्धमान स्तुतित्रय कथन के बाद में यदि वहां जिन प्रतिमायें हों तो उनको वन्दन करें।

उक्त प्रसंग में ही निशीथ विशेष चूर्णिकार ने लिखा है—"जइ चेइयाणि न वंदंति तो मासलहु" अर्थात् रात्रिक प्रतिक्रमण की समाप्ति में "विशाल लोचन दलं" इत्यादि वर्धमान स्तुतित्रय कथन के वाद यदि वहां जिन प्रतिमायें हों और उनको वन्दन न करे तो लघुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त हो।'

महानिशीथकार शाम के प्रतिक्रमण के सम्वन्ध में लिखते हैं—"चेइयेहिं अवंदिएहिं पडिक्कमे चउत्थं" अर्थात्—देववन्दन किये विना शाम का प्रतिक्रमण करें तो चतुर्थभक्त (एक उपवास) का प्रायश्चित्त हो, जहां आवश्यक चूर्णि में प्रायश्चित्त का नाम ही

नहीं था वहां लगभग २०० वर्षों के बाद विशेष चूर्णि में लघुमास प्रायश्चित्त का विधान आया।

शाम के प्रतिक्रमण के पूर्व देववन्दन का सूचन तक आवश्यक चूर्णि में नहीं है, तब महानिशीथ में देववन्दन किये बिना प्रतिक्रमण करने वाले के लिए चतुर्थभक्त (एक उपवास) का प्रायश्चित्त लिखा, इस विधान पर से जो फलितार्थ निकला वह यह कि सभी प्रकार के धार्मिक विधान प्रारम्भ में सीधे और सरल होते हैं, परन्तु उनके रूढ होने के बाद प्रतिव्यक्ति नये मार्ग प्रचलित न हों और सभी आराधक एक ही प्राचीन मार्ग पर चला करें इस आशय से प्रायश्चित्तों की सृष्टि हुई और इस दण्ड नीति को लक्ष्य में रखते हुए निर्बल मानसिक वृत्ति वाले साधक मनुष्य अपने निर्दिष्ट मार्ग में चलते रहे हैं।



महानिशीथ में मुक्तक होने से यह सूत्र नहीं है

"बहुसुरहिगंधवासिय-कंचण-मणितुंगकलसेहिं ।
जम्माहिसेयमहिमं, करेन्ति जह जिणवरो गिरिं चाले ॥
जह इंदं वायरणं, भयवं वायरइ अट्ठवरिसोवि ।
जह गमइ कुमारत्तं, परिणे बोहिंति जह य लोगंतिया देवा ॥"

अर्थात्—'जिस प्रकार बहुत सुगंध गंध से वासित सुवर्ण-मणिमय बड़े कलशों से इन्द्रों ने जन्माभिषेक किया, जैसे जिनवर ने मेरु पर्वत को चलाया, जिस प्रकार आठ वर्ष की उम्र में भगवान ने "ऐन्द्रव्याकरण" कहा, जिस प्रकार से भगवान ने "कुमारावस्था" को बीताया, विवाह किया और जिस प्रकार लोकान्तिक देवों ने भगवन्त को दीक्षा लेने के लिए प्रतिबोध किया इत्यादि सर्व बातों का निरूपण करना है।"

जैन सूत्रों की चूर्णियों-प्राचीन टीकाओं में लिखा है कि "जैन परम्परा में ५०० बातें ऐसी प्रचलित हैं, जो किसी भी सूत्र में नहीं है, केवल उनके प्रतिपादक मुक्तक हैं और इन मुक्तकोक्त बातों को प्रामाणिक माना जाता है, जैसे—

(१) मरुदेवी माता के जीव का अनादि काल से निगोद से निकल कर मोक्ष जाना।

(२)—"वर्ष देव कुणालायां, दिनानि दश पंच च।
मुष्टिप्रमाणधाराभि-र्यथा रात्रौ तथा दिवा ॥"

उक्त मुक्तक को बोलने से कुणाला में १५ दिन तक अतिवृष्टि हुई, कुणाला का विनाश हुआ और मुक्तक बोलने वाले कुरुड उत्कुरुड साधु जल प्रलय से मरकर नरक गति को प्राप्त हुए।

(३) भगवान महावीर को जन्माभिषेक के लिए इन्द्र मेरु पर्वत पर ले गये, और जलभरे कलशों का परिमाण और महावीर

का लघुशरीर देखकर इन्द्र के मन में शंका उत्पन्न हुई, क्या इतने छोटे भगवान् इतने कलशों का जल सहन कर सकेंगे ? इन्द्र का मनोभाव जानकर भगवान् ने इन्द्र की गोद में से अपना बायाँ पग लंबाकर अंगूठे से मेरु को दबाया, पर्वत जोरों से कांपा और इन्द्र ने अपनी अल्पज्ञता के बदले में भगवान् से क्षमा मांगी ।

उक्त प्रकार के मुक्तक अथवा मुक्तकों की बातें, कथानकों, चरित्रों, सूत्रों की चूर्णियों, टीकाओं में उपलब्ध होती हैं और विकीर्ण रूप में, एकत्रित नहीं, किसी भी मूल सूत्र में उक्त प्रकार के मुक्तक दृष्टिगोचर नहीं होते, परन्तु "जिणवरो गिरिं चाले" यह मुक्तक निशीथ के मूल में उपलब्ध होता है, इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि प्रस्तुत महानिशीथ असल महानिशीथ सूत्र नहीं, किन्तु पिछला किसी का वनाया हुआ कृत्रिम निबंध है ।

६. **अध्ययन**--महानिशीथ के षष्ठ अध्ययन का नाम "गीतार्थ विहार" है । गीतार्थ विहार के प्रारम्भ में ही नन्दीषेण मुनि का वृत्तान्त "भयवं ता कीस दस पुव्वी नंदीसेणे महायसे पव्वज्जं चिच्चा गणियाए गेहं पविट्ठो" इस सूत्र से प्रारम्भ किया है । माया प्रकृति के ऊपर आसड साधु का दृष्टान्त है । मेघमाला आर्या और रज्जा आर्या के दृष्टान्तों के संक्षिप्तसार भी दिये हैं ।

दशपूर्वधर नन्दीषेण—

नन्दीषेण के विषय में सूत्रकार लिखते हैं—

"भयवं ता कीस दस पुव्वी नंदीसेणे महायसे पव्वज्जं, चिच्चा गणियाए गेहं पविट्ठो पमुच्चइ ॥"

"गोयमा तस्स य सिट्ठं मे, भोगहलं खलियकारणं ।
भवभयभीओ तहवि, दुयं सो, पव्वज्जमुवगओ ॥
पायालमवि उढ्ढमुहं सग्गं होज्जा अहोमुहं ।
ण उणो केवलिपण्णत्तं, वयणं अण्णहा भवे ॥

अण्णं सो वहूवाए वा, सुयनिवद्धे वियारिउं।
गुरुणो पायसूले मोत्तूणं, लिंगं निव्विसओ गओ॥
तं मे वयणं सरमाणो, दंतभग्गो सकम्मुणा।
भोगहलं कम्मं वेदेइ, वध्धपुट्ठनिकाइयं॥
भयवं ते केरिसोवाए, सुयनिवद्धे वियारिए।
जेणुज्झिय सुसासण्णं, अज्जवि पाणे धरेइ सो॥
एते ते गोयमोवाए, केवलीहिं पवेइए।
जहा विसयपराभूओ, सरेज्जा सुत्तमिमं मुणी॥
तंजहा–तवमट्ठगुणं घोरं, आढवेज्जा सुदुक्करं।
जया विसए उइज्जंति, पडणा–ऽणसणविसेवि वा॥
काउं वंधिऊण मरियव्वं, नो चारित्तं विराहए।
अह एयाइं न सक्केज्जा, ता गुरुणो लिंगं समप्पिया॥
विदेसे जत्थ नागच्छे, पउत्ती तत्थ गंतूण।
अणुव्वए पालेज्जा, णो णं भविया णिद्धंधसे॥"

अर्थ—'गौतम ने पूछा—हे भगवान् ! दशपूर्व के ज्ञाता, महायशस्वी नन्दीषेण ने दीक्षा को छोड़कर गणिका के घर में प्रवेश कर साधुवेश को छोड़ दिया ? भगवान ने कहा हे गौतम ! मैंने नन्दीषेण को कहा था कि अव तक तुम्हारा भोगफल-कर्मशेष है, जो तुम्हारे चारित्र में स्खलना का कारण होगा, इस पर भी वह संसार से भयभीत होकर दीक्षित हो गया, पाताल ऊर्ध्व मुख हो जाय, स्वर्ग अधोमुख हो जाय, परन्तु केवलिकथित वचन कभी अन्यथा नहीं होता, नन्दीषेण के भोगफलक कर्म का उदय हुआ, गौतम ! नन्दीषेण ने शास्त्रोक्त अनेक उपाय किये, परन्तु एक भी सफल नहीं हुआ, जिससे श्रामण्य का त्याग कर साधुवेष गुरु के चरणों के पास छोड़कर वह दूर देश में चला गया और अव भी जीवित है, हमारे उस वचन का स्मरण करता हुआ, भग्नदन्त हाथी की तरह अपने वद्ध, स्पष्ट, निकाचित कर्म का फल

भोग रहा है। गौतम ने पूछा—भगवन् ! नन्दीषेण ने भोगफल कर्म को हटाने के लिए क्या क्या उपाय किये और उसमें वह निष्फल हुआ, भगवान ने कहा—गौतम ! वे उपाय ये थे-जो केवल ज्ञानियों ने वताए थे। विषयों का उदय होने पर मुनि आठ गुणा घोर तप करना शुरू करे, पर्वत के शिखर से गिरकर, विष भक्षण कर अथवा गला में पाश डालकर मरने की चेष्टा करे, पर चारित्र विराधना करने को तैयार न हो, उक्त उपायों से भी मरण न होने की दशा में विषय पीडित मुनि अपना साधु वेष-रजोहरण आदि गुरु को सौंप कर दूर देश में चला जाये जहां से उसकी किसी भी प्रवृत्ति का पता न चले, वहां रहता हुआ अणुव्रत पाले, पर निर्दय न बने।

नन्दिषेण ने अनेक मरणोपायों के प्रयोग किये पर वह सफल नहीं हुआ, अन्त में पर्वत की चोटी से गिरने को वह चढ़ा कि—आकाशवाणी हुई—"न मरेज्ज तं" अर्थात्—तू नहीं मरेगा, नन्दीषेण अब टंकछिन्न पर्वत पर चढ़ा तो निम्न प्रकार की आकाशवाणी हुई—

"अयाले नत्थि ते मच्चू, चरिमं तुज्झं इमं तणू ।
ता वद्धपुट्ठं भोगहल, वेइत्ता संजमं कुरु ॥"

अर्थ—"तेरा अकाल मरण नहीं है, तेरा यह अंतिम शरीर है। अतः वद्ध स्पष्ट भोगफल को खपा कर फिर संयम की आराधना कर, इस प्रकार चारण श्रमणों के दो वार निषेध करने पर नन्दीषेण ने अपना श्रमण चिन्ह गुरु के पास जाकर रख दिया और वह दूर देशान्तर चला गया।

"धी धी धी धी अहण्णेणं, पेच्छ जं मेऽणुचिट्ठियं ।
जच्चकंचणअमत्तं णं असुईसरिसं मए कयं ॥
खणभंगुरस्स देहस्स, जा विवत्ती ण मे भवे ।
ता तित्थयरस्स पामूलं पायच्छित्तं चरामिऽहं ॥

अर्थ—'धिक् धिक् धिक् धिक् भाग्यहीन मैंने यह क्या किया ? जात्य सुर्वण सदृश आत्मा को मैंने अपवित्र मेले के सदृश वना लिया है, जव तक इस क्षण भंगुर शरीर का विनाश नहीं हो जाता तव तक मैं तीर्थंकर चरणों में जाकर प्रायश्चित्त कर लूं।' नन्दीषेण के वृत्त में से जो नवीन वातें उपलब्ध होती हैं वे ये हैं—

(१) नन्दीषेण को यहां दशपूर्वी कहा है, दशपूर्वधरों की गणना आगम व्यवहारियों में की गई है। आगम-व्यवहारी उत्कृष्ट गीतार्थ नन्दीषेण के जीवन में उक्त प्रकार की घटना घटित होना संभवित है या नहीं इस वात पर विद्वानों को गंभीरता पूर्वक विचार करना चाहिए। आवश्यक चूर्णि और हेमचन्द्रीय वीर चरित्र में आने वाला नन्दीषेण चरित्र उक्त चरित्र से विल्कुल नहीं मिलता, यहां नन्दीषेण को चरम शरीरी अर्थात् इसी भव में मोक्षगामी वताया है, तव आवश्यक चूर्णि आदि में नन्दीषेण मुनि का अनुत्तरोपपाती देव होना लिखा है, नन्दीषेण के विपय में आवश्यक चूर्णि में निम्नलिखे अनुसार वृतान्त उपलब्ध होता है—

"नन्दीषेण मुनि के एक शिष्य का मन संयममार्ग में नहीं लगता था—नन्दीषेणजी के प्रतिवोध देने पर भी उनका एक शिष्य चारित्र छोड़कर गृहस्थाश्रम में चले जाने की चिन्ता में था, यह परिस्थिति जानकर मुनि नन्दीषेणजी सपरिवार राजगृह के परिसर में विचरे, राजकुटुम्व और नन्दीपेणजी का परिवार सव वन्दनार्थ मुनियों के उतारे पर गये, परिणीत और परित्यक्ता नन्दीषेण की रानियां वन्दनार्थ आईं, सभी राजकुमारियां युवतियां और रूपसुन्दरियां थीं, अन्यान्य साधुओं की वातों से नन्दीषेण के उस शिष्य को पता लगा कि श्वेत वस्त्रधारिणी सभी स्त्रियां मेरे गुरु द्वारा परित्यक्ता रानियां हैं, जिनका रूप सौन्दर्य स्वर्गीय अप्सराओं से भी वढ़कर है, ऐसा सौन्दर्यनिधान परिवार छोड़कर मेरे गुरु महाराज संयमी वने हैं तथापि संसार की वात तक नहीं करते तव मैंने तो पीछे छोड़ा ही क्या है ? कि जिसके मोह से खींचा हुआ संसार

में जाने की सोच रहा हूँ, नन्दीषेण के संसारी परिवार को देखने मात्र से उसका चित्त स्थिर हो गया और अपनी मानसिक वृत्तियों की हकीकत गुरु के आगे प्रकट कर मिथ्या दुष्कृत किया।

नन्दीषेण की प्रतिबोध शक्ति—

"एवं सो पेम्मपासेहिं, बद्धोऽवि सावगत्तणं।
जहोवइट्ठं करेमाणो, दस अहिए व दिणे दिणे ॥
पडिबोहिऊण संविग्गे, गुरुपामूलं पवेसइ।
संपयं बोहिओ सोवि, दुमुहेण जहा तुमं ॥
धम्मं लोगस्स साहेसि, अत्तकज्जंमि मुज्झसि।
नूणं विक्केणुयं धम्मं, जं सयं णाणुचेट्ठसि ॥
एवं सो वयणं सोचा, दुमुहस्स सुभासियं।
थर थर थरस्स कंपंतो, निन्दिउं गरहिउं चिरं ॥
हा हा हा हा अकज्जं मे, भट्ठसीलेण किं कयं।
जेणं तु मुत्तो अप्पसरे, गुंडिओऽसुइकिमी जहा ॥"

अर्थ—'इस प्रकार वह प्रेम के पाशों में बंधा हुआ भी श्रावकपन यथार्थ पालता हुआ प्रतिदिन दश दश अथवा दश से अधिक को प्रतिबोध देकर वैरागियों को गुरु के पास भेजता था, एक दिन दूसरे को प्रतिबोध देते हुए नन्दीषेण को एक दुर्मुख ने प्रतिबोध किया, उसने कहा—तुम दूसरों को तो प्रतिबोध करते हो और अपने खुद के कामों में मुंझाते हो। क्या तुमने धर्म को विक्रेय पदार्थ समझ रक्खा है जो दूसरों को देते रहते हो और स्वयं लेने की चेष्टा नहीं करते। इस प्रकार का दुर्मुख का सुभाषित वचन सुनकर नन्दीषेण थर थर कांपने लगा और देर तक अपनी निन्दा गर्हा करता हुआ बोला-'हाय हाय मेरे अकार्य को धिक्कार हो, शील से भ्रष्ट होकर मैंने यह क्या किया! अल्प जल में गिरकर कृमि जैसें कीचड़ में लिपट जाता है वैसे ही मैं कृमि की तरह अशुचि में लिपट गया हूं।'

"एस मा गच्छति एत्थं, चिट्ठंताणेत्र गोयमा।
घोरं चरिऊण पायच्छित्तं, संविग्गोऽम्हेहिं भासियं॥
घोरवीरतवं काउं, असुहं कम्मं खवेत्तु य।
सुक्कज्झाणे समारुहिय, केवलं पप्प सिज्झिही॥
ता गोयमेयण्णएणं बहूवाए वियारिया।
लिंगं गुरुस्स अप्पेउं, नंदिसेणेण जह कयं॥"

अर्थ—'हे गौतम हमारे यहां रहते नन्दीषेण बाहर नहीं निकलेगा पर हमारा कहा हुआ कठोर और वीर सेव्य तप कर संविग्नभाव द्वारा अशुभ कर्मों का क्षय कर शुभ ध्यान में आरूढ़ होकर केवलज्ञान को पाकर अन्त में नन्दीषेण सिद्धिपद को प्राप्त करेगा। इस दृष्टान्त से हे गौतम ! विचलितचित्त हुए साधु को उक्त अनेक उपायों से संयम की रक्षा करनी चाहिए और किसी भी उपाय से आत्म शान्ति न होने पर साधु वेष गुरु को अर्पण करके स्वयं दूर देश में जाकर जीवन विताये जैसे कि नन्दीषेण ने किया।

नन्दीषेण का ही नहीं जितने भी महानिशीथ में साधु साध्वियों के अथवा गृहस्थों के दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं, एक दम नवीन प्रतीत होते हैं, जहां तक हमने देखा है प्राचीन श्वेताम्बर साहित्य में ये दृष्टान्त दृष्टिगोचर नहीं होते, ग्यारहवीं शती के बाद के ग्रन्थों में इनमें के कुछेक दृष्टान्त देखे जाते हैं जो महानिशीथ के इस संदर्भ से लिये हों ऐसा ज्ञात होता है, ये दृष्टान्त अतिशयोक्ति पूर्ण और उत्सर्गोत्सर्ग मार्ग का प्रतिपादन करने वाले हैं, जिस समय शिथिलाचार पराकाष्टा को पहुंच चुका था, उस समय उसके विरोध में लिखे गये साहित्य में अतिशयोक्तियों का होना स्वाभाविक है, परन्तु अन्य सूत्रोक्त सैद्धान्तिक वातों से विरुद्ध जाना यह अक्षन्तव्य है, कल्पाध्ययन, व्यवहाराध्ययन और निशीथाध्ययन जैनश्रमण श्रमणियों के आचार-विचार विषयक आलोचना-प्रायश्चित्त के आकर ग्रन्थ हैं, पंच कल्प भाष्य, जीतकल्प, जीतकल्प भाष्य आदि

परवर्ती ग्रन्थ जो उक्त आकरग्रन्थों के आधार से बने हैं, ये सभी सूत्र, इनकी पंचांगियां और इनके आधार से बने संक्षिप्त ग्रन्थ एक दूसरे से मिलते हैं, परस्पर विरुद्ध नहीं जाते, पर महानिशीथ का मार्ग उन सब से निराला है, महानिशीथ का प्रायश्चित्त विधान जो प्रस्तुत निवन्ध के सातवें आठवें अध्ययनों में दिया है, बहुधा अन्य सूत्रोक्त प्रायश्चित्तविधानों से विरुद्ध पड़ता है, इसके प्रायश्चित्त विधान को पिछले आचार्यों ने मान्य ही नहीं किया यह निश्चित है, प्रामाणिक ग्रन्थ पर उसके निर्माण काल के बाद लगभग दो सौ वर्ष के पहले या कुछ पीछे भी प्राकृत भाष्य चूर्णि और संग्रहणी आदि व्याख्यांग बन जाते थे, परन्तु आज तक महानिशीथ पर उक्त व्याख्यांगों में से एक भी नहीं बना इससे सिद्ध है कि प्रस्तुत महानिशीथ को हमारे पूर्वाचार्यों ने मान्य नहीं किया था और इसमें विहित प्रायश्चित्त को भी गीतार्थों ने मान्य नहीं किया था, कम से कम एक हजार वर्ष से भी पुराने महानिशीथ पर आज तक भाष्य, चूर्णि, संग्रहणी आदि का न बनना यही सूचित करता है कि यह संदर्भ कदापि सर्वमान्य नहीं हुआ था और न आज ही सर्व मान्य है। सर्व प्रथम अंचलगच्छ के आचार्यों ने महानिशीथ को अप्रामाणिक उद्घोषित किया था, बाद में पौर्णमिकों, साधु पौर्णमिकों आदि ने इसको प्रामाणिक मानने से इन्कार किया था, इससे खास आपत्तिजनक बातों को हटाकर ३४०० सौ श्लोक परिमित महानिशीथ की लघुवाचना तैयार की तो किसीने ४२०० श्लोक परिमित मध्यमवाचना, परन्तु आज उक्त दो वाचनाओं में से एक भी वाचना उपलब्ध नहीं होती, वर्तमान समय में महानिशीथ की एक बृहद् वाचना ही मिलती है जो, ४५४४ श्लोकात्मिका है, विक्रम की चौदहवीं शती के ताडपत्रीय सूची पत्रों में महानिशीथ की तीनों वाचनाओं के उल्लेख मिलते हैं।

कैसे गुरु को गच्छपति बनाना चाहिए ?—

"से भयवं केरिसगुणजुत्तस्स णं गुरुणो गच्छनिक्खेवं कायव्वं ? गोयमा ! जे णं सुसीले, जे णं दढव्वए, जे णं दढचारित्ते.

जे णं अणिंदियंगे, जेणं अरहे, जेणं गयरागे, जेणं गयदोसे, जेणं निट्ठियमोह मिच्छत्तमलकलंके, जेणं उवसंते, जेणं सुविण्णाय-जगट्ठितिए, जेणं सुमहावेरग्गमग्गमल्लीणे, जेणं इत्थिकहा पडिणीए, जेणं भत्तकहा पडिणीए जेणं तेणकहा पडिणीए, जेणं रायकहापडिणीए, जे णं जणवयकहा पडिणीए, जेणं अच्चंतमणुकंपसीले, जेणं परलोगपच्चवायभीरू, जे णं कुसीलपडिणीए, जेणं विण्णायसमयसब्भावे, जेणं गहियसमयपेयाले, जे णं अहाणिसाणुसमयं ट्ठिए खंतादिअहिंसालक्खणदसविहे समणधम्मे।"

अर्थ--'भगवन्' किस प्रकार के गुण युक्त गुरु पर गच्छ को स्थापित करना चाहिए ? भगवान् ने कहा--जो सुव्रत, सुशील, दृढव्रत, दृढचारित्र अनिन्दितांग, योग्य, रागद्वेषरहित मोह मिथ्यात्व के मल कलंक से मुक्त है, शान्तप्रकृति, जगत्स्थिति को यथार्थ जानकर महान् वैराग्य मार्ग में लीन रहने वाला, स्त्रीकथा, भक्तकथा, चौरकथा, राजकथा और देशकथा के विरोधी, अत्यन्त दयालु, परलोक के अपाय से डरने वाले, कुशीलियों के विरोधी, सिद्धान्त का सद्भाव जाननेवाले, आगम के पारंगत, रात दिन क्षान्त्यादि अहिंसालक्षण दशविध श्रमणधर्म में स्थित हों इत्यादि गुणगणविभूषित गुरु पर गच्छ को निर्भर करना चाहिए, गच्छपति बनने वाले गुरु में कैसे गुण होने चाहिए इसका ऊपर संक्षेप में सार लिखा है, वर्णन तो वड़ा विस्तृत है पर हमने नमूना मात्र बताया है, गच्छपति बनने की इच्छा रखने वाले हमारे भाइयों को महानिशीथ के छठवें अध्ययन का यह भाग पढ़ना चाहिए ताकि उन्हें अपनी योग्यता का अनुभव हो सके।

कल्की और आचार्य श्रीप्रभ—

"से भयवं केवतियं कालं जाव एसा आणा पवेइया, गोयमा जाव णं महायसे (महावयधरे) महासत्ते महाणुभागे सिरिप्पभे

अणगारे, से भयवं केवइएणं कालेणं से सिरिप्पभे अणगारे, भवेज्जा, गोयमा ! होही दुरंतपंतलक्खणे, अदट्ठव्वे, रोद्दे, चंडे, पयंडे, उग्गचंडदंडे, निम्मेरे, निक्किवे, निग्घिणे, नित्तिंसे, कूरयर पावमती, अणायरिये, मिच्छदिट्ठी कक्की णाम रायाणे, से णं पावे पाहुडियं भमाडिउकामे सिरिसमणसंघं कयत्थेज्जा। जाव णं कयत्थेइ ताव णं गोयमा जे केइ तत्थ सीलड्ढे महाणुभागे अचलियसत्ते तवोहणे अणगारे तेसिं च पाडिहेरियं कुज्जा सोहम्मे कुलिसपाणी एरावणगामी सुरवरिन्दे एवं च गोयमा देविंदवंदिए दिट्ठपच्चएणं सिरिसंमणसंघे णिट्ठेज्जा णं, कुणयपासंडधम्मे, जाव णं गोयमा ! एगे अविइज्जे, अहिंसा लक्खणखंतादिदसविहे धम्मे । एगे अरहा देवाहिदेवे, एगे जिणालए, एगे वंदे पूए दक्खे सक्कारे सम्माणे महायसे महासत्ते महाणुभागे दढसीलव्वयनियमधारए तवोहणे साहू तत्थ णं चंदमिव सोमलेसे, सूरिए इव तवतेयरासी, पुढवी इव परीसहोव सग्गसहे मेरुमंदरधरे इव निप्पकंपे, ठिए अहिंसालक्खण खंतादिदसविहे धम्मे। से णं सुसमणगणपरिवुडे निरुव्भमणा-मलकोमुईजोगजुत्ते इव गहरिक्खपरियरिए गहवई चंदे अहियरं विराएज्जा गोयमा ! से णं सिरिप्पभे अणगारे । ता गोयमा ! एवइयं कालं जाव एसा आणा पवेइया, से भयवं उड्ढं पुच्छा, गोयमा ! तओ परेण उड्ढं हायमाणे कालसमए तत्थ णं जे केई छक्कायसमारंभवज्जी से णं धण्णे, पुण्णे, वंदे पूए नमंसणिज्जे सुजीवियं जीवियं तेसिं।

अर्थ—'भगवन् ! यह आज्ञा कब तक प्रचलित रहेगी ? भगवान ने फरमाया गौतम ! जब महाशय महाव्रतधर महासत्व और महाभाग्यशाली श्रीप्रभ नामक अनगार भरतक्षेत्र में विचरते

वं श्रीप्रभ अनगार किस समय में होंगे ! भगवान ने उत्तर दिया--गौतम भविष्य में बुरे तथा हल्के लक्षणों वाला अद्रष्टव्य, रौद्र प्रकृतिक, क्रोधी, प्रचण्डक्रोधी, उग्रप्रचंडदण्डकारकं, निर्मर्याद, निर्दय, निर्घृण, घातक, क्रूरतर, पापस्वभावी, अनार्य और मिथ्या दृष्टि कर्की नामक राजा होगा जो पापी प्राभृतार्थ श्रमण संघ को भटकाने की इच्छा वाला श्रमण संघ की कदर्थना करेगा, वह संघ कदर्थना करता होगा तब हे गौतम---श्रमण संघ में जो शील सम्पन्न महाभाग्यशाली और अचलित सत्त्वधारी तपोधन साधु होंगे उनका वज्रपाणि और ऐरावणगामी सौधर्म सुरपति सांनिध्य करेगा, इस प्रकार हे गौतम ! देवेन्द्र वन्द्रित श्रमणसंघ का अतिशय देखकर इन्द्र कुनय प्रवृत्त दर्शनों तथा धर्मों को श्री श्रमण संघ में मिलाकर नाम शेष कर देगा, इस प्रकार हे गौतम ! उस समय पृथ्वी पर एक अहिंसादिलक्षण क्षान्त्यादि दशविध धर्म ही रह जायगा, एक देवाधिदेव अर्हन्, एक जिनालय, एक वन्द्य, एक पूज्य, एक दक्ष, एक सत्कार्य, एक सन्मान्य, महाशय, महासत्य, महानुभाव दृढशीलव्रत नियमव्रतधारक और तपोधन, एक ही साधु शेष रह जायगा, वह चन्द्र समान शीतलेश्यावान्, सूर्य समान तेजःपुञ्ज, पृथ्वी के समान परीष-उपसर्गों को सहन करने वाला मेरुपर्वत की तरह अहिंसालक्षण क्षान्त्यादि दशविधधर्म में निष्प्रकंप भाव से स्थित, वह उत्तम श्रमण गण से परिवृत, निर्मल आकाश में पूर्ण चंद्रिका के योग से युक्त ग्रह नक्षत्रों से परिवृत उडुपतिचन्द्र की तरह वह अधिक दीप्तिमान् होगा। हे गौतम ! वह श्रीप्रभ अनगार ऐसा होगा, इसलिए हे गौतम ! यह आज्ञा श्रीप्रभ अनगार के अस्तित्वकाल तक चलेगी ऐसा समझ लेना चाहिए।

गौतम ने पूछा---भगवान ! उसके बाद कैसा वर्तारा वर्तेगा ? भगवान ने कहा--गौतम ! श्रीप्रभ अनगार का स्वर्गवास होने के बाद अधिक हानिशील समय आयेगा, वहां जो कोई साधु षट्काय जीवों का आरम्भ वर्जक होगा वहां, धन्य, पुण्य, वंद्य, पूज्य तथा नमस्करणीय होगा और उसका जीवित सुजीवित माना जायगा।

चैत्यवास की उत्पत्ति—

"ते णं कालेणं तेणं समएणं अमुणियसमयसब्भावेहिं तिगारवमईए मोहिएहिं, णाममेत्तआयरियमयहरेहिं सड्ढाईणं सयासाओ दविणजायं पडिग्गहिय २ थंमसहस्संसिए सके सके ममत्ताए चेइयालगे कारविऊणं ते चेव दुरंतपंतलक्खणाअहमा हमेहिं आसइए ते चेव चेइयालगमासीय गोविऊणं च बलवीरिय पुरिसक्कारपरक्कमं संते बले संते वीरिए संते पुरिसक्कारपरक्कमे चइऊणं उग्गाभिग्गहे अणिययविहारे णीयावासमासइत्ता णं सिढिलीहोऊणं संजमाइसुट्ठिए पच्छा परिचिच्चा णं इह लोगपरलो गावायं अंगीकाऊण य सुदीहसंसारं तेसु चेव मढदेवउलेसु अच्चत्थं गढिरे सुत्थिरे ममीकाराइकारेहिं णं अभिभूए सयमेव विचित्तमल्लदामाईहिं णं देवच्चणं काउमब्भुज्जए, जं पुण समय सारं परं इमं सव्वण्णुवयणं तं दूरसुदूरयरेण उज्झियं।

अर्थ—उस काल उस समय में जिन्होंने शास्त्र का सद्भाव देखा नहीं है और त्रिगौरवात्मक मदिरा से मत्त बनकर नाम मात्र के आचार्य महत्तरों ने श्रावकों से धन संग्रह कर करके स्तंभ सहस्त्रों पर खडे ऐसे ममता से अपने अपने जिनालय बनवाकर दुरन्त प्रान्त लक्षण वाले उन अधमाधमों को सोंपा और उन ने उन्हीं चैत्यालयों को अपना निवास स्थान बनाया और बल वीर्य पुरुषकार पराक्रम का त्याग कर उग्र अभिग्रह और अनियत विहार को छोड़कर शिथिल बनकर रहे, बाद में इस लोक परलोक के विघ्नों को और दीर्घसंसारभ्रमणों को अंगीकार करके उन्हीं देवकुल मठों में अत्यासक्त हो स्थिर होकर रहने लगे।

ममता, अहंकार आदि से इतने अभिभूत हो गये कि वे स्वयं विचित्र पुष्पमाला आदि से देवपूजन करने को तत्पर हो गये, सिद्धान्त का सार भूत जो हिंसा प्रतिषेधक आगम वचन था उसे दूर से भी दूर फेंक दिया।

प्रायश्चित्त-पद–

महानिशीथ का सप्तम अध्ययन "चिइवंदणा-पडिकमणं, जीवाजीवाइतत्तसब्भावं" इस सूत्र खंड से शुरू होता है, यह अध्ययन प्रायश्चित्त पदों का विधायक है, लेखक ने पाराञ्चित तक के प्रायश्चित्तों की सूचना तक की है और प्रायश्चित्त पदों को संख्यातीत लिखा है, जैन परिभाषा के अनुसार संख्यातीत शब्द को असंख्यात न मानकर "अतिसंख्यक" अर्थ में लेना चाहिए, क्योंकि प्रायश्चित्त पद "संख्यात" होते हैं, असंख्यात नहीं, प्रायश्चित्त सूत्र की स्थिति कब तक रहेगी ? प्रायश्चित्त पद कितने हैं ? प्रयाश्चित्त पदों में प्रथम पद कौनसा है ? इत्यादि प्रश्नोत्तरों द्वारा निरूपण करते हुए संदर्भकार लिखते हैं—

"से भयवं केवइयं कालं जाव इमस्स णं पायच्छित्त सुत्तस्साणुट्ठावणं वहिही ? गोयमा ! जाव णं कक्की नामे रायाणे णिहणं गच्छिय एक्कजिणाययणमंडियं वसुहं, सिरिप्पभे अणगारे, भयवं, उट्ढं पुच्छो-गोयमा ! उड्ढं ण केई एरिसे पुण्णभावे होही, जस्स णं इणमो सुयक्खंधं उवइसेज्जा ।"

अर्थ—'भगवन् ! कितने समय तक इस प्रायश्चित्त सूत्र की प्रतिष्ठा चालू रहेगी ? भगवान ने कहा—गौतम ! कक्की नाम राजा के मरण के बाद श्रीप्रभ अनगार के समय में पृथ्वी केवल जिन चैत्य मंडित होगी, तब तक, गौतम ने पूछा—भगवन् ! बाद में ?, भगवान ने कहा—गौतम ! बाद में ऐसा कोई पुण्यशाली पुरुष नहीं होगा, जिसे कि इस श्रुतस्कन्ध का उपदेश दिया जाये ।

"से भयवं केवइयाइं पायच्छित्तस्स णं पयाइं ! गोयमा ! संखाईयाइं पायच्छित्तस्स णं पयाइं, से भयवं तेसिं णं संखाईयाणं पायच्छित्तपयाणं किं तं पढमं पायच्छित्तस्स णं पयं, गोयमा ! पइदिणकिरियं, से भयवं किं तं पइदिणकिरियं, गोयमा ! जमणु समया अहणिसापाणोवरमं जावानुट्ठेयव्वाणि संखेज्जाणि

आवस्सगाणि ?, से भयवं केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ जहा णं आवस्सगाणि ? गोयमा असेसकसिणट्ठकम्मक्खयकारिउत्तम सम्मद्दंसणनाणचारित्तऽच्चंतघोरवीरुग्गकट्ठसुदुक्करतव साहणट्ठा एसु परुविज्जन्ति नियनियविभत्तुद्दिट्ठपरिमिएणं काल समएणं पयं पएणाहन्निसाणुसमयमाजम्मं अवस्समेव तित्थयराइ सु कीरंति अणुट्ठिज्जंति उवइसिज्जंति परूविज्जंति पण्णविज्जंति सययं एएणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ गोयमा ! जहा णं आवस्सगाणि।"

अर्थ—'हे भगवन् ! प्रायश्चित्तों के पद कितने होते हैं ? गौतम ! प्रायश्चित्तों के पद संख्यातीत होते हैं। भगवन् ! उन संख्यातीत प्रायश्चित्त पदों में पहला प्रायश्चित्त पद कौनसा है ? भगवान ने कहा—गौतम ! "प्रतिदिन-क्रिया" यह प्रथम प्रायश्चित्त पद है। गौतम—भगवन् ! प्रतिदिनक्रियापद का तात्पर्यार्थ क्या है ? "प्रथम प्रायश्चित्त पद" इस नाम से क्यों व्यवहृत होता है ? उत्तर—गौतम ! क्योंकि प्रतिसमय, दिन, रात, यावज्जीवन पर्यन्त अनुष्ठेय अनेक आवश्यक कहलाते हैं।

प्रश्न—भगवन् ! प्रतिदिन कर्त्तव्य आवश्यक क्यों कहलाते हैं ? उत्तर—गौतम ! सम्पूर्ण अष्टकर्मक्षयकारक उत्तम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, अत्यन्त घोर, वीर, उग्र, कष्टकारक सुदुष्कर तप की साधना इन आवश्यकों के नाम से प्ररूपित की जाती है, अपने अपने लिए विभक्त काल समयों में प्रत्येक पद दिन, रात, समय से लेकर जीवन पर्यन्त तीर्थंकरादि के उद्देश से निरंतर अवश्य अनुष्ठित किया जाता है, उपदेश किया जाता है, प्ररूपणा-प्रज्ञापना की जाती है, इस कारण से गौतम ! इसे 'आवश्यक' इस नाम से व्यवहृत किया है।

से भयवं किं तं बितियं पायच्छित्तस्स णं पयं ? गोयमा ! बीयं तइयं, चउत्थं, पंचमं जाव णं संखाईयाइं पायच्छित्तस्स णं पयाइं ताव णं एत्थं चेव पढमपायच्छित्तपए अंतरोवगयाइं समणु-

विद्धं से भयवं केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ, गोयमा ! जओ णं सव्वावस्सगकालाणुपेही भिक्खू णं रोद्दट्टज्झाणरागदोसकसाय गारवममकाराइसु णं अणेगपमायालंवणेसु च सव्वभावभावंतरंतरेहिं णं अच्चंतविप्पमुक्को भवेज्जा, केवलं तु नाण-दंसण-चारित्त-तवो-कम्मपज्झायज्झाणसद्धम्मावस्सगेसु अच्चंतं अणिगूहियवलवीरिय-परक्कमो सम्मं अभिरमेज्जा, जाव णं सद्धम्मावस्सगेसु अभिरमेज्जा ताव णं सुसंवुडासवदारे हवेज्जा, जाव णं सुसंवुडासवदारे हवेज्जा ताव णं सजीववीरिएणं अणाइभवगहण-संचियाण दुट्ठट्ठकम्मरासीण एगंतणिट्ठवणेक्कवद्धलक्खो अहाकमेण झाणणिरुद्धजोगो भवित्ताणं निदट्ठासेसकम्मिंधणो विमुक्कजाइज-रामरणचउगइसंसारपासवंधवन्धणो य सव्वदुक्खविमोक्खते-लोक्कसिहरनिवासी भवेज्जा, एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जहा णं एत्थ चेव पढमपए अवसेसाइं पायच्छित्तपयाइं अंतरोवगयाइं समणु विद्धं (द्धाणि) ।"

अर्थ—भगवान् ! अब प्रायश्चित्त का दूसरा पद कौन सा है ? उत्तर–गौतम ! प्रायश्चित्त का दूसरा तीसरा, चौथा, पांचवां यावत् संख्यातीतवां प्रायश्चित्त पद यहां प्रथम प्रायश्चित्त पद में अन्तर्गत हो गये हैं, अन्योन्य विद्ध हैं। भगवान् ! किस कारण से यह कहा जाता है ? उत्तर–गौतम ! सर्वावश्यकों के काल का अनुप्रेक्षक भिक्षु रौद्र, आर्तध्यान, राग, द्वेष, कषाय, गौरव, ममकारादि से तथा अनेक प्रमादालंवनों से सर्वभाव-भावान्तरों से विमुक्त हो जाता है, मात्र ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-कर्म-स्वाध्याय-ध्यान-सद्धर्मावश्यकों में अत्यन्त वल-वीर्य-पराक्रम को लगाकर इनमें अभिरमण करता है, जव तक वह सद्धर्मावश्यक कामों में लीन रहता है तब तक वह स्वजीव-वीर्य से अनादिभवसँचित दुष्ट आठ कर्म राशियों के कर्मक्षय में लक्ष्य रखता है, क्रमशः ध्यान से योगनिरोध कर संपूर्ण कर्मांशो से मुक्त होकर जन्मजरामरणचतुर्गतिसंसार

के पाश वन्धनों को छोड़ कर सर्वदुःखों से मुक्त त्रैलोक्यशिखर-निवासी हो जाता है। इस कारण से हे गौतम ! यह कहा जाता है कि सर्व प्रायश्चित्त पद प्रथम प्रायश्चित्त पद के अन्तर्गत हो जाते हैं, जिन्हें सर्वविद् ज्ञानी जानते हैं।

प्रायश्चित्त दान में अवैधता—

"जे केई भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खायपावकम्मे दिक्खादिणगपभिईओ अणुदियहं जावज्जीवाभिग्गहेणं सुविसत्थे भत्तिभरनिब्भरे जहुत्तविहीए सुत्तत्थमणुसरमाणे अणण्णमाणसेगग्गचित्ते तग्गयमाणससुहज्झवसाए, थयथुईहिं ण ते कालियं चेइए वंदेज्जा तस्स णं एगाए वाराए खवणं पायच्छित्तं उवइसेज्जा, बीयाए छेयं, तइयाए उवट्ठावणं, अविहीए चेइयाइं वंदे तओ पारंचियं, जओ अविहीए चेइयाइं वंदेमाणो अण्णेसिं असद्धं संजणेइ इइ काऊणं। जो पुण हरियाणिं वा, बीयाणि वा, पुप्फाणि वा, फलाणि वा, पूयंट्ठाए वा, महिमट्ठाए वा, सोभट्ठाए वा, संघट्टेज्ज वा, संवट्टावेज्ज वा छिंदेज्ज वा छिंदावेज्ज वा, संघट्टिज्जंताणि वा छिंदिज्जंताणि वा परेहिं समणुजाणेज्ज वा, एएसु सव्वेसु उवट्ठावणं, खमणं, चउत्थं, आयंबिलं, एक्कासणगं, णिव्विगइयं, गाढागायढभेदेणं जहा संखेणं णेयं।"

अर्थ—'जो कोई भिक्षु वा भिक्षुणी जो संयत और विरत है, जिसने पाप कर्म को हटाकर उसका प्रत्याख्यान किया है, दीक्षा दिन से लेकर प्रति दिन यावज्जीव के अभिग्रह से सुविश्वस्तभाव से भक्ति में तत्पर रहता हुआ यथाविधि सूत्रार्थ को—याद करता हुआ अनन्य मन, एकाग्रचित्त और तद्गतमन और शुभाध्यवसाय वाला होकर स्तव स्तुतियों से त्रिकाल देववन्दन न करे उसे एक बार में उपवास प्रायश्चित्त का उपदेश करना, दूसरी बार छेद, तीसरी वार छेदोपस्थापना प्रायश्चित्त देना, अविधि से

चैत्य वन्दन करे तो पारांचित करना, क्योंकि अविधि से चैत्यवन्दन करने वाला दूसरों के मन में अश्रद्धा उत्पन्न करता है, इसलिए जो कोई हरियाली, वीज, पुष्प वा फल का पूजार्थ, महिमार्थ, या शोभार्थ संघट्ट करे, वा अन्य से संघट्ट कराये, उक्त हरितादिक छेदन करे, दूसरों से कराये, संघट्टन छेदन करने वालों का अनुमोदन करे तो इन सर्व स्थानों में गाढ अगाढ भेद से यथा संख्य,१ उपस्थापना, २ क्षपण, ३चतुर्थभक्त, ४आयंबिल, ५एकाशनक, ६निर्विकृतिक, ७प्रायश्चित्त देना।

प्रायश्चित्त प्रदान करने वाले गीतार्थ पूज्य आचार्यवर्ग से मेरा अनुरोध है कि उक्त प्रायश्चित्तों के औचित्य पर विचार करें, त्रैकालिक देव वन्दन न करने पर साधु साध्वी को फिर उपस्थापना करने का प्रायश्चित्त दान केवल अनागमिक है, वृहत् कल्प, व्यवहार, निशीथाध्ययन जैसे मौलिक प्रायश्चित्त सूत्रों में त्रैकालिक देववन्दन करने न करने की चर्चा ही नहीं है, तव प्रायश्चित्त की वात ही कैसी ? विक्रम की ग्यारहवीं शती के वाद की साधु सामाचारियों में साधुओं के लिए प्रतिदिन सात वार चैत्यवन्दन करने का विधान निश्चित हुआ है और उसके वाद श्रावकों के लिए ७-५ अथवा ३ वार चैत्यवन्दन करने नियत हुए हैं, इस स्थिति में महानिशीथोक्त प्रायश्चित्त कहां तक प्रामाणिक हो सकता है, साथ ही महानिशीथ सूत्र कितना प्राचीन हो सकता है ? उक्त प्रायश्चित्त तो एक नमूना है, सारे सप्तमाध्ययन में इसी प्रकार के प्रायश्चित्त लिखे हैं, जिनका न छेद सूत्रोक्त प्रायश्चित्तों से मेल है, न जीतव्यवहारोक्त प्रायश्चित्तों से, हमारे विचारानुसार तो यह संदर्भ न किसी सुविहित आचार्य की कृति हैं, न चैत्यवासी आचार्य विशेष के पुरुपार्थ का फल, किन्तु किसी संविग्न-पाक्षिक आचार्य की व्यवस्थित योजना का फल है, इसके संयोजक आचार्य कोई अच्छे विद्वान् न होते हुए भी शासनवात्सल्य से और पराकाष्ठा को पहुंची हुई तत्कालीन साधुवर्ग की शिथिलता को देखकर उन्होंने इस कृति द्वारा श्रमण वर्ग को मार्गगामी वनाने की चेष्टा की है, प्रायश्चित्तों की

उग्रता तथा अतिशयिता का भी यही कारण है, महानिशीथ के निर्माता यदि सुविहित आचार्य होते तो उपधान की समाप्ति में जिनचैत्य में नन्दी की क्रिया कराकर श्वेत ताजेपुष्पों की माला जिन के पूजा देश से अपने हाथों में लेकर गृहस्थ के गले में पहिनाने का विधान कभी नहीं करते, इससे ज्ञात होता है कि महानिशीथकार सुविहित आचार्य न होकर वे स्वयं शिथिलाचारियों की पंक्ति के विद्वान् थे और खास करके अग्निकाय, वायुकाय आरंभ के कट्टर विरोधी थे और ब्रह्मचर्य के बड़े पक्षपाती थे।

विचित्र प्रायश्चित्त-विधान—

"जेसिं च णं वंदंताण वा, पडिक्कमंताण वा, दीहं, मज्जारं वा छिन्दिऊण गयं हवेज्जा तेसिं च णं लोयकरणं, अण्णत्थ गमणं तम्माणं उग्गतवाभिरमणं एयाइं ण कुव्वंति तओ गच्छबज्झे, जेणं तु महोवसग्गसाहगं उप्पाइयं दुन्निमित्तममंगलावहं हविया।"

"सोवाहणो परिसक्केज्जा, उवट्ठावणं, उवाहणाओ ण पडिगाहेज्जा खवणं! तारिसे णं संविहाणगे उवाहणाओ ण परिभुंजेज्जा खवणं।"

"चेइएहिं अवंदिएहिं पडिक्कमेज्जा, चउत्थं एत्थं च अवसरं विण्णेयं, पडिक्कमिऊणं च विहीए रयणीए पढमजामं अणूणगं सज्झायं न करेज्जा दुवालसं, पढमपोरिसीए अणाइक्कंताए संथारगं संदिसावेज्जा छट्ठं, असंदिसाविएणं संथारगेणं संथारेज्जा चउत्थं, अपच्चुपेहिए थंडिल्ले संथारेइ चउत्थं, दो उडं संथारेज्जा चउत्थं।"

अर्थ—'जिन वन्दन अथवा प्रतिक्रमण करने वालों के बीच में होकर सर्प अथवा बिल्ली निकल गई हो तो उनका लोच करना चाहिए, उनको उस स्थान से दूसरे स्थान चले जाना चाहिए और

उस विघ्न के अनुरूप कठोर तप का आचरण कराना चाहिए। अगर ये प्रतीकार वह न करें तो उसे गच्छ बाहर किया जाय। क्योंकि जिससे महोपसर्गसाधक उक्त दुर्निमित्त हुआ है वह अमंगलकारक होता है।

पग में जूते पहनकर इधर उधर घूमे उसे फिर उपस्थापना कराई जाय, उपानह (पगरखे) न रक्खे तो क्षपण (छट्ठ), आवश्यक प्रसंग पर पगरखे न पहिने तो क्षपण, देववन्दन किये विना प्रतिक्रमण करे तो चतुर्थभक्त, यहां अवसर को ध्यान में लेकर दे, प्रतिक्रमण करके रात्रि का प्रथम पहर पूरा हो तब तक स्वाध्याय न करे तो ५ उपवास, प्रथम पहर पूरा होने के पहले संस्तारक का आदेश ले तो छट्ठ, आदेश लिये बिना संस्तारक पर सोवे तो चतुर्थभक्त, स्थंडिलप्रतिलेखना किये बिना संस्तारक करेगा तो ५ उपवास, अविधि से संथारा करे तो चतुर्थ भक्त× उत्तरपट्ट बिना संथारा करे तो चतुर्थ भक्त, दुपट संथारा करे तो चतुर्थभक्त प्रायश्चित्त दिया जाय।'

वन्द्य वन्दक के बीच में वन्दना के समय में सांप अगर बिल्ली का निकलना कैसा खतरनाक माना है। महापारिष्ठापनिका निर्युक्ति में मृत साधु के शरीर में पिशाच का प्रवेश हो कर मृतक खड़ा हो कर अमुक साधु का नाम पुकारे तो उसका तत्काल लोच कर उसे उस स्थान से विहार कराने की बात जैसी यह हकीकत है, कर्मफलभोग के सिद्धान्त पर निश्चल रहने वाले जैन श्रमणों का ऐसी भ्रामक बातें लिखना और लिखे मुजब प्रतीकार न करने वाले साधु को गच्छ बाहर करने की बातें करना सचमुच ही जैन तत्त्वज्ञान से विरुद्ध हैं, प्रायश्चित्त अपराधी की भावना बदलने के लिए प्रतीकार रूप हैं, न कि कर्मफल को मिटाने के लिये, जैन श्रमणों को परीषहों को जीतकर स्वावलम्वी होने का उपदेश है, सुख साधनों का उपयोग न करने पर उन्हें कोई प्रायश्चित्त नहीं लगता, जैन शास्त्र में गच्छपति आचार्य को पांच जात के चर्म

रखने का अधिकार दिया गया है, जिससे कि वह समय विशेष में उनका उपयोग कर सकें, वृद्ध अथवा राजकुमारादि सुकुमार प्रव्रजित कष्टाऽसहिष्णुओं के उज्जडभूमि में चलने के समय पगों के नीचे उनकी तलियां बांधी जाती थीं, न कि सिले हुए उपानह (जूते) पहनाये जाते थे, महानिशीथकार साधु को जूते न रखने, न पहनने पर प्रायश्चित्त का विधान करते हैं जो विचित्र है, जब साधु को उपानह रखने का ही अधिकार नहीं है तो न रखने पर, न पहनने पर दंड कैसा ? यह चीज आचार्य को ही रखने का अधिकार है अन्य साधु को नहीं, इस परिस्थिति में महानिशीथकार का उपानह संबंधी प्रायश्चित्त का विधान अनागमिक है ।

शाम को प्रतिक्रमण करने के पूर्व देववन्दन करने की रीति अर्वाचीन है प्राचीन नहीं, इस दशा में शाम को देववन्दन किये बिना प्रतिक्रमण करे उसे चर्तुथभक्त प्रायश्चित्त देने की बात महानिशीथकार का मार्शल लॉ मात्र है ।

जैन साधुओं की उपधि में पूर्वकाल में उत्तरपट्टक की परिगणना ही नहीं थी, महावीर निर्वाण के बाद लगभग ६०० वर्षों में उत्तर पट्टक को उपधि में स्थान मिला है, इस स्थिति में उत्तर पट्टक के बिना संथारा करने वाले को प्रायश्चित्त कैसे दिया जा सकता है ?'

संस्तारक-शयन-विधि—

"सव्वस्स समणसंघस्स साहम्मियाणमसाहम्मियाणं च सव्वेसि पि जीवरासिस्स सव्वभावभावंतरंतरेहिं णं तिविहंणं तिविहेणं खामणमरिसावणं अकाऊण चेइएहिं अवंदिएहिं गुरुपायमूलं च उवहिदेहस्सासणादीणं च सागारेणं पच्चक्खाणेणं अकएणं कण्णविवरेसु च कप्पासरूवे हिं तु अटठइएहिं संथारम्हि गएज्ज, एएसु पत्तेगं उवटठावणं, संथारगम्हिउगऊणमिमस्स णं चम्मस रीरस्स गुरुपारंपरिएणं समुवलद्धे हिं तु इमेहिं परममंतक्खरेहिं दससुवि दिसासु अहि-हरि-करिदुटठसत्तवाणमंतरपिसायादीणं

रक्खंण करेज्जा उवट्ठावणं, दससुविंदिसासु रक्खं काउणं दुवाल सांहिं भावणाहिं अभावियाहिं सोवेज्जा पणुवीसं आयंबिलाणि, एक्कं निद्दं सोऊण पडिबुद्धे ईरियं पडिक्कमेत्ता णं पडिक्कणम-कालं जाव सज्झायं न करेज्जा दुवालसं, पसुत्ते दुसुमिणं कुसुमिणं वा ओगाहेज्जा सएणं ऊसासाणं काउस्सग्गं, रयणीए छीएज्ज वा खासेज्जा वा हलहग-पीढगदंडगेण खुडुक्कगं पउरिया खमणं, दिवा वा राओ वा हास खेड्उकंदप्पणाहियवायं करेज्जा उवट्ठावणं।"

अर्थ—'दैवसिक प्रतिकमणं के वाद स्वाध्याय न करे, "सव्वस्स-समणसंघस्स" आदि आयरिय उवज्झाय की गाथाओं का भाव लेकर त्रिविध त्रिविध क्षामण मर्षण न करे, सागारिक प्रत्याख्यान न कर, कानों में रुई के फाये न डालकर संथारे पर वैठे तो प्रत्येक में उपस्थापना का प्रायश्चित्त, संथारे पर वैठकर इस चर्ममय शरीर की गुरुपरम्परा लव्ध इन परम मन्त्राक्षरों द्वारा दशों ही दिशाओं में वारह भावना भावकर सर्प, सिंह, हस्ती, दुष्ट, प्रान्त, वानमंतर, पिशाचादि से रक्षा न करे तो उपस्थापना, दश दिशाओं में रक्षा न कर बारह भावना न भाकर सो जाय तो २५ आयंबिल प्रायश्चित्त, न करे तो ५ उपवास, सोते हुए दुःस्वप्न, कुस्वप्न भी होते हैं इसलिए १०० श्वासोश्वासका कायोत्सर्ग करे, रात्रि में छींक, खाँसी करे या हलपीठ हेड से खट खटाए तो क्षपण (२ उपवास) दिन या रात में हास्य, क्रीड़ा, कंदर्प, नास्तिकवाद की वातें करें तो उपस्थापना कराना। रात को सोते समय कानों में रुई के फाहे डालने, गुरुपरम्परागत मंत्राक्षरो से सर्प पिशाचादि की रक्षा करने, रात्रि प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में कुसुमिण दुसुमिण की शान्ति के लिए १०० श्वासोच्छास का कर्योत्सर्ग करने आदि का विधान महानिशीथ के पूर्ववर्ती किसी सूत्र या सामाचारी में दृष्टिगोचर नहीं होता, बौद्ध भिक्षुओं में विक्रम की पांचवीं छठी शती में तन्त्रवाद का प्रचार हो गया था, पर जैन श्रमण इससे वचे हुए थे, वौद्धों के दक्षिण, पश्चिम, उत्तर भारत से चले जाने के वाद जैन

श्रमणों को भी कहीं कहीं मन्त्र तन्त्र का शौक लगा था, उपसर्गहर-स्तवादि स्तोत्रों की उत्पत्ति इसी समय में हुई थी और यह समय था विक्रम की नवमी दशवीं शती।

अप्काय-तेजस्काय-स्त्रीशरीरावयव-संघट्ट का प्रायश्चित्त—

"जेणं भिक्खू आउकायं वा तेउकायं वा इत्थीसरीरावयवं वा संघट्टेज्जा नो णं परिभुंजेज्जा से णं तस्स पणुवीसं आयंबिलाणि उवइसेज्जा।"

अर्थ—'जो भिक्षु अप्काय, तेजस्काय, स्त्रीशरीरावयवों का संघट्ट मात्र करता है, इनका उपभोग नहीं करता उसके लिए प्रायश्चित्तों में पच्चीस आयंबिलों का उपदेश करना।'

स्त्री शरीरावयवों के उपभोग का प्रायश्चित्त—

"जे उण परिभुंजेज्जा से णं दुरंतपंतलक्खणे अदट्ठव्वे, महापावकम्मे, पारंचिए, अहा णं महातवस्सी हवेज्जा तओ सत्तरिं मासखवणाणं, सत्तरिं अद्धमासखवणाणं, सत्तरिं दुवालसाणं, सत्तरिं दसमाणं, सयरिं अट्ठमाणं, सयरिं छट्ठाण, सयरिं चउत्थाणं, सयरिं आयंबिलाणं, सयरिं एगट्ठाणाणं, सयरिं सुद्धायामेगासणगाणं, सयरिं निव्विगइयाणं, जाव णं अणुलोम पडिलोमेणं निद्दिसेज्जा एयं च पच्छित्तं जे णं भिक्खूअवीसंते समणुट्ठेज्जा से णं आसण्णपुरेकडे णेए।"

अर्थ—'जो स्त्री शरीरावयवों का उपभोग करता है वह दुरंत प्रान्तलक्षण वाला, अद्रष्टव्य, महापापकर्मा, पाराञ्चित होता है, यदि अपराधी महातपस्वी हो तो उसे ७० मास क्षपण, ७० अर्धमास क्षपण, ७० द्वादशभक्त, ७० दशम भक्त, ७० अष्टम भक्त, ७० षष्ठ भक्त, ७० चतुर्थभक्त, ७० आयंबिल, ७० एकलठाणे, ७० शुद्ध

आचाम के एकासनक, ७० निर्विकृतिक, यावत् अनुलोम प्रतिलाम रीति से उक्त प्रायश्चित्त देना, इस प्रायश्चित्त को जो भिक्षु विना विराम लिए वहन करे—उसको आसन्न भव्य समझना चाहिए।'

"से भयवं इणमो सयरिं सयरिं अणुलोमपडिलोमेणं केवतियं कालं जाव समणुदिट्ठिहि गोयमा! जाव णं आयारमंगं वाएज्जा।"

अर्थ—'सो भगवन्! यह ७०-७० मासक्षपणादि अनुलोम प्रतिलोम रीति से देने की पद्धति कितने काल तक चलेगी? गौतम! जब तक आचारांग अंग सूत्र विद्यमान रहेगा तब तक उक्त प्रायश्चित्त पद्धति भी चलती रहेगी।'

"जया णं गोयमा! पच्छित्तसुत्तं वोच्छिज्जिहिइ तया णं चंदाइच्चगहरिक्खतारगाणं सत्त अहोरत्ते तेयं णो विप्फुरेज्जा, इमस्स णं वोच्छेदे गोयमा! कसिणसंजमस्स अभावो, जओ णं सव्वपावपणिट्ठवणे चेव पच्छित्ते, सव्वस्स णं तवसंजमाणुट्ठाणस्स पधाणमंगे परमविसोहिपए पवयणस्सावि णं णवणीयसारभूए पण्णत्ते, इणमो सव्वमवि पायच्छित्तं, गोयमा जावइयं एगत्थ संपिंडियं हवेज्जा तावइयं चेव चंउ गुणाएगस्स णं गच्छाहिवइणो मयहरपवित्तिणीए य चउगुणं उवइसेज्जा, जओ णं सव्वमवि एएसिं पयडियं हवेज्जा, अट्ठाणमिम चेव पमायवसं गच्छेज्जा, तओ अण्णेसिं संते वा वलवीरिए सुट्ठुतरागमच्चुज्जमं हवेज्जा, अहा णं किंचि सुमहत्तमवि तवोणुट्ठाणमब्भुज्जमेज्जा ता णं न तारिसाए असद्धाए किंतु मंदुच्छाहे समणुट्ठेज्जा भग्गपरिणामस्स य निरत्थगमेव कायकिलेसे, एएणं पवुच्चइ-गोयमा! जहा णं गच्छाहिवइमाईणं इणमो सव्वमवि पच्छित्तं जावइयं एगत्थ संपिंडियं हवेज्जा तावइयं चेव चउगुणं उवइसेज्जा।"

अर्थ—'हे गौतम! जब इस प्रायश्चित्त सूत्र का विच्छेद होगा तब चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारे, सात अहोरात्र तक निस्तेज हो

जायेंगे, इस प्रायश्चित्त सूत्र के विच्छेद होने पर गौतम ! सम्पूर्ण संयम का अभाव होगा, क्योंकि सर्व पापों का नाश करने वाला प्रायश्चित्त सूत्र तप संयमानुष्ठान का मुख्य अंग है। इतना ही नहीं परम विशुद्धि का प्रधान अंग है, प्रवचन का मक्खन-सारोद्धार कहा गया है, गोतम ! यह सर्व प्रायश्चित्त सम्मिलित करने पर जो राशि संख्या हो उससे चार गुना प्रायश्चित्त एक गच्छपति आचार्य को, महत्तर को और प्रवर्तिनी को दिया जाता है, क्योंकि सर्व स्थानों को इन्हीं ने दिखाया है और ये ही जब प्रमाद के वश उनकी विराधना करते हैं यह अस्थानीय है, ऐसा करके ये बलवीर्य होते हुए मंद श्रद्धावान् बनते हैं और अन्यों को मन्दोत्साह बनाते हैं, भग्नपरिणामी का कायक्लेश भी निरर्थक है, इसलिए कहा जाता है—हे गौतम ! इन सर्व प्रायश्चित्तों का जो पिंड होता है उससे चतुर्गुण गच्छाधिपति आदि को प्राप्त होता है, इतना ही महत्तर को और इतना ही प्रवर्तिनी को देना चाहिए।'

समाज में साधु से आचार्य, महत्तर की और सामान्य साध्वी से प्रवर्तिनी की जवाबदारी अधिक होने से इनको प्रायश्चित्त भी अधिक होता है, यह तो शास्त्रोक्त मार्ग है, परन्तु भिक्षु, भिक्षुणी से आचार्य, प्रवर्तिनी को चतुर्गण प्रायश्चित्त बताना शास्त्रोक्त नहीं है, भिक्षु को और भिक्षुणी को शास्त्र में मूल पर्यन्तप्रायश्चित्त की प्राप्ति बताई है, उपाध्याय को अनवस्थाप्य और आचार्य को पारांचित की, इस शास्त्रीय नियमानुसार एक साधु को मूल प्रायश्चित्त की प्राप्ति हुई तो उसी अपराध में आचार्य को चार गुना मूल किस प्रकार दिया जायगा ? मूल के ऊपर दो प्रायश्चित्त हैं, अनवस्थाप्य और पारांचित, एक पद ऊपर चढ़ाकर अनवस्थाप्य और दो पद चढ़ने पर पारांचित आते हैं, परन्तु चार पद चढ़ने पर तो कोई प्रायश्चित्त ही नहीं रहता, आचार्य, प्रवर्तिनी को चर्तुगुण प्रायश्चित्त कैसे दिया जा सकेगा, ज्यों ज्यों महानिशीथ के प्रायश्चित्त के विधान की गहराई में पहुंचते हैं त्यों त्यों विधान निराधार प्रतीत होने लगता है, महानिशीथ में उसका समर्थन नहीं और अन्य सूत्रों में प्रमाण नहीं, इस स्थिति में महानिशीथ के

विधानों की गहराई में उतरने के बजाय दूसरे उपलब्ध होने वाले ऐतिहासिक सूचनों और निर्देशों पर विचार विमर्श करना ही विशेष उपयोगी होगा ।

प्रायश्चित्त सूत्र का विच्छेद होगा तब सात अहोरात्र तक चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारों का प्रकाश मंद होने की बात भी जैन आगमों से विरुद्ध जाती है, जैन आगमों में अन्तिम तीर्थंकर के निर्वाण के समय में, पूर्वश्रुत आदि के विच्छेद के समय में, जैन धर्म के विच्छेद के समय में और अग्नि के विच्छेद के समय में क्षणभर अन्धकार होने का अवश्य लिखा है, पर प्रायश्चित्त सूत्र के विच्छेदकाल में सप्त अहोरात्र तक सूर्य, चन्द्रादिका प्रकाश स्फूर्तिहीन हो जायगा ऐसा किसी शास्त्र में नहीं लिखा, हमारी राय में तो प्रायश्चित्त सूत्र के मान में महानिशीथकार ने यह एक तोप दागी है ।

कुगुरुओं की उत्पत्ति--

"से भयवं केवइएणं कालेणं पहे कुगुरू भवीहंति ? गोयमा ! इओ य अद्धतेरसण्हं वाससयाणं साइरेगाणं समइक्कंताणं परओ भवींसु से भयवं केणं अट्ठेणं, गोयमा तक्कालं इड्ढि-रस-साय-गारव संगए ममीकार-अहंकार-ग्गीएअंतोसंपज्जलंतबोंदी अहमहंतिकयमाणसे अमुणियसमयसब्भावे, गणी भवींसु, एएणं अट्ठेणं । से भयवं किं सव्वेऽवि त एवंविहे तक्कालं गणी भवींसु ? गोयमा ! एगंतेणं नो सव्वे, केई पुण दुरंतपंतलक्खणे, अदट्ठव्वे णं एगाए जणणीए जमगसमगं पसूए निम्मेरे, पावसीले, दुज्जायजम्मे, सुरोद्दपयं डाभिग्गहियदूरमहामिच्छदिट्ठी भविंसु, से भयवं कहं ते समुवलक्खेज्जा ? गोयमा ! उस्सुत्तुम्मग्गपवत्तणुद्दिसणअणुमती पच्चएणं वा से भयवं जे णं गणी किंचि आवस्सयं पमाएज्जा ? गोयमा ! जे णं गणी अकारणिगे किंचि खणमेगमवि पमाए से णं अवंदे उवइसेज्जा ।"

अर्थ—'भगवन् ! कितने समय में जिन मार्ग में कुगुरु होंगे ? गौतम ! अब से साढे बारह सौ से कुछ अधिक वर्ष बीतने पर कुगुरु प्रकट होंगे। भगवन् ! इसका कारण क्या होगा ? भगवान् ने कहा—गौतम ! उस समय ऋद्धि गौरव, रस गौरव और शाता गौरव के संगत होकर ममता अहंकार आदि दुर्गुणात्मक अग्नि से जिनके शरीर जाज्वल्यमान हैं और "मैं भी हूँ, मैं भी हूँ" इस प्रकार के अहंकारी और शास्त्र का सद्भाव न जानने वाले गण के स्वामी होंगे, हे गौतम ! सभी तो ऐसे न होंगे, परन्तु कतिपय ऐसे अद्रष्टव्य मुख होंगे जो एक माता से एक साथ जन्म लेने पर भी निर्मर्याद, पापशील, दुर्जातजन्म, रौद्र प्रचंडाभिग्रहिक महामिथ्या-दृष्टि होंगे, भगवन् ! वे कैसे पहिचाने जायेंगे ? उत्तर—गौतम ! उत्सूत्र, उन्मार्ग प्रवर्तन और उसके प्रचार से और ऐसे कार्यों में सहायक होने से प्रत्यय होगा कि ये कुगुरु हैं, भगवन् ! कोई गणी आवश्यक कार्य में प्रमादी हो तो क्या करना ? उत्तर—गौतम ! जो गणी (आचार्य) निष्कारण क्षण भर भी प्रमाद करे तो उसे अवन्दनीय ठहराना, अर्थात् उसे वन्दन न करना चाहिए यह उसके प्रमाद का प्रायश्चित्त है।'

उक्त संवाद में गौतम के "जिन मार्ग में कुगुरु कब होंगे ?" इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फरमाया कि अब से साढे बारह सौ वर्ष के ऊपर कुछ वर्ष बीतने पर, कुगुरु प्रकट होंगे, यहां सूत्रकार ने यह स्पष्ट नहीं किया कि यह संवत् कौन है कि जिसके बारह सौ पच्चास से अधिक वर्ष बीतने पर मार्ग में कुगुरु प्रकट होंगे ? यद्यपि समय कहां से गिनना इसका स्पष्टीकरण नहीं है तथापि यह समय वीर निर्वाण का ही समझना चाहिये, क्योंकि सूत्रों में जहां कहीं भगवान् महावीर के मुख से भविष्यवाणी कराई है वहां सर्वत्र वीर निर्वाण के वर्ष को लक्ष्य में रखकर कराई है, अतः यहां भी वर्ष वीर निर्वाण का ही अपेक्षित है इसमें तो शंका ही नहीं, पर देखना इतना ही है कि उक्त समय में महावीर के धर्म मार्ग में ऐसी कुछ घटनाएं भी घटी थीं या नहीं।

वीर निर्वाण सं० १२५०, विक्रम सं० ७८० में पड़ता है जो प्रसिद्ध आचार्य श्री हरिभद्र सूरि के सत्ता समय का अन्तिम भाग है, महानिशीथ के जीर्णोद्धार का कार्य याकिनी महत्तारा धर्मपुत्र हरिभद्र के द्वारा होने की बात महानिशीथ के आदर्शों के टिप्पणों में लिखी मिलती है, उसकी संगति भी हो जाती है, जिन्होंने महानिशीथ के विद्यमान संदर्भ का निर्माण किया है उनकी दृष्टि में आचार्य हरिभद्र का सत्ता समय विक्रम की आठवीं शती था और इसी मान्यता के आधार पर कुगुरुओं की उत्पत्ति वीर निर्वाण की तेरहवीं शती के उत्तरार्ध में रक्खी है, जो वास्तविक भी है, क्योंकि श्री हरिभद्रसूरि दीर्घजीवी आचार्य थे, इनके जीवन ने विक्रम की आठवीं शती के चारों ही चरणों का स्पर्श किया था ऐसी हमारी मान्यता है, और—

"पणपण्णबारससए, हरिभद्दसूरी आसि पुव्वकई ।
तेरससयवीस अहिए, वरिसेहिं वप्पभट्टिपहू ॥६५॥"

अर्थात्—'निर्वाण से १२५५ में (विक्रम सं० ७८५ में) पूर्व कवि हरिभद्रसूरि और वीरनिर्वाण से १३२० में (विक्रम सं० ८५० में) वप्पभट्टि प्रभु हुए । यह गाथा रत्न संचय प्रकरण में संगृहीत है जो हमारे अनुमान की पुष्टि करती है, इस स्थिति में "पंचसए पण-सीए" इत्यादि गाथा के आधार से हरिभद्रसूरि को छट्ठी शती में खींच ले जाना अनेक विरोधों का बवंडर खड़ा करना है । मूल में आये हुए "अद्धतेरसण्हं वाससयाणं साइरेगाणं समइक्कंताणं परओ भविसु ।" इन प्राकृत शब्दों का संस्कृत अनुवाद इस प्रकार होता है "अर्धत्रयोदशानां सातिरेकानां समतिक्रान्तानां परतो भविष्यन्ति" अर्थात् कुछ अधिक साढ़े बारह सौ वर्ष होने पर कुगुरु उत्पन्न होंगे, मूल के सातिरेक शब्द से साढ़े बारह सौ के ऊपर पाँच वर्ष अति-रिक्त मान लिए जायें तो हरिभद्रसूरि का अन्तिम समय अर्थात् स्वर्ग-वास का समय ७८५ का आयेगा जो कुगुरुओं की उत्पत्ति का खास समय होगा । महानिशीथकार के इस समय में 'जैन परम्परा' में

कुछ मतभेद अथवा नवीनता सूचक घटनाएं घटी थीं या नहीं इस विषय पर थोड़ा ऊहापोह करना पड़ेगा ।

विक्रम की आठवीं शती में कोई नया मत या गच्छ निकलने का प्रमाण नहीं मिलता, परन्तु यह शती जैन श्रमणों के शैथिल्य का प्रधान समय था, श्री धर्मदास गणि की उपदेश माला, आचार्य हरिभद्र के ग्रंथ और महानिशीथ के अमुक लेखों से सिद्ध होता है कि वह समय शिथिलाचारियों के प्राबल्य का समय था ।

"से भयवं किं तं सविसेसं पायच्छित्तं जावणं वयासि-गोयमा ! वासारत्तियं१ पंथगामियं२ वसहिपारिभोगियं३ गच्छायारमइक्कमणं४ सुत्तीभेयपयरणं५ सत्तमंडलीधम्माइक्कमणं६ अगायत्थगच्छपयाणजायं७ कुसील-संभोगजं८ अविहीए पवज्जादाणोवट्ठावणाजायं९ अओग्गस्स सुत्तत्थोभयपण्णवणजायं१० अणाययरोक्कसवेरत्तणाजायं११ देवसियं१२ राइयं१३ पक्खियं१४ मासियं१५ चाउम्मासियं१६ संवच्छरियं१७ एहियं१८ परलोइयं१९ मूलगुणविराहणं२० उत्तरगुणविराहणं२१ आभोगाऽणाभोगयं२२ आउट्टिपमायदप्पकप्पियं२३ वयसमणधम्म संजमतव नियमकसायदण्डगुत्तीयं२४ मय-भय-गारव-इंदियजं२५ वसणायंक रोद्दट्टज्झाणरागदोस-मोह-मिच्छत्त दुट्ठकूरज्झवसायसमुत्थं२६ ममत्तमुच्छापरिग्गहारंभजं२७ असमिइत्तपट्ठिमसासित्त२८ धम्मंतरायसंतावुव्वेगाऽसमाहाणुप्पायगं२९ संखाईयासायणाण्णयरासायणयं३० पाणवहससमुत्थं३१ मुसावायसमुत्थं३२ अदत्तादाणगहणसमुत्थं३२ मेहुणसेवणासमुत्थं३४ परिग्गहकरणसमुत्थं३५ राइभोयणासमुत्थं-३६ माणसियं३७ वाइयं३८ काइयं३९ असंजमकरण कारवण अणुमइसमुत्थं४० जावणं नाणदंसण-चारित्तायारसमुत्थं, कि वहुणा जावइयाइं तिगालचिइवन्दणादओ प्रायच्छित्तगणाइं पण्णत्ताइं तावइयं च पुणो विसेसेणं गोयमा ! असंखेयहा पण्णविज्जंति,

अओ एवं संपधारेज्जा जहा णं गोयमा ! पायच्छित्तसुत्तस्स णं संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाइं अणियोगदाराइं संखेज्जे अक्खरे।"

'भगवन् ! वह सविशेष प्रायश्चित्त कैसा होता है ? उत्तर—गौतम ! सविशेष प्रायश्चित्त यह है—१ वर्षारात्रिक, २ पंथ गामिक ३ वसति परिभोगज, ४ गच्छाचारातिक्रमणज, ५ सुप्तिभेदप्रकरणज, ६ सप्तमंडलिधर्मातिक्रमणज, ७ अगीतार्थपदप्रदानजात, ८ कुशील-संभोगज, ९ अविधिप्रव्रज्यादान—उपस्थापनाजात, १० अयोग्याग्रे सूत्रार्थोभयप्ररूपणजात, ११ अनादरात्मोत्कर्ष वैरत्त्वजात, १२ दैवसिक, १३ रात्रिक, १४ पाक्षिक, १५ मासिक, १६ चातुर्मासिक, १७ सांवत्सरिक, १८ ऐहिक, १९ पारलोकिक,२० मूलगुणविराधनजात, २१ उत्तरगुणविराधनज, २२ आभोगानाभोगज, २३ आकुट्टिप्रमाददर्पकल्पिक, २४ व्रत—श्रमणधर्म-संयम तपो—नियम-कषाय- दण्ड-गुप्तीय, २५ मद-भय-गौरव-इन्द्रियज, २६ व्यसनातंक—रौद्रध्यान-राग-द्वेष-मोह-मिथ्यात्व-दुष्ट-क्रूराध्यवसायसमुत्थ २७ ममत्व-मूर्छा-परिग्रहारंभज, २८ असमितित्व-पृष्ठिमांसाशित्व-धर्मान्त राय-संतापोद्वेग-असमाधानोत्पादज, २९ संख्यातीताशातनान्यतराशातनाज्ञात, ३० प्राणवध समुत्थ, ३१ मृषावाद समुत्थ, ३२ अदत्तादान-ग्रहण समुत्थ, ३३ मैथुन सेवन समुत्थ, ३४ परिग्रह करण समुत्थ, ३५ रात्रिभोजन समुत्थ, ३६ मानसिक, ३७ वाचिक ३८ कायिक, ३९ असंयम कारण-करण-अनुमतिसमुत्थ, ४० यावत् ज्ञान दर्शन-चारित्राचार समुत्थ, ४१ ज्यादा क्या लिखें, जितने त्रिकाल चैत्य-वंदनादि प्रायश्चित्त स्थान कहे हैं उतने अथवा उनसे भी अधिक सविशेष प्रायश्चित्त स्थान हैं, हे गौतम ! ऐसा समझना चाहिए कि प्रायश्चित्त सूत्र की संख्यात निर्युक्तियाँ, संख्यात संग्रहणियां, संख्यात अनुयोगद्वार और संख्यात अक्षर हैं।

"अणंते पज्जवे जाव णं दंसिज्जंति उवदंसिज्जंति, पवेदिज्जंति, परूविज्जंति, कालाभिग्गहत्ताए, दव्वाभिग्गहत्ताए भावाभिग्ग-

हत्ताए, जाव णं आणुपुव्वीए, अणाणुपुव्वीए, जहा जोगं गुणट्ठा-णेसु ंति बेमि ।"

अर्थात्—अनन्त पर्यव यावत् दिखाये जाते हैं, उपदेश का विषय किये जाते है, प्रवेदन किये जाते हैं, प्रज्ञापित किये जाते हैं, प्ररूपित किये जाते हैं, कालत्व के अभिग्रह से, द्रव्यत्वाभिग्रह से, भावाभि-ग्रहत्व से, यावत् अनुपूर्वी से, अनानुपूर्वी से, यथायोग्य गुण स्थानों में घटा कर ऐसा कहता हूँ ।

८ अध्ययन

"से भयवं एयाणुमेत्तमेव पच्छित्तविहाणं" इत्यादि सूत्र से अष्टम अध्ययन का प्रारंभ होता है, प्रायश्चित्तविधान की इयत्ता-विषयक गौतम के प्रश्न करने पर भगवान ने उत्तर दिया—गौतम ! प्रायश्चित्त का उक्त विधान सामान्य है, वर्ष भर के बारह मासों में प्रतिदिन-रात्रि के नियम-समयों में, जीवन पर्यन्त के योग्य, बाल, वृद्ध, शैक्ष महत्तर, आचार्य आदि के योग्य, तथा अप्रतिपाति महा-वधिमनःपर्यवज्ञानी, छद्मस्थतीर्थंकरों के एकान्तया अभ्युत्थानादि आवश्यक से सम्बन्ध रखने वाला सामान्य प्रायश्चित्त कहा है, परन्तु यह न समझना चाहिए कि प्रायश्चित्त मात्र इतने ही हैं ।

"से भयवं आयरियाणं केवइयं पायच्छित्तं भवेज्जा ? जमेगस्स साहुणो:तं आयरिअ-मयहर-पवत्तणीए य सत्तरसगुणं अहा णं सीलखलिए भवंति तओ तिलक्खणंगुजं अइदुक्करं णो जं सुकरं, तम्हा सव्वहा सव्वपयारेहिं णं आयरिय महयरपवत्तिणीए यअत्ताणं पायच्छित्तस्स संरक्खेयव्वं अखलियसीलेहिं च भयवेव्वं ।" (११२–३)

अर्थ—'वह भगवन् ! आचार्यों को कितना प्रायश्चित्त होता है ? उत्तर—एक साधु को एक अपराध का जो प्रायश्चित्त होता है उसी अपराध का आचार्य, महत्तार, प्रवर्तिनी को सत्रह गुना प्रायश्चित्त आता है और यदि वे शीलव्रत में स्खलनावाले हों तो

उन्हें तीन लाख गुना प्रायश्चित्त आता है, यह भी जो अति दुष्कर हो वह दिया जाता है, सुकर हो वह नहीं, इस वास्ते सर्व प्रकार से आचार्य, महत्तर और प्रवर्तिनी को आत्मा को प्रायश्चित्त से सदा सुरक्षित रखना चाहिए, अस्खलित शील रहना चाहिए।

तो क्या भगवन् ! अप्रतिपाती महावधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी छद्मस्थ वीतराग भी सकलावश्यकों का अनुष्ठान करे ?, हां गौतम ! आवश्यकानुष्ठान करें, केवल अनुष्ठान ही करें सो नहीं, वे निरन्तर सभी आवश्यकों का एक ही साथ अनुष्ठान करते हैं, भगवन् ! यह कैसे ?, गौतम ! अचिन्त्यवल-वीर्य वुद्धि ज्ञानातिशय शक्ति के सामर्थ्य से, भगवन् ! महावधिमनःपर्यवज्ञानी छद्मस्थ वीतराग जैसे आवश्यक अनुष्ठान किस लिए करते हैं ? गौतम ! उत्सूत्र, उन्मार्ग का उनसे प्रवर्तन न हो जाय इसलिए वे आवश्यकानुष्ठान करते हैं। इसके वाद गौतम ने सविशेष प्रायश्चित्त पूछे और भगवान् ने वर्षा रात्रिक, पंथ गामिक आदि कोई ४१ सविशेष प्रायश्चित्तों के स्थान वताये हैं और लिखा है—त्रिकाल चैत्यवन्दनादि सविशेष प्रायश्चित्तों के स्थान असंख्यात प्ररूपित किये जाते हैं, यह याद रखना चाहिए।

प्रायश्चित्त सूत्र की संख्यात निर्युक्तियां, संख्यात संग्रहणियां, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात अक्षर, अनन्तपर्यव यावत् दिखाये जाते हैं।

"जहा जोगं गुणगणेसु त्ति वेमि" यहां अष्टम अध्ययन की प्रथम चूलिका पूर्ण की है और आगे औपदेशिक गाथाओं का संग्रह, देकर "निरुवमअणंतमोक्खं परिवसेज्जत्ति वेमि" इन शब्दों में अधिकार की समाप्ति की है और लिखा है—"महानिसीहस्स विइया चूलिया। समत्तं च महानिसीहसुयक्खंधं ॥" इसके बाद वर्धमान विद्या दी है जो नीचे लिखे मुजब है—

"ॐ नमो चउव्वीसाए तित्थंकराणं। ॐ नमो तित्थस्स। ॐ नमो सुयदेवयाए भगवतीए। ॐ नमो सुयकेवलीणं। ॐ नमो सव्वसाहूणं। ॐ नमो सव्वसिद्धाणं। ॐ नमो भगवओ

अरहओ सिज्झउ मे भगवई महइमहाविज्जा। वीरे महावीरे जय-
वीरे सेणवीरे वद्धमाणवीरे अजिए स्वाहा।"

"उवचारो-चउत्थभत्तेणं साहिज्जइ।"

प्रति की समाप्ति में निम्नलिखित गाथा उपलब्ध होती है—

"चत्तारि सहस्साइं, पंचसया दुह तहेव चत्तारि।
एवं च सिलोगा विय, महानिसीहंमि पाएणं॥"
"चत्तारि तह सिलोगा, महानिसीहंमि गंथग्गं॥पाठान्तरम्॥"

महानिशीथ का अध्ययन क्रम से अवलोकन ऊपर दिया गया है, आशा है कि पाठकगण को महानिशीथ के इस समालोचना लेख से प्रस्तुत ग्रन्थ सम्वन्धी ज्ञातव्य बातों की जानकारी प्राप्त होगी, महानिशीथ के सम्बन्ध में हमारे क्या विचार हैं इसके सम्बन्ध में ऊपर के लेख में समालोचना की है, अब एक परिशिष्ट के साथ इस लेख की समाप्ति की जाती है।

महानिशीथ के सार का परिशिष्ट

यद्यपि महानिशीथ की परीक्षा में पर्याप्त विवरण दिया जा चुका है, फिर भी इस सूत्र में से कुछ पद्य-गद्य मय प्रतीक देकर इस लेख को समाप्त कर देंगे।

महानिशीथ में बहुत सी ऐसी बातें हैं जो अन्य सूत्रों के साथ मेल नहीं खाती, ऐसी बातों की अधिकांश चर्चा इस संदर्भ की समालोचना में की जा चुकी है।

१—अध्ययन दूसरे में निम्नोद्धृत पाठ में यह बताया है कि स्त्री की योनि में हर वक्त नव लाख सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय जीव रहते हैं, स्त्री संग का अभिलाषी पुरुष एक ही वार के प्रसंग से उन जीवों का नाशक बनता है, उन जीवों को मांस चक्षु मनुष्य देख नहीं सकते, स्त्री योनि निवासी पंचेन्द्रिय जीवों को कि जिनकी संख्या सामान्यतया नव लाख होती है सर्व केवली देखते हैं। आगे

की गाथा में ही लेखक कहते हैं, वे जीव केवलज्ञान का विषय मात्र है, पर केवली उन्हें देखते नहीं हैं, अवधिज्ञानी उन्हें जानते हैं, पर देखते नहीं, मनः पर्यवज्ञानी जानते भी नहीं और देखते भी नहीं। उक्त हकीकत के सूचक पाठ निम्नलिखित हैं—

"जासिं च णं अभिलसिउकामे पुरिसे तज्जोणिसंमुच्छिम-पंचिन्दियाणं एक पसंगेणं चेव णवण्हं सयसहस्साणं णियमाओ उवद्दवगे भवेज्जा। ते य अच्चंतसुहुमत्ताओ मंसचक्खुणो ण पासिया। + + +" (२।४१)

"तीए पंचिन्दिया जीवा, जोणीमज्झे निवासिणो।
केवलनाणस्स ते गम्मा, णो केवली ताइं पासति।
ओहि-नाणी वियाणेए, णो पासे मणमज्जवी॥" (६।१५३)

उपर्युक्त पाठों का कुछ परावर्तित भाव अर्वाचीन संग्रह ग्रन्थों में मिलता है, परन्तु सूत्रों में अथवा प्राचीन प्रकरण ग्रन्थों में उसका विषय कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता है।

३—इस फिकरे में लिखा हुआ वृत्तान्त महानिशीथ के तृतीया-अध्ययन में है, इसमें लिखा है कि 'तीर्थङ्कर के निर्वाण के वाद शोकाकुल हुए इंद्रदेव मिलकर उनके शरीर का अग्नि संस्कार करते हैं, क्षीरसमुद्र में उनकी अस्थियों को धोकर स्वर्ग लोक को ले जाते हैं, श्रेष्ठ चन्दन रस से उनका विलेपन कर मंदार, पारिजात, शतपत्र, सहस्रपत्र कमल पुष्पों से उनका पूजन कर फिर देव अपने अपने विमान स्थानों में चले जाते हैं, इन अस्थि आदि के पूजन स्नपनादि का सविस्तर वर्णन जो जिनचरिताधिकार में अन्तकृद्दशांग में दिया है सो वहां से जान लेना चाहिए।"

निर्वाण के वाद चिता ठंडी कर इन्द्र तीर्थंकरों की दाढायें लेने का अन्यत्र लेख है, क्षीर समुद्र में अस्थियों को पखालने के वाद देव देवलोक में ले जाते हैं यह वात महानिशीथ के सिवाय अन्य सूत्रों में लिखी दृष्टिगोचर नहीं हुई, अंतकृद्दशांगसूत्र से अरहंतों का

सविस्तर चरित्र जान लेने का वचन भी विचारणीय है, विद्यमान अन्तकृद्दशा में तीर्थंकरों के चरित्र नहीं किन्तु मोक्ष प्राप्त करनेवाले कतिपय मुनियों के चरित्र हैं, महानिशीथकार ने जो वहां से तीर्थंकर चरित्रों का सविस्तर अधिकार जान लेने की सूचना की है यह उनका प्रमाद मालूम होता है, समवायांग आदि किसी भी सूत्र में द्वादशांगी के विषय निरूपण में अंतकृद्दशांग में तीर्थंकर चरित्र होने की बात नहीं कही।

जिन सूत्र पाठों के आधार से उक्त वृत्त लिखा है वे पाठ निम्न लिखित हैं—

"काऊणं सोगत्ता, सुयणे दस दिसि वहे पलोयंता।
जह खीरसागरे जिण-चराण अट्ठी पखालिऊणं च ॥
सुरलोए नेऊणं, आलिंपिऊण पवरचंदणरसेणं।
मंदार-पारियाय-सयवत्त सहस्सपत्तेहिं ॥
जह अच्चेऊण सुरा, नियनियभवणेसु जह व ते थुणंति।
तं सव्वं महया वित्थरेण अरहंतचरियाभिहाणे अंत कडद-
साणं मज्झाओ कसिणं विन्नेयं ॥ (३।५६—५७)"

२ अल्पारंभ और महारंभ—

महानिशीथ द्वितीयाध्ययन की दो गाथाओं में सूत्रकारने "अल्पारंभ" तथा "महारम्भ" शब्दों की व्याख्या करते हुए लिखा है—"जहां सूक्ष्म पृथ्वीकाय के एक जीव की "विराधना" संघट्ट-परिताप-किलामना आदि के रूप में होती हो तो हे गौतम! सर्वकेवली उसे "अल्पारंभ" कहते हैं और जहां सूक्ष्म पृथ्वीकाय के एक जीव का विनाश होने का सम्भव हो उसे हे गौतम! सर्व केवली "महारम्भ" कहते हैं "अल्पारम्भ" तथा "महारम्भ" की व्याख्या करने वाली गाथाएँ ये हैं—

"सुहुमस्स पुढविजीवस्स, जत्थेगस्स विराहणं।
अप्पारंभं तयं बेंति, गोयमा! सव्वकेवली ॥

सुहुमस्स पुढविजीवस्स, वावत्ती जत्थ संभवे।
महारंभं तयं बेंति, गोयमा! सव्वकेवली" ॥ (२।४१)

(२) ३ अल्पक्षयोपशम साधु के कर्त्तव्य—

तृतीयाध्ययन में सूत्रकार ने अल्पक्षयोपशम वाले साधु के लिए कर्त्तव्य वताते हुए लिखा है कि जिनको अति निविड ज्ञानावरणीय कर्मों के उदय से रातदिन घोखने पर भी वर्ष भर में आधा श्लोक भी याद न होता हो तो उनको क्या करना चाहिए ? उत्तर में भगवान ने कहा—जिन्हें कर्मोदय के दोष से श्रुतज्ञान न चढ़ता हो उन्हें स्वाध्याय में लीन रहने वाले अभ्यासियों का वैयावृत्त्य करने का अभिग्रह रखना चाहिए और प्रतिदिन २५०० नमस्कार मंत्र एकाग्रचित्त से घोखना चाहिए। उक्त वृत्त निवेदक मूल पाठ नीचे लिखा है—

"से भयवं जस्स अइगरुयणाणावरणोदएणं अहन्निसं पहोसेमाणस्स संवच्छरेणावि सिलोगद्धमवि णो थिरपरिचियं भवेज्जा से किं कुज्जा ? (गोयमा!) तेणवि जावज्जीवाभिग्गाहेण सज्झायसीलाणं वेयावच्चं तहा अणुदिणं अट्ठाइज्जे सहस्से पंचमंगलाणं सुत्तत्थोभए सरमाणेगग्गमाणसे पहोसेज्जा।" (३।६६)

उक्त दो फिकरों में से अल्पारम्भ महारम्भ वाला फिकरा व्यवहारोत्तीर्ण है, इस व्याख्या के अनुसार गृहस्थ तो क्या केवली भी अल्पारम्भ तथा महारम्भ बनने से बच नहीं सकते, केवली के औदारिक शरीर के स्पर्श से सूक्ष्म पृथ्वीकाय की किलामना विराधना और व्यापत्ति होना अनिवार्य है, इस स्थिति में श्वेताम्बर जैन सूत्रों के मत से "अल्पारंभ" और "महारम्भ" की व्याख्या असंगत है। अल्पक्षयोपशम वाले साधु को वर्ष भर में आधा श्लोक याद नहीं होता होगा उसे नमस्कार मंत्र को जो दो श्लोकों से भी अधिक है—ढाई हजार वार घोखने में कितना समय लगेगा ? इसका लेखक ने विचार नहीं किया मालूम होता है।

४ अंतरङ-गोलिकाग्रहण-विधि—

रत्न द्वीप निवासी मनुष्य अंतरंडगोलिकाधारी जल मनुष्यों को वर्ष पर्यन्त वज्र घरट्ट के बीच पीसते हैं तब उनके प्राण जाते हैं और उनकी अंडगोलिकायें रत्न द्वीप के मनुष्यों द्वारा ली जाती हैं, इस पर गौतम पूछते हैं कि भगवन् ! कैसे वे वेचारे इस प्रकार से अत्यन्त घोर भयंकर दुःख समूह सहन करते हुए निराहार वर्ष पर्यन्त जीवित रहते हैं ? भगवान उत्तर देते हैं कि गौतम ! स्वकृतकर्मों के प्रभाव से वे जीवित रहते हैं, इसकी शेष हकीकत प्रश्नव्याकरण के वृद्ध-विवरण से जानने योग्य है।

जिस चतुर्थ अध्ययन के पाठ के आधार से उपर्युक्त वृत्तांत लिखा है वह पाठ निम्नोद्धृत है—

"से भयवं कहं ते वराए तं तारिसं अच्चंतघोरदारुणसुदुस्सहं दुक्खनियरं विसहमाणे णिराहारपाणगे संवच्छरं जाव पाणे विधारयंति ?, गोयमा ! सकयकम्माणुभावओ सेसं तु प्रश्न-व्याकरण वृद्ध विवरणादवसेयम् ।" (४।८५)

रत्न द्वीप निवासी मनुष्यों द्वारा जल मनुष्यों की अंडगोलिकायें लेने की विधि प्रस्तुत महानिशीथ को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती, लोकप्रकाश आदि अर्वाचीन ग्रन्थकारों ने यह वृतान्त प्रस्तुत महानिशीथ के आधार से ही लिखा है, यह निसंदेह बात है। विशेष हकीकत प्रश्न व्याकरण के वृद्ध विवरण से जानने की सूचना की है, परन्तु प्रश्नव्याकरण पर कभी वृद्ध विवरण था इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है, यदि था तो उसके कर्त्ता कौन थे, इसका कोई निर्णय नहीं है, मूल प्रश्नव्याकरण सूत्र का ही पता नहीं है तो वृद्धविवरण की तो आशा ही क्यों करनी चाहिए।

५ महावीर के धर्मशासन में आचार्यों की संख्या—

महानिशीथ के पंचमाध्ययन में महावीर शासनवर्ती सर्व

आचार्यों की संख्या लिखी है, कहा गया है कि पचपन करोड़ लाख पचपन करोड़ हजार, पचपन सौ करोड़ और पचपन करोड़ महावीर के शासन में आचार्य होंगे, इनमें से कितनेक गुणाकीर्ण और निर्वृति गामी होंगे, जो आचार्य सर्वोत्तम होते हैं उनका नम्बर तीर्थंकर के बाद आता है, उक्त वर्णन वाली गाथाएँ ये हैं—

एत्थं चायरियाणं, पणपण्णं होंति कोडिलक्खाओ।
कोडिसहस्से कोडिसएय तह एत्तिए चेव ॥
एतेसिं मज्झाओ, एगे निव्वुइ गुणगणाइन्ने।
सव्वुत्तामभंगेणं, तित्थयरस्साणुसरिसगुरु ॥" (५।६२)

उक्त गाथाओं में जो आचार्य संख्या दी है इसका मूल आधार क्या है यह बताना शक्य नहीं। युगप्रधान स्तवों में उक्त संख्या उपलब्ध अवश्य होती है, परन्तु सभी युगप्रधान स्तव प्रस्तुत महानिशीथ के बाद के हैं, इस दशा में उक्त स्तव स्तोत्रादि महानिशीथ का आधार नहीं बन सकते प्रत्युत महानिशीथ इन स्तव स्तोत्रों का आधार बन सकता है, महानिशीथ के पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थ में आचार्य संख्या का सूचन तक नहीं मिलता यह बात भी विचारणीय है।

६—पांचवें अध्ययन में—मुनि, संघ, तीर्थ, गण, प्रवचन, मोक्ष मार्ग, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, घोरोग्रतप और गच्छ इन शब्दों को एकार्थक कहा है जो यथार्थ नहीं है। संघ, तीर्थ, प्रवचन, मोक्षमार्ग ये एकार्थक होने में कोई आपत्ति नहीं है, पर ये प्रवचन के पर्याय नहीं हैं, दर्शनादित्रय को समुदित रूप में ही मोक्ष मार्ग माना गया है, प्रत्येक को नहीं, तप चारित्र का अंग मात्र है, स्वतन्त्र मोक्ष मार्ग नहीं, मुनि मोक्ष मार्ग का उपदेशक अथवा साधक हो सकता है, स्वयं मोक्ष मार्ग नहीं, 'गण' तथा 'गच्छ' को मोक्ष मार्ग का पर्याय मानना अयुक्तिक है, "गण" शब्द का पारिभाषिक अर्थ-आचार्य, उपाध्यायादि पांच विशिष्ठ सत्ताधारी अधिकारी मंडल सहित मुनि समुदाय होता है तब "गच्छ" "गण-" गत ३/४/५ आदि मुनियों की टुकड़ियों के अर्थ में रूढ़ है, इनकी गणना "मोक्ष मार्ग" में नहीं हो सकती।

उक्त नामों को एकार्थक बताने वाली सूत्र गाथा निम्नलिखित हैं—

"मुणिणो संघं तित्थं, गण पवयण मोक्खमग्ग एगट्ठा ।
दंसण नाण चरित्ते, घोरुग्गतवं चेव गच्छणामे य ॥" (५।९३)

७ साध्वियों के साथ साधुओं का विहार—

पांचवें अध्ययन में लिखा है कि अपवाद मार्ग से भी यदि साध्वियों के साथ साधुओं को विहार करना पड़े तो उनकी संख्या ८ से कम न होनी चाहिए, जिस गच्छ में आर्या द्वारा लाया हुआ पात्रक आदि विविध उपकरण काम में लाया जाता हो वह गच्छ वास्तव में गच्छ नाम से व्यवहृत होने योग्य नहीं होता, उक्त कथन का मूलाधार निम्नोद्धृत गाथायें पठनीय हैं—

जत्थ य गोयमा ! साहू, अज्जाहिं समं पहंमि अट्ठ्णा ।
अववाएण वि गच्छेज्जा, तत्थ गच्छंमि का मेरा ॥
जत्थ य अज्जालद्धं, पडिग्गहमादिविविहमुवगरणं ।
परिभुज्जइ साहूहिं, तं गोयम केरिसं गच्छं ॥" (५।१००)

पूर्वकाल में साधु साध्वियों का विहार साथ में होता था यह कहकर कोई कोई सहविहार का समर्थन करते हैं, जिसका खण्डन करते हुए महानिशीथकार कहते हैं—तीर्थंकर काल की बात जाने दो, आजकल पंचम आरे में साधु-साध्वियों का सहविहार हानिकारक है, यदि कारण विशेष से सहविहार करना ही पड़े तो उसमें साधु संख्या ८ से कम न होनी चाहिए। छेद सूत्रों में वृद्ध और कृतकरण गीतार्थ को साध्वियों का आचार्य नियत करने और विहार में रक्षक के रूप में साध्वीसमुदाय के साथ रहने का विधान किया है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि सहविहार की परिपाटी कभी की बन्द हो चुकी थी, इससे साध्वियों के विहार में वृद्ध गीतार्थ साधु को रक्षक के रूप में साथ भेजने की व्यवस्था करनी पड़ी थी। महानिशीथकार कारणवश सहविहार करना पड़े तो भी साधु

आठ से कम न होने चाहिये ऐसा कहते हैं यहां दी हुई ८ की संख्या का मूलाधार क्या है इसका पता नहीं लगा, सूत्रांतरों में ऐसा विधान दृष्टिगोचर नहीं हुआ। आर्यानीतपात्रकादि उपकरणों को वापरने का बार बार निषेध करने से समझा जाता है कि इस महानिशीथ के रचनाकाल में साधुओं के साथ साध्वियों का परिचय बहुत बढ़ चुका था और उसका बुरा परिणाम भी लेखक की दृष्टि में आ चुका था, इसी वास्ते स्थान-स्थान में "आर्या कल्प" के ऊपर प्रहार किये गये हैं, इन प्रहारों से वे शिथिलाचारी साधु होंगे यह कहना तो साधार नहीं है, परन्तु एक बात तो निश्चित है कि शिथिलाचारियों को इस प्रकार खुला पाडने से एक बात अवश्य हुई होगी कि उस समय जो अल्पसंख्यक वैहारिक साधु थे उनको बल अवश्य मिला होगा और मठपति बने हुए चैत्यवासियों की किलेबन्दी कमजोर हुई होगी और अल्पसंख्यक वैहारिक श्रमणों को क्रियोद्धार के लिए उत्साहित किया होगा, व्यक्तिगत क्रियोद्धार होने लगे होंगे और शिथिलाचारियों के अड्डों की तरफ से गृहस्थों की सहानुभूति बदलने लगी होगी और फलस्वरूप धीरे धीरे त्याग मार्ग प्रकाश में आने लगा होगा, यह समय विक्रम की दशवीं शती का उत्तर भाग था।

८ पंचसूना-प्रचार--

महानिशीथ के पंचम अध्ययन में "सूना" शब्द का प्रयोग आया है, यह शब्द अतिप्राचीन है, पर पंच सूना पौराणिक है, आचार्य हेमचन्द्र आदि ने अपने ग्रन्थों में इस शब्द का पर्याप्त प्रयोग किया है, यद्यपि कौटिल्यार्थशास्त्र में भी यह शब्द मिलता है, पर 'पंच शब्द' संयोगी 'पंचसूना शब्द' बहुत पीछे का है, "सूना" शब्द का मौलिक अर्थ है "हत्यास्थान" आजकल का "कसाईखाना" ही प्राचानकाल में "सूना" कहलाता था, परन्तु ज्यों ज्यों "अहिंसा-धर्म" के उपदेशक अहिंसा की व्याख्या की गहराई में उतरते गये त्यों त्यों उन्हें प्रत्येक गृहस्थ के घर में पांच सूनाओं के दर्शन हुए, आटा पीसने की चक्की, ओखली, चूल्हा, प्रमार्जनी और पानीयघर

ये पांच पदार्थ गृहस्थ के घर में विद्वानों को सूना दिखाई दिए, पंच सूना धीरे धीरे साधुओं के उपाश्रयों तक पहुंच चुकी थीं और महानिशीथ के निर्माता को कहना पड़ा कि जिस गच्छ में पाँच में से एक भी सूना विद्यमान है उस गच्छ का तुरन्त त्याग कर दूसरे गच्छ में जाना चाहिए, जिस गच्छ में सूना प्रवर्तमान हों वह गच्छ उज्ज्वल वेषधारी हो तो भी उसे छोड़ देना चाहिए, जो चारित्र गुणों से उज्ज्वल है वही वास्तव में उज्ज्वल है, उजले वस्त्रों से उज्ज्वल उज्ज्वल नहीं। उक्त सूना सूचक पाठ यह है—

जत्थ य गोयमा पंचण्हं, कहवि सूणाण एक्कमवि होज्जा।
तं गच्छं तिविहेणं, वोसिरिय वएज्ज अन्नत्थ॥
सूणारंभपवत्तं, गच्छं वेसुज्जलं ण वसेज्जा।
जं चारित्तगुणेहिं तु, उज्जलं तं निवासेज्जा॥" (५।१०२)

९ आचार्यों के शिथिलाचार का महानिशीथकार पर असर—

यों तो सम्पूर्ण महानिशीथ में शिथिलाचार का प्रतिबिम्ब है, इसी के परिणाम स्वरूप निबन्धकार के मुख से अनेक स्थानों में दुःख व्यञ्जक उद्‌गार निकले हैं, एक स्थान पर आपने लिखा है— 'हे गौतम! इस अनादि भूतकाल में ऐसे आचार्य हुए हैं और अनन्त भविष्य काल में सूरि नामधारी ऐसे प्राणी होंगे जिनका नाम लेने पर भी प्रायश्चित्त लगेगा यह निश्चित समझो, उक्त वृत्तान्त व्यञ्जक महानिशीथ की गाथा निम्नोल्लिखित है—

"भूए अणाइकालेण, केइ होहिंति गोयमा! सूरी।
णामग्गहणेणवि जेसिं, होज्ज नियमेण पच्छित्तं॥"

१० दुष्षमा के अन्त में भावी अनगार और साध्वी—

पांचवें आरे के अन्त में होने वाले अनगार "दुःप्रसह" और अनगारी "विष्णु श्री" ये दोनों अकेले ही होंगे, फिर इनको आराधक कैसे माना जायगा? इसके उत्तर में भगवान् महावीर से कहलाया कि गौतम! दुष्षमा के अन्त में चार युगप्रधान क्षायिक-सम्यक्त्व-

ज्ञान-दर्शन-चारित्र सम्पन्न होंगे । इनमें महायशा महाप्रभावक "दुःप्रसह" अनगार अत्यन्त विशुद्ध सम्यग्दर्शनधारी, चारित्रगुण सम्पन्न होंगे, इसी प्रकार वह "विष्णु श्री" साध्वी भी उक्त प्रकार के गुणों से विभूषित होंगी, इनका उत्कृष्ट आयुष्य १६ वर्ष का, दीक्षापर्याय ८ वर्ष का पालकर आलोचना प्रायश्चित्त कर पंच नमस्कार का स्मरण करते हुए चतुर्थ भक्त से आयुष्य समाप्त कर सुधर्म देवलोक में देव होंगे, हे गौतम ! दुःप्रसह अनगार के जीवन पर्यन्त उक्त गच्छ व्यवस्था चलती रहेगी, दुःप्रसह अनगार के समय में दशवैकालिक सूत्र विद्यमान होगा और उसीके अनुसार तब साध्वाचार होगा ।

दुष्षमाकाल के अंतिम समय का संघ निम्नलिखित पाठ में वर्णित है—

"ताणं से दुप्पसहे अणगारे असहाए भवेज्जा, सावि य विण्हु-सिरी अणगारी असहाया चेव भवेज्जा एवं तु ते कहं आराहगे भवेज्जा, गोयमा ! णं दुस्समाए परियंते चउरो जुगपहाणे खाइग-संमत्त-णाण-दंसण-चारित्तसमण्णिए भवेज्जा । तत्थ णं जे से महायसे महाणुभागे दुप्पसहे अणगारे से णं अच्चंत विसुद्धसम्मदंसणणाण चारित्तगुणेहिं वएसु हिट्ठसुगइमन्नेगो (मग्गो) आसायणाभीरू × × तहा सा वि य एरिसगुणजुत्ता चेव सुगहियनामधिज्जा विज्ज (ण्हु) सिरी अणगारी भवेज्जा । तहा तेसि सोलस संवच्छराइं परमं आउं अट्ठ य परियाओ, आलोइयनीसल्लाणं च पंच नमोकारपराणं-चउत्थ भत्तेणं सोहम्मे कप्पे उववाओ ।"

११–धर्मचक्र तीर्थ यात्रा—

धर्मचक्र की यात्रा के लिए गुर्वाज्ञा के विना निकले हुए अपने ५०० शिष्यों के पीछे जाने वाले आचार्य वज्र ने कहा—'हे उत्तम कुल-निर्मल वंश के विभूषण समान अमुक प्रमुख महासत्वो ? विहार प्रतिपन्न महाव्रताधिष्ठित महाभागो ! साधु साध्वियों के लिए

सर्वदर्शी तीर्थंकरों ने सत्ताबीस हजार स्थंडिल कहे हैं, उनको उपयोग पूर्वक शोधते हुए चलना चाहिए, उपयोग शून्यता से जैसे तैसे नहीं चलना चाहिए, तुम्हारी इच्छानुसार उपयोग पूर्वक चलो, क्या वह सर्वतत्त्वों का सार भूत सूत्र भूल गये हो जिसमें बेइन्द्रियादि जीवों के संघट्टन, संगट्टावन आदि से बांधे जाते कर्म और उनका उदय वताया है, जैसे एक बेइन्द्रिय जीव का एक समय मात्र हाथ से वा पग से संघट्ट करे करावे वा वैसा करने वाले का अनुमोदन करे तो वह कर्म उदय में आने पर छ मास तक भोगना पड़ेगा, गाढ पीडा उपजाई होगी तो उसका कर्म १२ वर्ष तक, अगाढ परितापन में हजार वर्ष तक, गाढपरितापन में दस हजार वर्ष तक, अगाढ किलामना उत्पन्न होने पर लाख वर्ष और गाढ किलामना में दस लाख वर्ष तक, उपद्रव में किरोड वर्ष तक तज्जन्य कर्म भोगना पडेगा, ऐसे तेइंन्द्रियादि के संघट्ट में जानना चाहिए, इन बातों को जानते हुए तुम मोह के वश मत पड़ो, विचार करो, इस प्रकार हे गौतम ! अपने शिष्यों को शास्त्रीय मार्ग समझाने पर भी उन अविनीत शिष्यों ने अपने गुरु का हितावह वचन भी नहीं माना, तव आचार्य ने उनका वेष छीनने का विचार किया और एक का वेष छीन भी लिया, पर इतने में तो वे एक न्यून पांच सौ साधु भाग निकले, उक्त कथन का मूलाधार यह निम्नलिखित पाठ है—

"भो भो उत्तमकुलनिम्मलवंसविहूसणा ! अमुगपञ्चयगाइ महासत्ता साहओ पहपडिवण्णाणं पंचमहव्वयाहिट्ठियतणूणं महाभागाणं साहुसाहूणीणं सत्तावीसं सहस्साइं थंडिलाणं सव्वदंसीहिं पण्णत्ताइं तेसु य उवउत्तेहिं विसोहिज्जंति । ण उणं अण्णोवउत्तेहिं, ता किमेवं सुण्णासुण्णीए अण्णोवउत्तेहिं गम्मइ । इच्छायारेणं उवओगं देह । अण्णं च तं इणमो सुत्तत्थं किं तुम्हाणं विसुमरियं भवेज्जा । जं सारं सव्वपरमतत्ताणं । जहा एगे वेइन्दिये पाणी एगं समयमेव हत्थेण वा पाएण वा अण्णयरेण वा सलागा इआहिगरण भूओवगरणजाएणं तेण केई संघट्टावेज्ज वा एवं

संघट्टिज्जंतं वा परेहिं समणुजाणेज्जा, से णं तं कम्मं जया उदिण्णं भवेज्जा तया जहा उच्छुखंडाइं जंते तहा निप्पीलिज्जमाणो छम्मासे णं खवेज्जा। एवं गाढे दुवालसेहिं संवच्छरेहिं तं कम्मं वेदेज्जा। एवं अगाढपरियावणे वाससहस्सं, गाढपरियावणे दसवास सहस्से, एवं अगाढकिलामगे वासलक्खं, गाढकिलामणे दसवास लक्खाइं एवं उद्दवणे वासकोडी, एवं तेइंदियाइसु वि णेयं, ता एवं च वियाणमाणा मा तुम्हे मुज्झह त्ति।"

१२ कुवलयप्रभ आचार्य की स्पष्ट वाणी—

एक समय आचार्य कुवलयप्रभ विहार क्रम से चैत्यवासियों के क्षेत्र में पहुंचे, चैत्यवासियों ने उन्हें वन्दन सत्कार किया और ठहरा कर कहा—'आप यहीं वर्षावास ठहरें, आपके उपदेश से यहां सुन्दर जैन चैत्य वन जायगा और बहुत लाभ होगा। चैत्यवासियों के आग्रह का उत्तर देते हुए महानुभाग कुवलयप्रभ ने कहा—'हे प्रियंवद महानुभावो! आप लोग चैत्य के विषय में मुझे अनुरोध करते हैं, परन्तु मैं इसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहूंगा, यद्यपि जिनालय का काम है, तथापि सावद्य होने से मैं इस सम्बन्ध में वचन मात्र से भी आप लोगों की सहायता नहीं करूंगा।'

उक्त प्रकार से सिद्धान्त का यथार्थ तत्त्व निःशंकतया लिंग-धारियों के समक्ष कहते हुए कुवलय प्रभ आचार्य ने तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म उपार्जित किया, इतना ही नहीं उन्होंने कर्मस्थिति को घटाते घटाते भवसमुद्र एक भवावशेष कर दिया। उक्त वृत्तान्त जिसके आधार से लिखा है, वह महानिशीथ का मूल पाठ यह है—

"ताहे भणियं तेण महाणुभागेणं, गोयमा! जहा-भो-भो पियंवए! जइ वि जिणालए तहा वि सावज्जमिणं णाहं वायामित्तेणं एयं आयरिज्जा, एयं च समयसारयरं तत्तं जहट्ठियं, अविवरीयं णीसंकं भणमाणे णं तेसिं मिच्छदिट्ठि लिंगीणं साहुवेसधारीणं मज्झे गोयमा! आसंकलियं तित्थयरणामकम्मगोयं तेणं कुवलयप्पभेणं, एगभवाव सेसीकओ भवोयही।" (५।१२९)

१३ उत्प्रव्रजित होने के पहले रजोहरण गुरु को अर्पण करना चाहिए—

नन्दीषेण के अधिकार में सूत्रकार लिखते हैं, जब तक प्रव्रज्या तथा रजोहरण पास में हो कुछ भी अकृत्य नहीं करना चाहिए, यदि जाने का निश्चय ही कर लिया हो तो दीक्षा के उपकरण रजोहरण आदि गुरु को सोंपने चाहिए, जहां तहां रजोहरण नहीं छोड़ना चाहिए, गुरु को वेष सोंपने जाय तब गुरु के उपदेश से उसकी प्रधावित होने की भावना बदल भी जा सकती है, इस कारण से साधुलिंग गुरु को सोंपना लिखा है, वह पाठ यह है—

"जाव गुरुणो ण रयहरणं, पवज्जा य ण अप्पिया (ण्णि) ।
ताव अकज्जं ण कायव्वं, लिंगमवि जिणदेसियं ॥
अण्णत्थ ण उज्झेयव्वं, गुरुणो मोत्तूण अंजलिं ।
जइ सो उवसामिउं सक्को, गुरु ता उवसामेइ ॥"

१४ मत्स्यबंधक और व्रतभंजक—

मच्छीमार जन्म से लेकर मरण पर्यन्त जितना पाप करता है उससे आठ गुना पाप व्रतभंग करने की इच्छा वाला करता है, यह महानिशीथ का विधान जैन सिद्धान्त से मेल नहीं खाता, जैन सिद्धान्त ने व्रत लेकर अखंडित रखने वाले को उत्तम, व्रत लेकर खंडित करनेवाले को मध्यम और अव्रती को कनिष्ठ माना है। व्रत खंडित करने की इच्छा वाले मनुष्य को मच्छीमार से आठ गुना पापी महानिशीथ भले ही कहे, पर जैन सिद्धान्त ऐसा नहीं कहता, महानिशीथ की निम्न गाथा जैन सिद्धान्त से मेल नहीं खाती।

"आजम्मेणं तु जं पावं, बंधेज्जा मच्छबंधगो ।
वयभंगं काउमाणस्स, तं चेवट्ठगुणं मुणे ॥" (६।१४६)

१५ मैथुन के पाप की भयंकरता—

जो निर्दय मनुष्य लाख स्त्रियों के सप्ताष्ठ मासिक गर्भों को पेट चीर कर निकालेऔर तड़फते हुए बच्चों को काटे उसको

जितना पाप हो उससे नव गुणा पाप स्त्री के संग से साधु बांधता है, साध्वी के संग एक बार मैथुन करने से हजार गुना और प्रेमवश यह काम करे तो किरोड़ गुना पाप हो, और तीसरी वार वही पाप करे तो वोधिका विनाश होता है।

मूलाधार पाठ नीचे लिखे अनुसार है—

"सयसहस्सनारीणं, पोट्टं फालेत्तु निग्घिणो।
सत्ताइमासिए गब्भे चडफडंते निगिंतइ॥
जो तस्स जेत्तियं पापं, तेत्तियं तं नवगुणं।
एकसित्थीए संगेण, साहू वंधेज्ज मेहुणा॥
साहूणीए सहस्सगुणं, मेहुणेक्कसि सेविए।
कोडीगुणं तु पिज्जेणं, तइए वोही पणस्सइ॥" (६।१४७)

१६ भिन्न २ अपराधों की शिक्षा—

कषायों की उदीरणावस्था में भोजन करे अथवा कषायों की उदीरणा करे, रातवासी रखे तो १ महीना भर अवंद्य और उपस्थापना। दूसरे के कषायों की उदीरणा करे, कषाय की उदीरणा कर वृद्धि करे, किसी का मर्म प्रगट करे अथवा मर्म बोले इन सबमें गच्छ बाह्य, कर्कश, परुष भाषण में द्वादश भक्त, खर, परुष, कर्कश, निष्ठुर, अनिष्ठ भाषण में उपस्थापना, दुर्बोलकथने क्षमा प्रार्थना, कलि, कलह, झंझा वा तोफान करने पर गच्छ बाह्य, मकार जकारादिगालिहेने पर क्षामण, द्वितीय वार करणे अवंद्य, वध करे वा हनन करे संघबाह्य (७/७७)

(३) पर्युषणा-कल्प और इसकी टीकाएँ

जैन सिद्धान्तों की नामावलि में "कल्प" नामक तीन सूत्रों की गणना हुई है ।

पहला "कल्प" वह है जो आजकल "बृहत्कल्प" के नाम से पहिचाना जाता है, इस कल्प की गणना 'कालिक श्रुत' में की गई है और "औत्कालिक श्रुत" गिने जाने वाले कल्पों के दो नाम मिलते हैं, पहला "चुल्लकप्प-सुअ" (क्षुल्लक-कल्पश्रुत) और दूसरा "महाकप्प सुअ" (महाकल्पश्रुत) यह महाकल्प श्रुत विच्छेद हुए हजार वर्षों से अधिक समय हो गया है, अब रही "चुल्लकप्प सुअ" की बात सो इस सूत्र का अस्तित्व आज भी है, जो "कल्पसूत्र" अथवा "पर्युषणा कल्प" के नाम से प्रसिद्ध है, यहां शंका होना स्वाभाविक है कि "पर्युषणाकल्प" तो "कल्पाध्ययन" से भी बड़ा है, तब इसे "चुल्लकप्पसुअ" कैसे कहा गया ? शंका उचित है, क्योंकि आजकल का "पर्युंषणा-कल्प" बारह सौ श्लोकों से भी अधिक परिमाणवाला है, परन्तु यह परिमाण मौलिक नहीं है, पूर्वकाल में जिस "पर्युषणाकल्प" का जैन साधु पर्युषणा के प्रारम्भ में पठन श्रवण करते थे, वह "पर्युषणा-कल्प" इतना बड़ा नहीं था, किन्तु वर्तमान पर्युषणा-कल्प का अन्तिम अधिकार "सामाचारी" ही उस समय का पर्युषणाकल्प था, और उसका पठन श्रवण श्रमण-गण काल ग्रहण पूर्वक रात्रि के समय में करते थे, न उस समय इसकी नव वाचनाए होती थीं और न यह चतुर्विध संघ की सभा में पढ़ा जाता था ।

कहा जाता है कि राजा ध्रुवसेन का पुत्रमरणजात शोक दूर करने के लिए 'आनन्दपुर नगर' में वहां के रहने वाले शिथिलाचारी साधुओं ने पर्युंषणा-कल्प को चतुर्विध संघ की सभा में सुनाने की योजना की और राजा प्रमुख को इस समारम्भ में बुलाया गया, इस प्रकार कल्पसूत्र सभा में पढ़ने की शुरुआत चैत्यवासियों ने

की और धीरे धीरे बाद में सुविहित-श्रमण गण ने भी इस प्रवृत्ति को अपनाया और जिनचरित्र, स्थविरावली, सामाचारी सम्मिलित करके पर्युषणा के दिन तक के पांच दिनों में पर्युषणा कल्प पूरा करने की परम्परा प्रचलित की, उस समय मूल सूत्र के ही विभाग छांटकर पांच दिनों में कल्पवाचना पूरी करते थे, न इस पर कोई थी निर्युक्ति, न थी चूर्णि, निर्युक्ति चूर्णि आदि इसके अंग बाद के बने हुए हैं, ऊपर कह आए हैं कि आनन्दपुर में सर्व प्रथम चैत्यवासी साधुओं ने सभा में कल्पवाचना प्रारम्भ की थी और वर्षों तक शिथिलाचार्यों ने ही सभा में इसे बांचा, सुविहित साधु रात्रि के प्रथम पहर में कालग्रहण पूर्वक इसे पढ़ते सुनते थे, रहते रहते सुविहित श्रमण-गण ने भी शास्त्रीय पारिपाटी को छोड़कर चतुर्विध संघ की सभा में इसे वांचना प्रारम्भ किया, ज्यों ज्यों पर्युषणा-कल्प सुनने की जनता की इच्छा बढ़ती गई त्यों त्यों इसके पढ़ने वालों ने अपने व्याख्यान को रसप्रद बनाने के लिए बीच में कहने के लिए कुछ प्रासंगिक हकीकतें, सुभाषित और कथानकों की योजना बनाकर अन्तर्वाच्य तय्यार किये और सूत्र पढ़ते समय प्रसंग आने पर तय्यार किया हुआ मसाला भी सुनाते जाते थे, जब यह मसाला अधिक बढ़ गया, तब सूत्र पढ़ने वाले सूत्र के साथ दृष्टान्त सुभाषितों का संग्रह भी अपने पास रखते और प्रसंग आने पर उस रस-सामग्री को भी यथास्थान पढ़ सुनाते थे, इसी से रस सामग्री के इन संग्रहों का नाम "अन्तर्वाच्य" प्रसिद्ध हुआ। आज इस प्रकार के अनेक अन्तर्वाच्य जैन शास्त्रों के भण्डारों में उपलब्ध होते हैं, परन्तु ज्यों-ज्यों साधुओं का प्राकृत भाषा का ज्ञान कम होता गया, त्यों-त्यों अन्तर्वाच्यों के आधार पर कल्पसूत्र की वाचनाएँ करना कठिन हो गया, इस परिस्थिति में विद्वान् साधुओं को पर्युषणा-कल्प पर विस्तृत सूत्र-व्याख्या करने वाली संस्कृत टीकाएँ बनाने की स्फुरणा हुई और भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार कल्प पर पंजिका, वृत्ति और टीकाएँ बनाकर अल्पज्ञ पढ़ने वालों के लिए मार्ग सुगम कर दिया, आज अन्तर्वाच्य, पंजिका, वृत्ति, टीका आदि

कोई बीस से अधिक कल्पसूत्र पर बनी हुई व्याख्यायें दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु उन सभी की चर्चा करने का यह स्थल नहीं, जितने अन्तर्वाच्य और जितनी टीकाएँ हमने पढ़ी हैं, उन्हीं पर कुछ लिखने का निश्चय किया गया है।

कल्प सूत्र के अन्तर्वाच्य और टीकाओं की अर्वाचीनता

वर्तमान समय में मिलने वाले अन्तर्वाच्यों और टीकाओं की प्राचीनता अर्वाचीनता का विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि कल्पसूत्र की वाचना के दर्मियान पढ़ने के लिए बनाए गये कल्पान्तर्वाच्य अधिक प्राचीन नहीं हैं, सुविहित श्रमणों द्वारा कल्प-सूत्र का सभा समक्ष वांचना मान्य होने के बाद धीरे धीरे कल्पान्तर्वाच्यों की सृष्टि होती गयी है और कल्प टीकाओं का निर्माण तो अन्तर्वाच्यों के भी बाद का है, इस समय में हमारे सामने ३ कल्पान्तर्वाच्य हैं, जिनमें एक मुद्रित और दो हस्तलिखित हैं।

१—मुद्रित कल्पान्तर्वाच्य वही है, जिसे श्री सागरानन्दसूरिजी ने "कल्प समर्थन" इस नाम से छपवाकर प्रसिद्ध किया है, इसका कर्ता कौन है, यह कहना कठिन है, क्योंकि लेखक ने अपना नाम कहीं भी सूचित नहीं किया, फिर भी अन्तर्वाच्य का आन्तर स्वरूप पढ़ने से इसका निर्माण काल अनुमित हो सकता है, अन्तर्वाच्य के लेखक ने कल्पस्थविरावली के अन्त में कतिपय अर्वाचीन, स्थविरों के नाम भी लिखे हैं, जिनमें प्रसिद्ध आचार्य श्री हेमचन्द्र और उनके समकालीन प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य श्री मलयगिरिजी के नाम भी मिलते हैं इससे अनुमान किया जा सकता है कि यह कल्पान्तर्वाच्य विक्रम की १३वीं शती के पहले का नहीं है।

अन्तर्वाच्यकार ने कल्प की सामाचारी में आनेवाली सौवीरजल तथा अनेक प्रकार के धावन जलों की चर्चा करके उन्हें ग्राह्य प्रमाणित करने की चेष्टा की है, विक्रम की चौदहवीं शती में धावन जलों के सम्बन्ध में तपागच्छ तथा खतरगच्छ के आचार्यों में बड़ा

ऊहापोह चल पड़ा था, तपागच्छ के आचार्यों का कथन था कि आचारांग सूत्रोक्त अथवा अन्य सूत्रों में बताये हुए प्रासुक धावन जल मिले तो लेना, अन्यथा उष्णजल ही आज के समय में साधुओं के लिए ग्राह्य है, तब खरतरगच्छ के आचार्यों का आग्रह यह था कि उष्ण जल के प्रचार से हिंसा बढ़ती है, उधर धावन जल पीने में श्रावक वर्ग घृणा करता है, इसलिए "कत्थे" तथा "कसेलक" के चूर्ण से अचित्त किया गया जल अचित्त-भोजी श्रावक भी पी सकते हैं और साधुओं को भी ऐसा जल प्रचुर मात्रा में मिल सकता है, खरतरगच्छ वालों की इस मान्यता का उनके विहार क्षेत्र मारवाड़ आदि में काफी प्रचार हो गया था, अचित्त-भोजी श्रावक लोग जब क्राथ कसेलक से बना हुआ जल पीते थे, तब साधुओं को निर्दोष उष्ण जल कहां से मिलता ? इस उष्ण जल के अभाव से तपागच्छ के आचार्य श्री सोम प्रभसूरिजी द्वारा अपने साधुओं को मारवाड़ की तरफ़ विहार न करने की आज्ञा तक निकालनी पड़ी थी, लगभग उसी समय के आसपास में खरतरगच्छीय आचार्य जिनप्रभसूरि ने एक "तपोट-मत-कुट्टन" नामक श्लोकबद्ध प्रकरण लिखकर गृहस्थों को गर्म जल पीने का उपदेश करने के संबंध में तपागच्छ के आचार्यों को खूब कोसा है, इन सब बातों का विचार करने से यही प्रतीत होता है कि प्रस्तुत कल्पान्तर्वाच्य उष्ण जल और कसेलक जल के झगड़े के काल में निर्मित हुआ है, जो समय विक्रमीय चौदहवीं शती का मध्य भाग है, क्योंकि अगर ऐसा नहीं होता तो कल्पान्तर्वाच्यकार को जल संबंधी चर्चा में उतरना न पड़ता, चर्चा में लेखक ने शास्त्रोक्त सभी धावन जलों को पवित्र और ग्राह्य होने का प्रतिपादन किया है, इससे यह भी सिद्ध होता है कि यह अन्तर्वाच्य विक्रम की चौदहवीं शती के किसी तपागच्छीय विद्वान् की कृति है, इसमें कोई संशय नहीं रहता ।

२—द्वितीय कल्पान्तर्वाच्य जो हस्तलिखित है और ३४ पत्रों में पूरा हुआ है, इसमें अधिकांश प्राकृत गाथाएँ हैं और बीच में आने वाली नागकेतु की कथा, मेघकुमार की कथा, कार्तिक सेठ का

दृष्टान्त आदि कथा दृष्टान्त संस्कृत श्लोकों में दिए हैं, स्थविरावली के अन्त में इसमें भी कतिपय स्थविरों की नामावली दी है, जिसमें अन्तिम नाम श्री हेमचन्द्र सूरि तथा मलयगिरि सूरिजी के हैं इससे इसका निर्माण काल विक्रम की १३वीं शती के बाद का है, इसमें भी सामाचारी प्रकरण में दिए हुए जैन श्रमणों के ग्रहण योग्य प्रासुक जलों की चर्चा की है और सौवीर, अवस्रावण, उष्णजल आदि ग्राह्य बताये हैं, काथक कसेलक आदि मृदु रस वाले पदार्थों से सचित्त जल देरी से अचित्त होते हैं और अचित्त बनने के बाद भी जल्दी सचित्त हो जाने का संभव बताकर कसेलकादि जन्य प्रासुक जल ग्राह्य मानने में अपनी असम्मति बताई है, इस निरूपण से जाना जा सकता है कि इसका प्रणेता भी कोई तपागच्छीय विद्वान् है और उनका समय विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी का हो सकता है, पहले का नहीं।

इस कल्पान्तर्वाच्य में गणधरवाद में जो जो सुभाषित श्लोक, अन्य प्रसंगों पर आनेवाले सुभाषित तथा वर्णन के पद्य पिछली टीकाओं में आते हैं, वे सभी इसमें विद्यमान हैं, इससे इतना तो निश्चित है कि उपाध्याय धर्मसागर तथा अनेक परवर्ती कल्पटीकाकारों ने इस अन्तर्वाच्य का उपजीवन किया है।

स्थविरों के समय निरूपण में और अन्य प्रसंगों में इसमें कुछ विशेषता देखी जाती है, इस अन्तर्वाच्य में "प्रभव" की दीक्षा जम्बू स्वामी के साथ होने का लिखा है, श्री यशोभद्रसूरि ने अपने दोनों शिष्य श्री भद्रबाहु और श्री संभूतविजयजी को पट्टधर बनाया था, ऐसा लिखा है, श्री आर्य स्थूलभद्रजी ने भी अपने शिष्य महागिरि तथा सुहस्ती को अपना पट्ट देकर वीरात् २१५ वर्ष में स्वर्गवासी होना लिखा है, आर्यमहागिरि तथा सुहस्ती ने अपने पट्ट सुस्थित सुप्रतिबुद्ध नामक दो शिष्यों को देकर स्वर्गवास प्राप्त करने का लिखा है, कई पट्टावलीकारो ने भद्रबाहु, सम्भूतविजय, आर्यमहागिरि, आर्य सुहस्ती, सुस्थित, सुप्रतिबुद्ध इन छः आचार्यों को भिन्न भिन्न पट्टधर मानकर भिन्न भिन्न समय लिखा है परन्तु प्रस्तुत कल्पान्त-

वाच्यकार ने उपर्युक्त छः स्थविरों के तीन युगलों को पट्टधर लिखा है, इसका तात्पर्य यह निकला कि प्रस्तुत अन्तर्वाच्यकार के मत से स्थविरों की पट्टावली में तीन नम्बर घटेंगे, तब दोनों को जुदा-जुदा पट्टधर मानने वालों के मत से पट्टावली में तीन नाम बढ़ेंगे, यह बात आचार्य मुनि सुन्दर सूरि कृत गुर्वावली में भी सूचित की गयी है।

इस द्वितीय कल्पान्तर्वाच्य की अंतिम पंक्तियां निम्न प्रकार की है, पाठक गण पढ़कर जान सकेंगे कि इस ग्रन्थ की मूल प्रति किस की लिखी हुई और कितनी प्राचीन है—

"इति श्री अन्तर्वाच्यं समाप्तमिति।" श्रीरस्तु शुभं भवतु।
यादृशं पुस्तके दृष्टं, तादृशं लिखितं मया।
यदि शुद्धमशुद्ध वा मम, दोषो न दीयते।

श्रीरस्तु लेखक-पाठकयोः। पंडितश्री ५ श्री सीपागणी शिष्य-गणी देवविजयवाचनार्थं संवत् १६४५ वर्षे कल्याणमस्तु।"

३—तीसरा कल्पान्तर्वाच्य-पाठक-रतनचन्द्र शिष्य भक्तिलाभ का बनाया हुआ है।

यह अन्तर्वाच्य पिछले दो अन्तर्वाच्यों से बड़ा है, पत्र संख्या ५३ है, जिनमें अनुमानित श्लोक संख्या २३०० से अधिक होगी, पुस्तक स्याही की खराबी से पानों के चिपक जाने से पर्याप्त मात्रा में बिगड़ गया है, फिर भी इसका आदि तथा अन्त का भाग विशेष नहीं बिगडा, पुस्तक पूर्ण रूप से तो नहीं पढा जाता फिर भी इससे जो बातें ज्ञात हुई हैं उनकी चर्चा करना जरूरी समझते हैं, पाठक रतनचन्द्र किस गच्छ के थे, यह ज्ञात नहीं हुआ इस नाम के विद्वान् तपागच्छ, खरतरगच्छ और पार्श्वचन्द्रगच्छ इन तीनों गच्छों में हुए हैं, तथापि विशेष परिचय प्राप्त न होने से निर्णय करना कठिन है, वाच्यकार का "भक्तिलाभ" यह नाम खरतरगच्छ के साधुओं के नाम से मिलता जुलता है, इससे अधिक इस विषय में लिखना अटकल मात्र होगी।

इस अन्तर्वाच्य का मंगलाचरण निम्न प्रकार का है—

"पुत्राः पंच मति-श्रुताऽवधिमनः कैवल्य संज्ञा विभो-
स्तन्मध्ये-श्रुतनन्दनो भगवता संस्थापितः स्वे पदे ।
अंगोपांगमयः सपुस्तकगजाध्यारोहलब्धोदयः,
सिद्धान्ताभिधभूपतिर्गणधरैर्मान्यश्चिरं नंदतात ॥१॥"

मंगलाचरण करने के वाद लेखक ने "पुरिम चरिमाण कप्पो" यह गाथा लिखकर कल्पसूत्र के विषय का प्रारम्भ किया है।

अन्यान्य टीकाकारों ने जिस प्रकार से कल्पारंभ के पूर्व में पीठिका के रूप में प्रासंगिक विषयों का निरूपण किया है, इस अन्तर्वाच्य के लेखक ने भी कुछ विस्तार से लिखा है, कल्प के प्रारम्भ में महावीर के षट् कल्याणकों की चर्चा की है या नहीं यह कहना कठिन है, क्योंकि इस विषय के प्रतिपादक पत्र बिल्कुल चिपके हुए हैं, परन्तु इतना निश्चित है कि पिछले खरतरगच्छीय लेखकों ने कल्प-व्याख्यान की पद्धतियां निर्मित की हैं वैसी यह नहीं है, अन्य कल्पान्तर्वाच्यों की तरह ही इसमें भी वाचनाओं का विभाग नहीं बताया है, अन्त में नव व्याख्यानों के पृथक् पृथक् विभाग करके पढ़ने के लिए लिखा है, जो कथन निम्न प्रकार से है—

"पर्युषणाकल्पप्रारंभे" "पुरिम चरिमे" इत्यादि पीठिका पूर्वं यावच्छक्रः—स्तौति तावत्कथनीयं ॥१॥ शक्रस्तव-गर्भावतार-संचाराः ॥२॥ स्वप्नविचार-गर्भस्थाभिग्रहाः ॥३॥ जन्मोत्सव-क्रीड़ा-कुटुम्ब-विचाराः ॥४॥ दीक्षा-ज्ञानपरिवार-मोक्षाः ॥५॥ पार्श्वनेम्यंतराणि ॥६॥ आदिनाथचरित्रस्थविरावल्यः ॥७॥ कालिकाचार्य कथा ॥८॥ सामाचारी मिथ्यादुष्कृतं ॥९॥ श्रीरस्तु ।"

अर्थात्—'१-पुरिम चरिमाण कप्पो इत्यादि पीठिका से लेकर शक्रस्तव पर्यन्त का पहला व्याख्यान करना।'

२—शक्रस्तव पूरण होने के उपरान्त गर्भावतार और गर्भपरावर्त पर्यन्त दूसरा।"

३—स्वप्न विचार और गर्भावास में अभिग्रह ग्रहण पर्यन्त तीसरा।

४—जन्मोत्सव-क्रीड़ा कुटुंब विचार पर्यन्त चौथा ।

५—दीक्षा ग्रहण, ज्ञान प्राप्ति, परिवार संख्या और मोक्ष पर्यन्त का पांचवां ।

६—पार्श्वनाथ चरित्र-नेमिनाथ चरित्र और तीर्थंकरों के आंतरे ।

७—आदिनाथ चरित्र और स्थविरावली का सातवां ।

८—कालकाचार्य कथा का व्याख्यान आठवां ।

९—सामाचारी का व्याख्यान और मिथ्यादुष्कृतकरणः नौवां ।

इस प्रकार इस अन्तर्वाच्य में नव प्रकार की वाचनाएँ स्वीकृत की हैं ।

पूर्वोक्त दो कल्पान्तर्वाच्यों की ही तरह इस अन्तर्वाच्य में भी स्थविरावली को पूरा करके कतिपय अन्य स्थविरों की नामावली भी दी है, जो इस प्रकार है—

श्री वृद्धवादी, सिद्धसेन, आर्यखपट, हरिभद्र, श्री बप्पभट्टि सूरि, अभयदेव सूरि, श्री मलयगिरिसूरि, श्री यशोभद्र और श्री हेमसूरि के अतिरिक्त श्री मानतुंगसूरि, वादिवेताल शान्तिसूरि, परकाय प्रवेश विद्याभृत् श्री जीवदेवसूरि और वादिदेवसूरि प्रमुख अनेक युगप्रधान समान आचार्यों का स्मरण किया है, इससे दो बातें निश्चित हो जाती हैं—पहली तो यह कि इस कल्पान्तर्वाच्य का लेखक खरतरगच्छीय मालूम नहीं होता, यदि खरतर होता तो इन नामों के साथ खरतर गच्छ मान्य जिनदत्तसूरि आदि किसी एक विद्वान् आचार्य का नाम उपर्युक्त विद्वानों की नामावली में अवश्य बढ़ा देता, परन्तु इसमें ऐसा नहीं किया, इसके विपरीत लेखक ने वादिदेवसूरि का नाम निर्देश किया है, जिससे वह पार्श्वचन्द्रगच्छीय होने का संभव रहता है ।

इस अन्तर्वाच्य के निर्माता ने अन्त में अपना परिचय निम्न प्रकार से दिया है—

"श्रीरतनचन्द्रपाठक,-शिष्योपाध्याय-भक्तिलाभेन ।
संकलितं श्री कल्पान्तर्वाच्यं वाचयन्तु बुधाः ॥१॥"

तथाविधः (कोपि) परिश्रमो मे, नैवास्ति जाड्यं (च) तथा 'प्रकामम्' । [य] तथापि यत्पुस्तक वाचनाय प्रवृत्तिरेतद्गुरु पारतन्त्र्यम् ॥२॥

अर्थात्—'पाठक श्री रतनचन्द्रजी के शिष्य उपाध्याय भक्ति लाभ कहते हैं—मैंने यह कल्पान्तर्वाच्य संकलित किया है इसे विद्वान्गण पढ़े, यद्यपि मेरा शास्त्र श्रम अधिक नहीं हैं, मेरे में जड़ता ही अधिक है, फिर भी पुस्तक वाचना के लिए यह प्रवृत्ति की है, इसका कारण गुरु की आज्ञा मात्र है ।

इसके वाद संकलनकार ने इसमें रही हुई भूलों के लिए दयावान्—विद्वानों से क्षमा मांगी है, फिर भी कुछ श्लोकों में जैन सिद्धान्त–लिखने का फल, लक्ष्मी की चंचलता का वर्णन करने के उपरान्त अपनी भूलों की संघ से क्षमा प्रार्थना की है और "नगर रह चक्क पडमे०" इत्यादि गाथा से संघ की स्तुति कर एक संस्कृत पद्य में श्री संघ का अभिनन्दन किया है ।

इस कल्पान्तर्वाच्य की प्रति के अन्त में लिखने का समय सूचित नहीं किया, फिर भी इसकी लिपि से कहा जा सकता है कि यह पुस्तक विक्रम की सत्रहवीं शती के अन्त में लिखी गयी होगी ।

(४) "सन्देह विषौषधि नामक कल्प पञ्जिका"

उपर्युक्त टीका जिसे इसके निर्माता आचार्य श्री जिनप्रभसूरि ने "सन्देह विषौषधी पञ्जिका" इस नाम से उल्लिखित किया है, इस पंजिका के कर्त्ता ने प्रथम श्लोक में "पर्युषणा-कल्प दुर्गपद विवृति" यह नाम भी सूचित किया है, इस टीका के प्रारम्भ में दिये गए दो श्लोक नीचे लिखे अनुसार हैं:—

**"ध्यात्वा श्री श्रुतदेवीं, पर्युषणाकल्प दुर्ग-पद विवृतिः ।
स्वपरानुग्रह हेतोः, किं चिदियं लिख्यते मयका ॥१॥
हृदयानि सहृदयानां, पर्युषणा-कल्प गोचरा सुचिरम् ।
रञ्जयतु पञ्जिकेयं, सन्देह-विषौषधि नामा ॥२॥**

पंजिकाकार मंगलाचरण करने के वाद कहते हैं—पर्युषणाकल्प की किन्हीं-किन्हीं पुस्तकों में मंगलार्थ पंच नमस्कार लिखा हुआ दृष्टिगोचर होता है, परन्तु वह सुबोध होने से व्याख्या की आवश्यकता नहीं, यहाँ लिखे हुए "केषुचिदादर्शेषु" इन शब्दों से प्रतीत होता है कि पहले पर्युषणा कल्प के प्रारम्भ में पंच नमस्कार लिखने का सार्वत्रिक नियम नहीं था।

पंजिकाकार ने अपनी पंजिका में अन्य टीकाओं की तरह अधिक विस्तार न कर इस अध्याय में तीन वाच्य हैं—जिन चरित्र, स्थविरावली, पर्युषणासामाचारी, वस इतना लिखकर कल्पाध्ययन का प्रारम्भ किया है, उसमें महावीर चरित्र के "तेणं कालेणं तेणं समएणं" इत्यादि प्रथम सूत्र की व्याख्या में ही महावीर के छः कल्याणकों का निरूपण करना शुरु किया है "यौ काल-समयौ भगवता ऋषभस्वामिना, अन्यैश्च तीर्थकरैः श्री वर्द्धमानस्य षण्णां च्यवनादीनां कल्याणकानां हेतुत्वेन कथितौ तावेवेति ब्रूमः" "हस्तोतराः-उत्तरा-फाल्गुन्यः बहुवचनं बहुकल्याणकापेक्षं, पंचसुच्यवन, गर्भापहार-जन्म-दीक्षा-ज्ञानकल्याणकेषु हस्तोत्तरायस्य स तथा च्यवनादीनि पंचोत्तराफाल्गुनीषु जातानि" इत्यादि पंजिका के प्रतीकों से एक बार तो यही प्रतीत होता है कि मानो भगवान् महावीर के छः कल्याणकों की सिद्धि करने के लिये ही आपने कल्पपंजिका का निर्माण किया है, क्योंकि इनके पूर्ववर्ती किसी भी खरतर गच्छीय विद्वान् ने अपने कल्पान्तर्वाच्य अथवा कल्प टीका में महावीर के छः कल्याणकों की चर्चा नहीं की, जहां तक हमारा मानना है छः कल्याणकों के संबंध में कल्पटीका में चर्चा करने वाले आचार्य जिनप्रभ सर्व प्रथम हैं, महावीर के छः कल्याणक होने का आविष्कार करने वाले जिनवल्लभ सूरि माने जाते हैं पर जहाँ तक हमने देखा है आचार्य श्री जिनवल्लभ अथवा जिनदत्तसूरि के किसी भी ग्रन्थ-निवन्ध में महावीर के गर्भापहार कल्याणक की सूचना नहीं हैं, फिर भी आचार्य श्री जिनपति की संघ पट्टक टीका में और सं० १२९४ में निर्मित शतपदी ग्रन्थ में उसके निर्माता अंचल

गच्छीय आचार्य श्री महेन्द्रसिंह सूरि ने जिनवल्लभगणि द्वारा गर्भापहार का कल्याणक माने जाने का समर्थन किया है, इससे ज्ञात होता है कि जिनवल्लभ गणि ने गर्भापहार को कल्याणक प्रमाणित करने का ऊहापोह किया होगा, और अपने अनुयायियों को गर्भापहार के दिन धार्मिक अनुष्ठान करने का उपदेश भी अवश्य दिया होगा पर श्री जिनपतिसूरि और इनके शिष्यों ने इसका विशेष समर्थन और प्रचार किया है।

जिनप्रभसूरि इस पंजिका के निर्माण समय में अधिक अवस्थावाले न होने चाहिए, ऐसा इस टीका के कई उल्लेखों से ज्ञात होता है, रत्नराशि की व्याख्या आप "रत्नोच्चयो-रत्नभृतं स्थालं" ऐसी करके आगे जाकर ठिकाने आते हैं और "रत्ननिकराणां राशिरुच्छ्रयः समूह विशेषः" इस प्रकार अपनी पूर्व भूल को सुधारते हैं।

भगवान् महावीर के निर्वाण समय पर उनके जन्मनक्षत्र पर आने वाले भस्म राशि ग्रह के संबंध में आप लिखते हैं—"क्षुद्रात्मा क्रूरस्वभावो भस्मराशि स्त्रिंशत्तमो ग्रहोद्वि वर्ष सहस्रस्थितिरेकराशौ" अर्थात्—'क्षुद्र प्रकृति और क्रूरस्वभाव वाला तीसवां भस्मराशिग्रह जो एक राशि पर दो हजार वर्ष तक रहता है, भगवान की जन्म राशि पर आया जबकि कल्पसूत्र मूल में भस्म राशि की एक नक्षत्र पर दो हजार वर्ष की स्थिति होने का लिखा है, इसका कारण जिनप्रभ की असावधानी के सिवा और क्या हो सकता है?

हस्तिपाल राजा की सभा में अंतिम वर्षा चातुर्मास्य में कार्तिक वदि अमावस्या की रात्रि में पर्यंकासन से बैठे हुए भगवान् महावीर ने पुण्य का फल बताने वाले ५५ अध्ययन और पाप का फल बताने वाले ५५ अध्ययन सभा को सुनाये, फिर बगैर पूछे ३६ प्रश्नों के उत्तर देकर अन्त में प्रधान नामक अध्ययन का निरूपण करते हुए आप निर्वाण प्राप्त हुए। इस विषय के कल्पसूत्र में मूल शब्द निम्नलिखित हैं—

संपालि अंकनिसण्णे पणपन्नं अज्झयणाइं कल्लाणफल विवागाइं, पणपन्नं अज्झयणाइं पावफल विवागाइं, छत्तीसं च अपुट्ठवागरणाइं वागरित्ता पहाणं नाम अज्झयणं विभावेमाणे, कालगए।"

उपर्युक्त सूत्र पाठ की आचार्य जिनप्रभ निम्नप्रकार से टीका करते हैं—

"पर्यङ्कः—पद्मासनं तत्र निषण्ण-उपविष्टः, पंचपंचाशत्सु कल्याणफलविपाकाध्ययनेष्वेकं मरुदेवाध्ययनं विभावेमाणे इति विभावयन्-प्ररूपयन्।"

मूल पाठ में ५५-५५ कल्याण फल-पाप फल विपाक अध्ययनों का निरूपण करके ३६ अपृष्ट—प्रश्नोत्तरों के वाद प्रधानाध्ययन के निरूपण की वात है तव पंजिकाकार ५५ कल्याणफल विपाकाध्ययनों में से ही एक अध्ययन का निरूपण करने का कहते हैं, यह मूल सूत्र से विलकुल विरुद्ध है, मूल में पुण्य पापों का फल वताने वाले एक सौ दस अध्ययनों का निरूपण कर ३६ अपृष्ट प्रश्नोत्तरों के वाद प्राधानाध्ययन अथवा मरुदेवाध्ययन के निरूपण की वात है, तव जिन प्रभसूरिजी पुण्य फल वताने वाले अध्ययनों में से ही एक अध्ययन का विभावन करते हुए भगवान् को निर्वाण प्राप्त करवाते हैं, यहाँ प्रश्न होता है कि जिनप्रभसूरि के मत से पाप फल विपाकध्ययनों का तथा अपृष्ट प्रश्नोत्तरों का भगवान् ने चिंतन नहीं किया था ? कुछ भी हो श्री जिनप्रभसूरिजी का यह प्रमाद अनेक कल्प टीकाकारों को मार्ग भुलाने वाला हुआ है।

निर्वाण के वाद सांवत्सरिक चातुर्मासिक प्रतिक्रमणादि की तिथि के परिवर्तन से संवंध रखने वाली चार गाथाएँ पंजिका में लिखी हैं और इन्हें तीर्थोग्दारादि का होना बताया है, यहां आपने "तित्थोगाली" इस नाम का संस्कृत रूप "तीर्थोग्दार" लिखा है जो यथार्थ नहीं "तित्थोगाली" का संस्कृत रूप "तीर्थावकाली" होता है।

"तित्थोगाली पइन्नय" हमने अच्छी तरह पढ़ा है, उसमें इन गाथाओं का नाम निशान तक नहीं है, वास्तव में पूर्णमियक, आञ्चलिक, आदि नूतन गच्छ प्रवर्तकों ने इस प्रकार की अनेक नवीन गाथाएँ बनाकर "तित्थोगाली" "महानिशीथ" आदि ग्रन्थों में प्रक्षिप्त कर दी हैं, उसी प्रकार की प्रक्षिप्त गाथाओं से दूषित कोई "तित्थोगाली" का पुस्तक श्री जिनप्रभसूरिजी को हाथ लगा है और आपने इन गाथाओं को प्रामाणिक मान लिया है, जो ठीक नहीं है।

"सुट्ठिय-सुप्पड़िबद्धाणं" इन नामों के विशेषणात्मक "कोडिय काकंदगाणं" इन शब्दों की व्याख्या करते हुए आप लिखते हैं "कौटिक काकंद काविति नाम" अर्थात् आपके मत से "कौटिक-काकन्दक" ये नाम हैं, परन्तु वास्तव में ये दोनों सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के क्रमशः विशेषण हैं, सुस्थित कोटि वर्ष के रहनेवाले होने से "कौटिक" कहलाते थे, "कोटि" शब्द का प्रवृत्ति निमित्त बताते हुए आप लिखते हैं–"कोट्यंश सूरिमन्त्र जाप-परिज्ञानादिना कोटिकौ" अर्थात्—कोट्यंश सूरि मन्त्र के जापपरिज्ञानादि से "कोटिक" कहलाते थे, "कोटि शब्द" के साथ जोड़े हुए "अंश" शब्द से आपका क्या तात्पर्य है, सो तो आप ही जानें, आपके इस "कोट्यंश" शब्द प्रयोग से परवर्ती मुनिसुन्दरसूरि, कल्पप्रदीपिकाकार संघ विजयजी और कल्पदीपिकाकार जयविजयजी आदि विद्वानों ने भी "कोट्यंश सूरिमंत्र" का प्रयोग किया है जो हमारे विचार से सार्थक प्रतीत नहीं होता।

इसी प्रकार आपने श्रमणों की शाखाओं की तथा श्रमणों के गण की व्याख्या करने में केवल कल्पना का आश्रय लिया है, शास्त्राधार का नहीं।

खरतरगच्छीय विद्वानों ने श्रमण योग्य प्रासुक जल की व्याख्या करते हुए "शुद्ध विकट" और "उष्ण विकट" शब्दों का भिन्न भिन्न अर्थ किया है परन्तु जिनप्रभ सूरिजी ने "शुद्ध विकट" शब्द का अर्थ "काथकसलेकादि से अचित्त बनाया हुआ जल" और उष्ण

विकट" शब्द से वे "उष्ण जल" बताते हैं, परन्तु यह कथन संदेह विषौषधी से विरुद्ध पड़ता है, जिनप्रभ सूरि ने शुद्ध विकट शब्द से भी उष्ण जल ही माना है और जहाँ जल वाचक शब्द नहीं है, केवल "विकट शब्द" ही है, वहाँ "उद्गमादि विशुद्ध आहार पानी" दोनों ग्रहण किये हैं।

इस विषय में संदेह विषौषधी के निम्नलिखित उदाहरण पढ़ने योग्य हैं, आचार्य जिनप्रभ सूरि लिखते हैं।

"एवमाहारविधिमुक्त्वाऽथ पानकविधिमाह-सव्वाइं पाणगाइं ति पानैषणोक्तानि वक्ष्यमाणानि चोत्स्वेदिमादीनि तत्रोत्स्वे दिमं पिष्टजलं, पृष्टभृतहस्तादिक्षालनजलं, संस्वेदिमं संसेकिमं 'वा' यत् पर्णाद्युत्काल्य शीतोदकेन सिच्यते, तथा चाउलोदगं-तन्दुल धावनोदकं, तिलोदकंमहाराष्ट्रादिषु निस्तुषतिल धावनजलं, तुषोदकं-व्रीह्यादि धावनं, यवोदकं-यवधावनं, आयामकोऽवस्रावणं सौवीरकं-कांजिकं, "शुद्धविकटमुष्णोदकं उसिणवियडेत्ति-उष्णजलं तदप्यसिक्थं" यतः प्रायेणाष्टमोर्ध्वतपस्विनो देहं देवताधितिष्ठति।"

आचार्य जिनप्रभ ने "गणि" शब्द का बड़ा अनोखा अर्थ किया है, वे कहते हैं—जिसके पास आचार्य सूत्रादिका अभ्यास करते हों, वह "गणी" अथवा "सूत्रादि के लिए जो आचार्य दूसरों के पास उपसम्पदा के लिये हुए हों वे "गणि" कहलाते हैं।"

आचार्य जिनप्रभ के उपर्युक्त "गणि" शब्द के दोनों अर्थ अनागमिक हैं, आचार्य को सूत्रादि पढाने वाला "गणी" नहीं कहलाता किन्तु आचार्य की गैर हाजरी में आचार्य का और उपाध्याय की गैरहाजरी में उपाध्याय का कर्त्तव्य बजाने वाला गीतार्थ साधु "गणी" कहलाता है, ऐसा निशीथ चूर्णि आदि में लिखा है, सूत्रादि के निमित्त आचार्य किसी की उपसम्पदा नहीं लेते किन्तु सामान्य साधु इस प्रकार की उपसम्पदा लेते हैं।

"गणधर" इस शब्द की व्याख्या में भी आचार्य जिनप्रभ ने बड़ा गोलमाल किया है, यहां पर "गणधर" शब्द का अर्थ तीर्थंकर

शिष्य नहीं किन्तु गच्छ के कतिपय साधुओं की टुकड़ी के नेता को "गणधर" नाम से उल्लिखित किया है।

उपाश्रय प्रमार्जन के संबंध में भी जिनप्रभ सूरि ने अपना नया मत प्रदर्शित किया है, वे कहते हैं—"जिस उपाश्रय में साधु ठहरे हुए हों उसको प्रातः १. साधुओं के भिक्षार्थ जाने पर। २. मध्याह्न समय में। ३. और फिर तृतीय प्रहर के अन्त में प्रतिलेखना काल में ४. ऐसे उपाश्रय का चार बार प्रमार्जन करना चाहिए, यह बात वर्षा चातुर्मास्य के लिये है ऋतुबद्ध समय में तीन बार उपाश्रय का प्रमार्जन करना चाहिए।"

यहां तीन चार बार उपाश्रय प्रमार्जन करने का कहा गया है, वह संसक्त उपाश्रय के लिए है, यदि उपाश्रय संसक्त जीवाकुल हो, तो उसका बार-बार प्रमार्जन करना चाहिए, अन्यथा शेषकाल में दो बार प्रातः प्रति लेखना के अन्त में और शाम को प्रति लेखना की आदि में और वर्षाकाल में ३ बार प्रमार्जन विहित है।

"संदेह विषौषधी पंजिका" के सम्बन्ध में कुछ बातों पर समालोचना करनी पड़ी है, इसका कारण यही है कि इसके कर्ता संस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान् होते हुए भी आगमिक ज्ञान में परिपक्व नहीं हुए थे, अन्यथा जिनप्रभ जैसे विद्वान् की कृति में इस प्रकार की स्खलनाएँ नहीं होने पातीं।

"संदेह-विषौषधी पंजिका" का श्लोक परिमाण लगभग २५०० है,—पंजिका के अन्त में निर्माता ने अपना परिचय सूचक प्रशस्ति आदि कुछ भी नहीं लिखा, यह खटकने वाली बात है, यह पंजिका जिनप्रभ सूरि की प्राथमिक अगर अपने जीवन के मध्यकाल की कृति हो, तो इसका निर्माण काल विक्रम की चौदहवीं शती का मध्यभाग हो सकता है, "वृहट्टिप्पनिका" में जिनप्रभीय "सन्देह विषौषधी" वृत्ति का रचना काल १३६४ वां वर्ष लिखा है, जो ठीक ही प्रतीत होता है जिस प्रति के आधार से हमने "संदेह विषौषधी पंजिका" के संबंध में लिखा है, वह प्रति लगभग ५०० वर्ष से भी

अधिक पुरानी थी, मुद्रित "सन्देह विषौषधी" उपलब्ध न होने से हस्तलिखित प्रतिका उपयोग किया है।

(५) कल्प-किरणावली

पर्युषणा-कल्प सूत्र की प्रसिद्ध टीकाओं में "संदेह विषौषधी" के वाद "कल्पकिरणावली" का नम्बर है, इसके रचयिता तपागच्छीय उपाध्याय श्री धर्मसागरजी हैं, उपाध्यायजी ने इस टीका का निर्माण विक्रम संवत् १६२८ में किया है, किरणावली का श्लोक प्रमाण ग्रन्थकर्ता ने निम्नोद्धृत श्लोक में निर्दिष्ट किया है—

"अनुष्टुभोऽष्ट चत्वारिंशच्छतानि च चतुर्दश ।
षोडशोपरि वर्णाश्च, ग्रन्थमानमिहोदितम् ॥"

अर्थात्—'कल्पकिरणावली का ग्रन्थमान ४८०० अडतालो सौ और साढे चौदह श्लोक जितना है। इस ग्रन्थ को उपाध्यायजी ने राधनपुर में समाप्त किया है।

वर्धमान कुमार के लेखशाला के प्रसंग पर इन्द्र ने जो शंकाएँ पूछी थीं और उनके वर्धमान कुमार ने जो उत्तर दिये थे उनसे "जैनेन्द्र व्याकरण" उत्पन्न होने का उपाध्यायजी प्रतिपादन करते हैं, परन्तु कल्पान्तर्वाच्यों तथा महानिशीथ आदि प्राचीन ग्रन्थों में "इन्द्र व्याकरण" उत्पन्न होने की बात कही गई है, और वास्तविकता भी यही है, क्योंकि प्राचीन व्याकरणों में "ऐन्द्र व्याकरण" परिगणित है न कि जैनेन्द्र, जैनेन्द्र के नाम से जो व्याकरण प्रसिद्ध है, उसके कर्त्ता दिगम्बर विद्वानों की मान्यता के अनुसार आचार्य श्री देवनन्दी हैं, परन्तु हमारे मत में श्री देवनन्दी पाणिनीय व्याकरण के न्यास-कार होने से वैयाकरणों में परिगणित हो गए हैं, वास्तव में "जैनेन्द्र व्याकरण" के संयोजक दो अन्य दिगम्बर विद्वान् थे, एक आचार्य श्री प्रभाचन्द्र और दूसरे श्री अभयनन्दी, प्रभाचन्द्र ने पाणिनीय व्याकरण के ढंग पर "जैनेन्द्र" नाम से एक विस्तृत व्याकरण का संकलन किया था, पर वह लोकभोग्य नहीं हो सका, आचार्य

अभयनन्दी ने भी उन्हीं सूत्रों में रद्दो बदल करके प्रभाचन्द्र के सूत्रों में से वैदिक स्वर प्रक्रिया को हटाकर "जैनेन्द्र" के नाम से व्याकरण का निर्माण किया और उस पर एक "महावृत्ति" भी वना डाली है, जो इस समय मुद्रित भी हो चुकी है, हमारे अर्वाचीन विद्वान् इन्द्र और वर्धमान के संवाद से "जैनेन्द्र व्याकरण" उत्पन्न होने की जो वात कहते हैं, उसमें वास्तविकता नहीं है।

उपाध्यायजी ने आचार्य हेमचन्द्र के "योगशास्त्र" के—

"एवं व्रतस्थितो भक्त्या, सप्तक्षेत्र्यां धनं वपन्।
दयया चातिदीनेषु, महाश्रावक उच्यते ॥"

इस श्लोक की टीका का उद्धरण देकर गृहस्थों को श्रुतज्ञान लिखाने का उपदेश दिया है, परन्तु श्रुत लिखवाने वाले स्थविर नागार्जुन तथा स्कन्दिलाचार्य के नामों से कोई तात्पर्य नहीं निकाला, अगर इन स्थविरों के द्वारा की गयी आगमों की वाचनाओं पर ऊहापोह किया होता और "वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ इइ दीसइ ॥१४६॥" इस वाचनान्तर के सूत्र का रहस्य खोजा होता तो ६८० और ६६३ के मतभेद का खुलासा मिल जाता, परन्तु यह वात केवल सागरजी के लिए ही नहीं, तमाम टीकाकारों तथा अन्तर्वाच्यकारों के लिए भी समान है, कोई ६८० में पुस्तक लेखन और ६६३ में पुस्तक वाचना का अर्थ निकालते हैं, तो कोई ६६३ में पंचमी से चतुर्थी में पर्यूषणा करने का तात्पर्य निकालते हैं, वस्तुतः ये सभी अटकलें हैं, ठोस सत्य किसी में नहीं है, "वाचनान्तर" का स्पष्ट अर्थ तो यही है कि "दूसरी वाचना" परन्तु अधिकांश टीकाकारों को भगवान् महावीर का निर्वाण होने के वाद जैन आगमों की कितनी वाचनाएँ हुई हैं, इसका भी पता नहीं है, अधिकाँश की समझ तो यही है कि "आचार्य नागार्जुन वाचक और श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने वलभी में सम्मिलित होकर जैन आगम लिखवाए," प्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय श्री विनय विजयजी जैसों की यह मान्यता है तव दूसरों का कहना ही क्या ?

उपाध्यायजी ने आचार्य जिनप्रभ के षट्कल्याणकवाद को भी याद किया है, वे लिखते हैं—किसी अवचूर्णी में कल्याणकषट्क का व्याख्यान मिलता है, वह—"सन्देहविषौषधी" का अनुसरण मात्र है, वास्तव में इस वाद का समाज के लिए कुछ भी उपयोग नहीं।

उपाध्यायजी ने स्थविरावली में आर्य रक्ष के निरूपण में दशपुर नगर के पुरोहित पुत्र आर्य रक्षित सूरिका वृतान्त लिख डाला है, यह अनवधान का फल है, वास्तव में आर्य रक्षित आर्य रक्ष स्थविर से बहुत पूर्ववर्ती थे, जिसका किरणावलीकार को ख्याल नहीं रहा। इसी निरूपण में उपाध्याय धर्म सागरजी महाराज ने तोसलिपुत्राचार्य को आर्य रक्षित का मामा बताया है, जिसका अन्य प्रमाणों से समर्थन नहीं होता।

उपाध्यायजी ने एरावती नदी कुणालापुरी में दो कोस के विस्तार में बहती होने का लिखा है, परन्तु उपाध्यायजी को समझ लेने की आवश्यकता थी कि "कुणाला" नाम नगर का, नहीं, देश का है, जिस देश में इरावती नदी बहती है, उस देश का नाम है "कुणाला" और उसकी राजधानी नगरी का नाम है—"श्रावस्ती," दुःख है कि केवल उपाध्यायजी ही नहीं, अन्य भी अधिकांश कल्प टीकाकारों ने "कुणाला" जनपद को "कुणाला" नगरी ही समझकर इस सूत्र की व्याख्या की है।

सामाचारी प्रकरण में आने वाले कतिपय शब्दों की व्याख्या करने में उपाध्याय श्री धर्मसागरजी ने आचार्य जिनप्रभ सूरि की "संदेह विषौषधी पंजिका" का अक्षरशः अनुसरण किया है, उदाहरण के रूप में "गणि" शब्द को लीजिये, गणि शब्द का अर्थ आप आचार्यों को सूत्रादि का अभ्यास कराने वाला बताते हैं, अथवा जिसके पास अन्य आचार्यों ने सूत्रादि पठनार्थ उपसम्पदा ली हो उन्हें आप "गणि" बताते हैं, यह अर्थ शास्त्र–विरुद्ध है, जिसका विशेष स्पष्टीकरण "संदेह विषौषधी" के अवलोकन में किया है, पाठक गण वहाँ पढ़लें।

आचार्य जिनप्रभ की "संदेह विषौषधी पंजिका" में अनेक प्रकार की स्खलनाएँ हैं, जिनका अधिकांश टीकाकारों ने अपनी टीकाओं में अनुसरण करके अनागमिकताओं को बढ़ाया है।

"कोटिक" शब्द की व्याख्या करते हुए उपाध्याय धर्मसागरजी लिखते हैं—"कोटिशः सूरिमन्त्र जापपरिज्ञानादिना कोटिकौ" अर्थात् अनेक करोड़ वार सूरि मन्त्र का जाप और उसके परिज्ञान आदि से "कोटिक" कहलाये, उपाध्याय धर्मसागरजी महाराज ने सूरि मन्त्र को देखकर उसके शब्दों और अक्षरों को गिनकर सोचा होता, तो वे यह कभी नहीं लिखते कि 'कोटिशः सूरि मन्त्र जाप करने से सुस्थित सुप्रतिबुद्ध' ने "कौटिक" नाम धारण किया था, क्या उन स्थविरों के लिए सूरि मन्त्र जाप के अतिरिक्त अन्य कोई आवश्यक कर्तव्य था ही नहीं, अथवा उनके आयुष्य हजारों वर्षों के थे, जो सूरिमन्त्र के करोड़ों जापकर सकते ? वास्तविक हकीकत तो यह है कि सुस्थित सुप्रतिबुद्ध ये उन दोनों के नाम थे गृहस्थाश्रम में सुस्थित "कोटिवर्ष" (पश्चिम बंगाल) और सुप्रतिबुद्ध "काकन्दी" नगरी (गिद्धोर स्टेट) के निवासी थे, दोनों व्याघ्रापत्यसगोत्र थे और दोनों आर्य सुहस्ती के शिष्य थे, आर्य सुस्थती के कोटिवर्षीय होने से वे "कोटिक" कहलाते थे, और इनसे निकला हुआ गण "कोटिक" नाम से प्रसिद्ध हुआ था, आजकल का प्रचलित सूरि मन्त्र हमारे आचार्य गण श्री गौतम गणधर के समय का परम्परागत मानते हैं, जिसका आधार पिछले समय के स्तुति-स्तोत्रों के अतिरिक्त कोई नहीं है, हमारे आगम साहित्य में सूरि मन्त्र की कोई चर्चा तक नहीं है, आजकल सूरिसन्त्र के नाम से जिस मन्त्र को आचार्य गिनते हैं वह वास्तव में ग्रीक लोगों का मन्त्र है और ग्रीक लोगों के साथ ही भारत में आया है, सर्व प्रथम पार्श्वनाथ की परम्परा के आचार्यों ने जो कि "पासत्था" के नाम से पहिचाने जाते थे और अधिकांश पश्चिम भारत के सिन्ध, पंजाब, गन्धार (कन्दहार) शकिस्तान आदि प्रदेशों में विचरते थे, विक्रम की दूसरी शताब्दी के बाद जब पश्चिम प्रदेशों में रहने वाले जैन गृहस्थ पूर्व की तरफ

भारत में आए तब कुछ "पासत्थाओं" ने तो यहां सूरिमंत्र के पूजा पट्ट विगैरह छोड़कर साधु का संयम मार्ग पालना शुरू किया, तब कतिपय "पासत्थों" के रूप में रहे, उनके द्वारा इस प्रदेश में सूरिमंत्र का धीरे-धीरे प्रचार हुआ, फिर भी जो त्यागी श्रमण गच्छों के नेता थे उन आचार्यों ने सूरि मन्त्र को कभी नहीं अपनाया। इस परिस्थिति में करोड़ों सूरिमंत्र के जापों से "कोटिक" कहलाने की वात निराधार ही नहीं प्रोपेगेण्डा मात्र है।

उपाध्याय धर्मसागरजी ने अपनी इस टीका के वनाने का स्थल समय और श्लोक प्रमाण विगैरह तीन श्लोकों में लिखकर कल्प-किरणावलि की समाप्ति की है, अपना नाम निर्देश नहीं किया। वृत्ति की समाप्ति के बाद चौबीस श्लोकों की एक वड़ी प्रशस्ति दी है, जिसके प्रारम्भ में तपागच्छ के कतिपय आचार्यों का परिचय देने के बाद उपाध्याय धर्मसागरजी की प्रशंसा में कुछ श्लोक रोके हैं, परन्तु प्रशस्ति का अधिक भाग धर्मसागरजी के भक्त श्रावक श्री कुंवरजी के धर्मकृत्यों के वर्णन में रोका है, यह प्रशस्ति धर्मसागरजी के किसी शिष्य की बनाई हुई है।

६—कल्पसूत्र-प्रदीपिकावृत्ति—पं. संघविजय कृता

यह प्रदीपिका वृत्ति आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी के शिष्य पंन्यास संघविजयजी की कृति है, वृत्ति संक्षिप्त होते हुए भी व्याख्यान में पढ़ने योग्य हैं, इसका श्लोक परिमाण ३२५० है, इसका संशोधन उपाध्याय श्रीकल्याणविजयजी के शिष्य उपाध्याय श्री धनविजयजी द्वारा संवत् १६८१ में हुआ है, इस वृत्ति में सबसे अधिक विशेषता तो यह देखी गई कि लेखक खंडन मंडन के संबन्ध में वहुत ही मध्यस्थ रहे हैं, "कल्पकिरणावलि" "कल्प सुबोधिका" आदि की तरह इस टीकाकार ने लड़ाई के मोर्चे मजबूत नहीं किये, वाकी अन्य टीकाकारों की तरह इन्होंने भी "संदेह विषौषधी" "कल्पकिरणावलि" आदि पूर्ववर्ती वृत्तियों का अनुगमन करके अनेक स्खलनाएं की हैं, जैसे उपाध्याय धर्मसागरजी ने अपनी किरणावली में "भण्डी रमण यात्रा" सम्वन्धी प्राकृत भाषा के उद्धरण में केवल "म" के स्थान पर "व"।

मानकर जो भूल की थी उसकी परम्परा को परवर्ती सभी टीकाकार अपनी अपनी टीकाओं में थोड़े थोड़े फेरफारों के साथ निभाते ही गए, धर्मसागरजी का प्राकृत उद्धरण नीचे लिखे मुजब था ।

" तस्स य सावगस्स मित्तो भंडीरवणजत्ताए तारिसा णत्थि अण्णस्स वइल्ला ताहे तेण ते भंडीए जोएत्ता नीता अणापुच्छाए, तत्थ अण्णेण वि अण्णेण वि समंधावं कारिता ताहे छिन्ना ॥"

सागरजी का उपर्युक्त उद्धरण किसी प्राकृत महावीर चरित्र से लिया गया है, जो मूलरूप में सूत्रों की चूर्णिका परिवर्तित रूप है, चूर्णियों में इस पाठ का "भण्डी-रमण-जत्ता" यह शुद्धरूप है, सागरजी के उद्धरण में "भण्डीर-वण-जत्ता" यह रूप वन गया है, यह विकृत रूप सागरजी ने खुद ने बनाया या चूर्णि पर से लेने वाले ने वनाया, यह कहना कठिन है, परन्तु इतना निश्चित है कि सागरजी महाराज इस अशुद्धरूप को यथार्थरूप में समझ नहीं पाये थे, इसी पाठ में आने वाले "भंडीए जोएत्ता" इत्यादि शब्दों पर ध्यान दिया होता तो आप इस भूल से बच जाते, परन्तु वैसा नहीं हुआ, मालूम होता है "जत्ता" शब्द के सम्बन्ध से आपने यही अर्थ मान लिया है कि "भण्डीर वन में किसी देव के नाम की यात्रा लगती होगी" ।

पंडित संघविजयजी ने सागरजी के पाठ में जात्रा शब्द के साथ किसी देव का नाम न देखकर अपनी टीका में भंडीर और यात्रा के वीच में "यक्ष" शब्द जोड़कर "भंडीर यक्ष यात्रा" बनाकर उक्त कमी को पूरा किया ।

"कल्प दीपिका" कार को प्रदीपिकाकार के पाठ में कुछ क्षति ज्ञात हुई जिसका संशोधन करके उन्होंने "भंडीर" के साथ रहे हुए "वन" शब्द को हटाकर "मित्र" शब्द जोड़ा, अर्थात् "भंडीर मित्र यक्ष यात्रा" वनाकर कमी को पूरा किया ।

"कल्प सुबोधिका" कार उपाध्याय श्री विनयविजयजी को दीपिकाकार का संशोधन भी ठीक नहीं जँचा और अपनी सुबोधिका में "भण्डीर-वन-यक्ष-यात्रा" इस रूप को कायम किया ।

एक भूल के वाद नयी-नयी दूसरी भूलें किस प्रकार होती हैं ? उसके कुछ दृष्टांत उपस्थित किये हैं, उपाध्याय धर्मसागरजी के वाद जितने भी कल्पटीकाकार हुए हैं, उन सभी ने इस भूल को आगे से आगे खींची है, परन्तु परिमार्जन नहीं किया, खरी वात तो यह है कि उस समय मथुरा तरफ के प्रदेश में वैलगाडियाँ दौड़ाकर लोग हार जीत करते थे, यहां पर यात्रा शव्द मेले का वाचक है, उस मेले में अच्छे से अच्छे वैलों को गाडी में जोतकर दौड़ाते और सब से आगे वढने वाले पुरस्कार पाते थे, घुड़दौड़ की तरह इन गाडियों की दौड़ को देखने के लिए वहां हजारों लोगों का मेला लगता था। कल्पटीकाकार इस स्थिति को समझ गए होते तो यह भूल आगे चलने नहीं पाती।

पं० संघविजयजी गणी "महावीर निर्वाण के वाद ९८० में वलभी में आगम लिखे गए और ९९३ में कल्पसूत्र सभा में वांचा गया, इस मान्यता वाले प्रतीत होते हैं," इसीलिये किसी अन्तर्वाच्य के—

"नवशत अशीति वर्षे, वीरात् सेनाङ्गजार्थमानन्दे।
संघसमक्षं समहं, प्रारब्धं वाचितुं विज्ञैः" ॥१॥

इस पद्य का खंडन करते हुए आप कहते हैं, ९८० में पर्युषणा कल्प की सभा में वाचना प्रारम्भ करने की वात असंगत है, "वाय-णंतरे" इस शव्द का दूसरा अर्थ दूसरी वाचना ऐसा होता है, कल्प पुस्तक पर लिखा गया यह पहली वाचना और सभा में पढा गया यह दूसरी वाचना समझना चाहिए, परन्तु पं० श्री संघविजयजी की यह मान्यता श्री मुनिसुन्दर सूरिजी के एक स्तोत्र के पद्य पर से निश्चित हुई है, जो ठीक नहीं है, क्योंकि वीरनिर्वाण के वाद ९९३ में ध्रुवसेन राजा के अस्तित्व का ही पता नहीं है, तो उसके लिए सभा में कल्प-वाचना का तो सम्भव ही कैसे हो सकता है।

ध्रुवसेन नामक मैत्रक वंशी वलभी में तीन राजा हुए हैं, जिनका अस्तित्व समय नीचे लिखे अनुसार था—

प्रथम ध्रुवसेन—(गु. संवत् २००-२३० तक) ई. स. ५१९ से ५४९

द्वितीय ध्रुवसेन—(गु. सं. ३०८ से ३२३) ई. सं. ६२७ से ६४२

तृतीय ध्रुवसेन—(गु. सं. ३३१ से ३३५) ई. सं. ६५० से ६५४

ध्रुवसेन, धरसेन, शीलादित्यादि मैत्रक वंशीय राजा थे, इनकी राजधानी वलभी नगर था और "महास्थान" होने के कारण आनन्द-पुर में भी राजाओं का निवास स्थान रहता होगा, परन्तु ९९३ के साथ इनका समय मेल नहीं खाता, क्योंकि इनमें जो सर्व प्रथम ध्रुवसेन था, उसका भी राजत्व काल ई० सं० ५१६ से ५४६ तक था, जो विक्रम संवत् ५७६—६०६ होता है, तब वीर निर्वाण संवत् ९९३ में विक्रम संवत् ५२३ आता है, जिस समय पहले ध्रुवसेन का भी अस्तित्व नहीं था, तो दूसरे तीसरे ध्रुवसेन की तो बात ही कहना निरर्थक है।

इस वाचनान्तर का खरा रहस्य तो यह है कि महावीर के सूत्रागम की वाचनाएँ उनके निर्वाण के बाद तीन हुई हैं।

वाचना पहली पाटलीपुत्र नगर में आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी के युगप्रधानत्व काल में हुई थी जिसमें ग्यारह अंगों की संघटना स्थविरों ने पाटलीपुत्र में ही करली थी और पूर्वश्रुत का अध्ययन आर्य भद्रबाहु ने नेपाल के मार्ग में रहते हुए कराया था, स्थूलभद्र मुनि १४ पूर्व उन्हीं के पास पढ़े थे।

दूसरी माथुरी वाचना मथुरा नगरी में वीर निर्वाण से ८२७ और ८४० के बीच में युग प्रधान आचार्य श्री स्कन्दिल सूरि की प्रमुखता में हुई थी इसलिए वह माथुरी वाचना कहलाई, इस वाचना के समय सर्व सूत्रागम लिख लिये गये थे और अनुयोग धर आचार्यों को कालिक सूत्र की एक एक पुस्तक अपने पास रखने की आज्ञा दी थी।

जिस समय उत्तर-पूर्वीय जैनश्रमण संघ ने मथुरा में स्कन्दिलाचार्य की प्रमुखता में आगम व्यवस्थित किये थे, उसी समय के लगभग दक्षिण पश्चिमीय जैन श्रमण संघ ने सौराष्ट्र के वलभीनगर में इकट्ठा होकर नागार्जुन वाचक की प्रमुखता में

विद्यमान सभी जैन आगम लिख लिए थे, इस प्रकार यह दूसरी वाचना मथुरा और वलभी में होने के कारण माथुरी और वालभी इन दो नामों से प्रसिद्ध हुई, परन्तु इन दो वाचनाओं के लेखन में कई स्थानों पर पाठान्तर हो गए थे, इन पाठान्तरों को मिटाने के पहले ही आर्य स्कन्दिल और आर्य नागार्जुन परलोकवासी हो गए थे और अनुयोग धर आचार्य अपनी अपनी वाचनाओं के अनुसार जैन श्रमणों को सूत्रों का पठन पाठन कराते जाते थे, लगभग १५० वर्षों के वाद जव दोनों श्रमण संघों का सौराष्ट्र में मिलन हुआ तो पता चला कि दो वाचनाओं के भीतर अनेक पाठान्तर हो गए हैं जिनका मिटाना वहुत जरूरी है, यह वात दोनों वाचनाओं के अनुयायियों के मन में वैठ गयी और दक्षिणात्य तथा उत्तरीय संघ के नेताओं ने मिलकर दोनों वाचनाओं का समन्वय करके जहां तक वन सके पाठान्तरों को मिटाने का निश्चय किया और वलभी नगर में दोनों संघ सम्मिलित हुए, इस सम्मेलन में माथुरी वाचना के अनुयायी संघ के नेता श्री देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमण थे, तव वलभी वाचना के मानने वाले दाक्षिणात्य संघ के प्रधान आचार्य कालक थे, और उपप्रधान थे गन्धर्ववादि वैताल शान्तिसूरि, दोनों वाचनाओं पर गहरा विचार करने के उपरान्त दोनों संघों के प्रमुखों ने माथुरी वाचना को प्रधानत्व दिया और वलभी वाचना के सूत्रों में जो कुछ पाठान्तर हों उन्हें व्याख्या में सूचित कर देने का निर्णय हुआ और जो ग्रन्थ एक ही वाचना में उपलब्ध हो, उसे वैसा का वैसा रख देने का निश्चय हुआ, संघ के निर्णयानुसार वलभी वाचना के लगभग सभी पाठान्तर सूत्रों की व्याख्याओं में "नागार्जुनीयास्तु एवं पठन्ति" इत्यादि प्रकार से टीकाओं में सूचित कर दिये, परन्तु एक जवरदस्त पाठान्तर ऐसा आया जो किसी प्रकार से हल नहीं हो सका, वह पाठान्तर था कालगणना सम्वन्धी, सभी सूत्र लिखे जा चुके थे, लगभग आधा पर्युषणाकल्प भी लिख लिया था, जव श्रमण भगवान महावीर के चरित्र के अन्त में उनके निर्वाण का समय सूचित करने का प्रसंग आया, तव आचार्य श्री देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमण की गणना से दसवें शतक का अस्सी वां वर्ष चल रहा था,

इस पर वालभी संघ के प्रधान आचार्य कालक ने कहा—"आपका गणना से अस्सीवां वर्ष ठीक हो सकता है, परन्तु हमारे संघ की गणना के अनुसार वर्तमान वर्ष अस्सीवां नहीं बल्कि ९९३ वां आता है और हमारी इस गणना के अनुसार हम बिल्कुल ठीक समझते हैं, इस झमेले का निकाल करने के लिये दोनों संघ के प्रधानों ने निश्चय किया कि कालगणना से सम्बन्धित दोनों संघों की मान्यता मूल सूत्र में स्वीकार करली जाय और उसकी सूचना मूल सूत्र में करली जाय, इस समझौते के अनुसार श्रमण भगवन्त महावीर के चरित्र के अन्त में—

"समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव सव्वदुक्खप्प हीणस्स नवषासासयाइं विइक्कताइं दसमस्स य वास सयस्स अयं असीइ मे संवच्छरे काले गच्छई। वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ इति दीसई ॥१४९॥"

उक्त सूत्र लिखकर दोनों वाचनाओं का समन्वय किया, तात्पर्य दोनों का एक ही था, माथुरी वाचना की गणना में से एक युगप्रधान का समय छूट गया था, तब वालभी वाचना वालों ने छूटे हुए काल को अपनी गणना में से बाद नहीं किया था, इसी के परिणाम स्वरूप दोनों वाचनाओं की स्थविरावलियों में १३ वर्ष का अन्तर चलता आता था, इस विषय का विशेष खुलासा जानने की इच्छा वालों को हमारा "वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना" नामक निबंध अथवा "पट्टावली पराग-संग्रह" पढ़ना चाहिए।

पन्यास संघविजयजी ने सामाचारी में नव प्रकार के श्रमण-गाह्य प्रासुक जलों का वर्णन करते हुए, नवम जल को "शुद्ध विकट" लिखकर उसका पर्याय "उष्णोदक" अथवा "वर्णान्तरादि प्राप्त शुद्ध जल" लिखा है, और केवल उष्ण जल को "उष्ण विकट" कहा है।

"गणि" शब्द का जो अर्थ संदेह-विषौषधिकार आचार्य जिनप्रभसूरि ने लिखा है वही अर्थ शब्दशः इन्होंने लिखा है, जो अनागमिक है।

"पाद प्रोञ्छन" का अर्थ संदेह विषौषधिकार और किरणावलीकार ने "रजोहरण" किया है, उस प्रकार प्रदीपिकाकार ने भी पाद प्रोञ्छन का अर्थ "रजोहरण" ही किया है। जो ठीक नहीं है, "पाद प्रोञ्छन" एक हाथ भर से कुछ अधिक ऊनी वस्त्र खंड होता था, जो रजोहरण के ऊपर तीसरी "निषद्या" के रूप में रहता था, वैठने का प्रसंग आने पर उस पर वैठा भी जाता था, और उससे पग भी पोंछे जाते थे, आजकल उसी प्रकार की निषद्या के स्थान में छोटा सा ऊनी वस्त्र का टुकड़ा वांधा जाता है, जो "निशीथीया" इस नाम से पहिचाना जाता है, रजोहरण का नाम अगर पाद प्रोञ्छन होता तो साधु वसति के वाहर कार्यवश जाते समय दूसरे श्रमण को अपने उपकरण भलाने के समय रजोहरण को क्यों भलाता? क्योंकि प्रत्येक साधु के पास रजोहरण तो एक ही रहता है और वह मकान में अगर भ्रमण में हर समय साधु के पास ही रहता है, इस वात पर अगर टीकाकार विचार करते तो "पादप्रोञ्छन" को वे "रजोहरण" कभी नहीं लिखते।

प्रदीपिकाकार श्री पन्यास संघविजयजी ने अपनी टीका के अन्त-में एक प्रशस्ति दी है, जिसमें अपने आचार्यों का परिचय देने के अतिरिक्त ग्रन्थ निर्माण का समय, ग्रन्थ संशोधक का नाम, समय और ग्रन्थ का श्लोकपरिमाण दिया है, ग्रन्थ ठीक ढंग से संशोधित होकर छपा होता तो सभा में पढने योग्य होता, परन्तु इसका मुद्रण विल्कुल अव्यवस्थित अशुद्ध और अनजानों के द्वारा हुआ है, जिसके परिणाम स्वरूप अच्छे ग्रन्थ का महत्त्व समाप्त हो गया है।

७–कल्पदीपिका—पं० जयविजयजी कृत।

कल्पदीपिकाकार ने ग्रन्थारम्भ में निम्नलिखित श्लोकमें कल्पदीपिका वनाने का उद्देश्य प्रकट किया है।—

"प्रणम्य निखिलान् सूरीन्, स्वगुरुं सततोदयम्।
कुर्वे स्वबोधविधये, सुगमां कल्पदीपिकाम् ॥२॥

आप लिखते हैं—मैं अपने बोध को बढाने के लिये सुगम कल्पदीपिका को बनाता हूँ। कर्ता ने वास्तव में ग्रन्थ बनाने का खरा उद्देश्य प्रकट किया है, अनेक ग्रन्थकार ग्रन्थ निर्माण का हेतु परहित परोपकार आदि बताकर अपने आपको परोपकारियों की कोटि में पहुंचाते हैं वैसा जयविजयजी ने नहीं किया, इनके पहले कई विद्वानों ने कल्प पर अन्तर्वाच्य तथा टीका, वृत्तियां लिखी हैं, परन्तु हमारी दृष्टि में उन सब वृत्तियों से पं० जयविजयजी की यह "कल्पदीपिका" जिस ढंग से तुले नपे शब्दों में लिखी गई है वैसी आज तक कोई कल्पवृत्ति नहीं बनी, आपने दीपिका को ३४३२ श्लोकों में पूरा किया हैं, फिर भी इसमें आने वाले चर्चा के प्रसंगों को चर्चा किये बिना नहीं छोडा और खण्डन भी आपने बड़ी सतर्कता से मृदु भाषा में किया है, जिसे पढकर पाठक का चित्त प्रसन्न हो जाता है, दृष्टांत के तौर पर षट् कल्याणक की बात को ही लीजिये, कल्पकिरणावली तथा सुबोधिकाकार में षट्कल्याणकों के सम्बन्ध में इस ढंग से चर्चा की है, कि पढने वाला खुद उसे पढ़कर ऊब जाता है।

दीपिकाकार ने षट्कल्याणक के सम्बन्ध में निम्न प्रकार के शब्द लिखे हैं—

"अत्र पंचसु स्थानेषु इत्येव व्याख्यातं न पुनः कल्याणकेष्विति स्वयमेवाऽलोच्यम्" ॥

इसी स्थल पर अन्य वृत्तिकारों ने कटुता-जनक शब्दों में मंगल के प्रसंग में वैमनस्य उत्पन्न करने वाला शास्त्रार्थ किया है, जो उचित नहीं है।

दीपिकाकार ने उपाध्याय धर्मसागरजी की भी गलतियां निकाली हैं, परन्तु नपे तुले कोमल शब्दों द्वारा—

किरणावलिकार ने "भार" शब्द की परिभाषा लिखते हुए—

"मणैर्दशभिरेका च, घटिका कथिता बुधैः।
धटिभिः दशभिस्ताभिरेको भारः प्रकीर्तितः" ॥

उपर्युक्त श्लोक के कथनानुसार "भार" माना है, जो विचारणीय है, क्योंकि इस प्रकार के भार का वजन अठहत्तर मण से भी अधिक होता है और आधे भार का वजन उनचालीस मण परिमित होता है, इतना उन्मान पुरुप शरीर का कैसे हो सकता है यह विचारने योग्य होता है।

पं० जयविजयजी ने भी "भण्डी–रमण–यात्रा" के स्थान "भण्डीर–मित्र–यक्ष–यात्रा" लिखकर पूर्व परिचित भूल का अनुगमन किया है।

भगवान् महावीर के अंतिम रात्रि की देशना के निरूपक सूत्र की व्याख्या में पं० जयविजयजी ने भी जिनप्रभसूरि का अनुगमन किया है, जो अनागमिक है। महावीर निर्वाण के वाद कालसूचक जो सूत्र कल्प में दिया गया है, उस पर भी आपने ऊहापोह किया है, एक कल्पान्तर्वाच्य के कथनानुसार वीर निर्वाण से ९८० में कल्पसूत्र की सभा-समक्ष वाचना होने की वात लिखकर आप कहते हैं—यह वात भी है विचारणीय, क्योंकि अन्यत्र ९९३ में सभा-समक्ष कल्प की वाचना होने की वात देखी जाती है, यह लिखकर आप मुनिसुन्दर सूरि के स्तोत्र का वह पद्य लिखते हैं—जिसमें ९९३ में आनन्दपुर में सभा के समक्ष कल्प की वाचना होने की वात कही है, अन्त में इस समस्या का निर्णय आप बहुश्रुतों पर छोड़ते हैं और ९९३ में पर्युषणापर्व पंचमी से चतुर्थी में प्रवृत्त हुआ, इस वात को प्रमाणित करने के लिए "सन्देह-विषौषधिकार" की "तेणउअ नवसएहिं" इत्यादि गाथा लिखकर ९९३ में चतुर्थी में पर्युषणा प्रवृत्त होने का समर्थन किया है और कल्पकिरणावलिकार की पर्युषणा ९९३ में करने की वात का खण्डन किया था, उसका पं० जयविजयजी ने खण्डन किया है, और लिखा है कि "सन्देह–विषौषधिकार के व्याख्यान को दूषित ठहराना योग्य नहीं है।"

ऋषभ चरित्र के अधिकार में धरणेन्द्र द्वारा नमि विनमि को ४८ विद्या देने का किरणावलीकार ने लिखा है इसके सम्बन्ध में दीपिकाकार लिखते हैं,—यह कथन विचारणीय है, क्योंकि ऐसा

मानने में आवश्यकवृत्ति, चूर्णि, ऋषभ चरित्रादि सर्व ग्रन्थों का विरोध उपस्थित होता है।

जम्बू चरित्र के अधिकार में पं० जयविजयजी जम्बू के माता, पिता, जम्बू की आठ स्त्रियाँ और उन स्त्रियों के माता, पिता इन सब की दीक्षा हो जाने के बाद कालान्तर में "प्रभव" और उसके साथी चार सौ निन्यानवे चोरों की दीक्षा होना बताते हैं और इसका आधार परिशिष्ट पर्व का वचन उद्धृत करते हैं।

आचार्य भद्रबाहु और वराहमिहिर के सम्बन्ध में दीपिकाकार कहते हैं—वराहमिहिर के पुत्र हुआ था, और वराहमिहिर ने उसका आयुष्य सौ वर्ष का बताया था, अन्यत्र सर्व स्थानों में राजा के पुत्र होने की बात आती है, पं० जयविजयजी ने शायद "ऋषि मंडल प्रकरण" के टीकाकार पद्ममन्दिर गणी के मत का अनुसरण किया है, क्योंकि "प्रबन्ध चिन्तामणी" के अतिरिक्त किसी भी कल्पसूत्र की टीका में वराह मिहिर के पुत्र होने की बात नहीं देखी जाती।

स्थविरावली में आर्यरक्ष के नाम पर किरणावलीकार ने आर्य रक्षित की जो कथा लिखी है उसके सम्बन्ध में दीपिकाकार निम्न प्रकार के शब्दों में किरणावलीकार उपा० धर्मसागरजी की भूल दिखाते हैं—

"अत्र कल्प-किरणावलीकारेण आर्यरक्षिताकथा लिखितास्ति परं सा न युज्यते, यतः श्री आर्यरक्षितास्तोसलिपुत्राचार्यशिष्याः, श्रीवज्रस्वामिपार्श्वे नवपूर्वाध्येतारः नाम्नाप्यार्यरक्षिताश्च, एते चार्य नक्षत्रशिष्याः श्रीवज्रस्वामिभ्यः शिष्यप्रशिष्यादिगणनया नवम-स्थानभाविनो नाम्नाप्यार्यरक्षा इति स्फुट एवानयोर्भेदोऽवसीयते इति ॥"

'यहां (आर्य रक्ष के स्थान में) कल्प-किरणावलिकार ने आर्य-रक्षित की कथा लिखी है, जो ठीक नहीं है, क्योंकि आर्यरक्षितजी तोसलिपुत्राचार्य के शिष्य थे और वज्रस्वामी के पास नवपूर्व पढ़े थे, नाम से भी आर्यरक्षित ही थे, तब ये आर्य रक्ष आर्य नक्षत्र के शिष्य

थे और वज्रस्वामी के शिष्य-प्रशिष्यादि की गणना से नवमस्थान में आते थे और नाम से भी आर्यरक्ष थे, इस प्रकार इन दो में स्पष्ट रूप से भेद था।'

पर्युषणा-कल्प की सामाचारी में श्रावण तथा भाद्रपद की वृद्धि में पर्युषणा कब करना चाहिये इस प्रश्न की चर्चा में पं० जयविजयजी ने बहुत ही खूबी के साथ श्रावण की वृद्धि में भाद्रपद शुक्ला ४ और भाद्रपद की वृद्धि में द्वितीय भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी के दिन पर्युषणा करने का प्रतिपादन किया है।

आचारोक्त २१ प्रकार के जलों के वर्णन में नवम "शुद्ध-विकट" और "उष्ण-विकट" शब्दों का अर्थ करते हुए आप "शुद्ध विकट" का अर्थ उष्णोदक करते हैं और कहते हैं कि क्वचित् "शुद्ध विकट" शब्द से वर्णान्तर प्राप्त जल ऐसा व्याख्यान भी किया जाता है," वह विचारणीय है क्योंकि कल्पचूर्णि आदि तथा स्थानांगवृत्ति आदि में "शुद्ध विकट" शब्द का अर्थ "उष्णोदक" इतना ही किया है, "उष्ण-विकट" शब्द से भी "उष्ण जल" को ही ग्रहण किया है और लिखा है कि वह उष्ण विकट असिक्थ (जिसमें नाज का दाना न गिरा हो ऐसा) होना चाहिए।

"गणी" और "गणधर" शब्दों के अर्थ जिनप्रभसूरि के अर्थों में किये हैं।

दीपिका के अन्त में पन्यास जयविजयजी ने नव पद्यों में एक बड़ी प्रशस्ति दी है, जिसमें आचार्य श्री विजयहीरसूरि, विजयसेन-सूरि, विजयतिलकसूरि और विजय आनन्दसूरि की प्रशंसा की है और अपनी इस कृति को पण्डितवर भावविजयजी गणी द्वारा संशोधित होने की सूचना की है, आपने यह वृत्ति आचार्य श्री विजयानन्दसूरि की विद्यमानता में विक्रम सं० १६७७ के कार्त्तिक सुदी सप्तमी को समाप्त की है।

जयविजयजी उपाध्याय श्रीविमलहर्षजी के शिष्य थे, यह बात भी आपने प्रशस्ति में प्रकट की है।

८–कल्पप्रदीपिका—कर्ता श्री संघविजयजी ।

प्रदीपिकाकार श्री संघविजयजी ने अपनी कल्पप्रदीपिका वि० सं० १६७६ में आचार्य विजयतिलक सूरि के आचार्यत्वकाल में समाप्त की थी, तब उसके बाद सं० १६७७ में बनने वाली "कल्पदीपिका" आचार्य विजय आनन्द सूरि के आचार्यत्व काल में समाप्त हुई, इससे जाना जाता है कि आचार्य विजय तिलक सूरिजी अधिक जीवित नहीं रहे, क्योंकि विजय सेन सूरिजी सं० १६७१ की साल में स्वर्गवासी हुए थे और उसके बाद आठ उपाध्यायों ने तिलक सूरि को आचार्य बनाया था, सतहत्तर की साल में विजयानन्द सूरि को विजयतिलकसूरि का पट्टधर होना, दीपिकाकार जय विजयजी ने सूचित किया है, इससे यह बात निश्चित है कि विजयतिलक सूरि तीन वर्ष के उपरान्त जीवित नहीं रहे ।

९–श्री कल्पसुबोधिका-टीका-विनयविजयोपाध्याय कृत ।

उपाध्याय विनयविजयजी की कल्पसुबोधिका टीका आज तक की मुद्रित अमुद्रित सभी कल्प-टीकाओं में सबसे विस्तृत है, अन्य कल्पवृत्तियों ने कल्पान्तर्वाच्यों में से बढते बढते टीकाओं का रूप ग्रहण किया है, उपाध्याय विनय विजयजी ने पूर्व तन वृत्तियों का संक्षेप और अपने समय के श्रमणों का भाषा ज्ञान परख कर हरएक श्रमण पढ सके इस प्रकार की सुबोधिका टीका निर्मित की है और इसी कारण से आज तक पर्युषणा में प्रायः हर एक तपागच्छ का साधु सुबोधिका के आधार से पर्युषणा कल्प की वाचना करता है ।

उपाध्याय श्री विनयविजयजी का स्वभाव लड़ाका होगा ऐसा सुबोधिका के अन्दर आने वाले खण्डन मण्डनों से मालूम होता है, कल्प की वाचना के प्रारम्भ में ही षट् कल्याणक वादी और आगे जाकर कल्प-किरणावलीकार, दीपिकाकार आदि की खबर ली है, परन्तु उपाध्यायजी ने अपनी तरफ का पुरुषार्थ तो कम ही किया होगा, क्योंकि इनके पूर्वगामी दीपिकाकार पं० जय विजयजी गणी की बताई हुई भूलों का ही आपने जोरों के साथ प्रचार किया है,

कहीं कहीं आपने किरणावली, दीपिकाकार के नाम से दोनों की सम्मिलित भूलें बताई हैं, परन्तु ऐसी कतिपय भूलें किरणावली में अवश्य देखी गई, परन्तु दीपिका में नहीं, उदाहरण के रूप में स्वप्न पाठकों ने आकर राजा सिद्धार्थ को कुछ आशीर्वाद के पद्य सुनाए हैं, उनमें एक पद्य में "कोटिम्भर" शब्द का अवश्य प्रयोग हुआ है, जो किरणावली में मिलता है, परन्तु उपाध्यायजी सुबोधिका में लिखते हैं—

"अत्र किरणावलि-दीपिकाकारभ्यां "कोटि भरस्त्वं भवे" ति पाठो लिखित स्तत्र कोटिं भर इति प्रयोगाश्चिन्त्यः ॥"

इस लेख में उपाध्यायजी ने किरणावलीकार के साथ दीपिकाकार को भी याद किया है, परन्तु दीपिका में "कोटिं भर" शब्द वाला पद्य नहीं है, फिर उपाध्यायजी महाराज ने दीपिकाकार को कैसे याद किया है, यह समझ में नहीं आता।

"भण्डी-रमण-यात्रा" के स्थान पर उपाध्यायजी महाराज ने भी "भण्डीर-वन-यक्ष-यात्रा" लिखकर अपने पुरोगामी टीकाकारों का अनुसरण किया है, जो शास्त्रोत्तीर्ण है।

भगवान् महावीर के अभिग्रह के सम्बन्ध में आप लिखते हैं।

"स्वामी अभिग्रहे रोदनं न्यूनं निरीक्ष्य निवृत्तः"

अर्थात्—'अभिग्रह पूरा होने में रुदन की न्यूनता देखकर भगवान् वापस लौटे, यह कथन प्राचीन ग्रन्थों से विरुद्ध है, प्राचीन वृत्तान्तों में रोने की बात नहीं है, दीपिकाकार ने भी रोने की न्यूनता देखकर भगवान् को लौटने की बात नहीं लिखी, उपाध्यायजी ने किसी अर्वाचीन लेखक का अनुकरण किया मालूम होता है।

पुस्तक वाचना के सम्बन्ध में उपाध्यायजी की मान्यता है, कि ९८० में कल्पसूत्र लिखा गया है, और ९९३ में सभा समक्ष वाँचा गया, इस मान्यता को उपाध्यायजी ने श्री मुनि सुन्दरजी कृत एक स्तोत्र की गाथा के आधार पर निश्चित किया है, परन्तु उपाध्यायजी को यह ज्ञात हो गया होता कि ध्रुवसेन राजा तो ९९३ के बाद हुआ है तो उक्त मान्यता कभी निश्चित नहीं करते।

उपाध्यायजी ने स्थविरावली गत "कुल" और "गण" शब्दों की व्याख्या करते हुए एक प्राचीन गाथा दी है, जो नीचे लिखी जाती है—

"तत्थ कुलं विन्नेयं, एगायरिस्स संतई जा उ।
दुण्ह कुलाण मिहो पुण, साविक्खाणं गणो होइ ॥१॥"

यह गाथा लगभग प्रत्येक टीकाकार ने अपनी अपनी टीका के इस स्थल में दी है, जिसका तात्पर्यार्थ यह है कि एक आचार्य की शिष्य परम्परा का नाम "कुल" हैं और एक दूसरे के साथ साम्भौगिक व्यवहार रखने वाले दो कुलों का नाम है "गण," यह गाथा किसी सूत्र के भाष्य की मालूम होती है, किस भाष्य की है यह अब तक ज्ञात नहीं हुआ, परन्तु इसके तृतीय चरण में एक अशुद्धि घुस गई है, जिसका किसी भी पुस्तक के सम्पादक को पता नहीं लगा। जहां तक स्मरण है, इसके तृतीय चरण का प्रथम शब्द "दुण्ह" नहीं पर "तिण्ह" है। सूरत में प्रकाशित होने वाली सुबोधिका में "तिण्ह" छपा हुआ है, परन्तु सुबोधिका का अन्तिम संस्करण जो बम्बई से निकला है, उसमें "तिण्ह" के स्थान में "दुण्ह" शब्द रखकर शुद्ध स्थल को सम्पादकों ने अशुद्ध बना दिया है, यह अशुद्धि सम्भवतः "कल्पकिरणावली" प्रकाशित होने के बाद की सभी मुद्रित कल्पटीकाओं में घुस गई है, जो अवश्य सुधारने योग्य है, क्योंकि शास्त्र में कम से कम तीन कुलों का "गण" माना है, दो का नहीं, कल्पस्थविरावली में जिस जिस गण के कुलों का उल्लेख हुआ है, वे तीन या उससे अधिक हैं पर दो नहीं।

रोहगुप्त के सम्बन्ध में लिखते हुए उपाध्यायजी महाराज कहते हैं—'सूत्र में रोहगुप्त को आर्य महागिरिजी का शिष्य कहा है, परन्तु उत्तराध्ययन वृत्ति, स्थानांग वृत्ति आदि में रोहगुप्त को श्री गुप्ताचार्य का शिष्य लिखा है, इसका यथार्थ तत्त्व तो बहुश्रुत ही जानते हैं।'

उपाध्यायजी महाराज को टीकाओं तथा पिछले प्रकरण ग्रन्थों की अपेक्षा से कल्पसूत्र मूल का अधिक विश्वास रखना चाहिये था

स्थानांग सूत्र में सात निन्हवों के, उनके धर्माचार्यों के, तथा जो जिस नगर में निन्हव हुआ है उन नगरों के नाम दिये हुए हैं, इसी प्रकार अन्य सूत्रों में भी जहां जहां निन्हवों का उल्लेख आता है, वहां उनके नाम मात्र मिलते हैं, उनकी उत्पत्ति का समय व्याख्याकारों ने लिखा है, रोहगुप्त को महागिरि का शिष्य मान लेने पर उसका समय वीर निर्वाण की तीसरी शती में पड़ता है, तब भाष्यकार आदि ने निन्हवों का जो समय दिया है, उसमें रोहगुप्त का समय निर्वाण की छट्ठी शती में आता है, जो आर्य महागिरि के समय के साथ मेल नहीं खाता, इस कारण से रोहगुप्त के गुरु को श्रीगुप्त मानकर उक्त विरोधापत्ति को मिटा दिया है, जहां तक निन्हवों के समय निरूपण का सम्बन्ध है, निरूपण करने वाले प्राथमिक लेखक की असावधानी के भोग बने हैं।

उपाध्यायजी ने नागेन्द्र १, चन्द्र २, निर्वृत्ति ३, विद्याधर ४ के दीक्षा लेने पर उनके नाम से चार शाखा प्रवृत्त होना लिखा है, जो ठीक नहीं, किसी भी आचार्य के नाम से उनके पीछे जो शिष्य-परम्परा चलती है वह मूल आचार्य का "कुल" कहलाता है, शाखा नहीं, शाखा वहुधा नगरों के नाम से अथवा स्थान के नाम से प्रसिद्ध होती हैं, जैसे ताम्रलिप्तिका, पुण्ड्रवर्धनिका, सौराष्ट्रिका, मैथिलीया, क्षौमिलीया इत्यादि।

"किरणावली" कार ने स्थविर आर्यरक्ष के नाम के साथ आर्य रक्षित का वृत्तान्त जोड़ दिया है, इस भूल को वताते हुए दीपिका-कार पं. जयविजयजी ने वड़ी सौम्य भाषा में थोड़े शब्दों में लिखकर मामले को खत्म किया है तव उपाध्याय विनयविजयजी महाराज उसी वात को वड़े जोश खरोश के साथ प्रकट करते हैं, जो नीचे उद्धृत किया जाता है—

"थेरे अ अज्जरक्खेत्तिः—अहो वत किरणावलीकारस्य वहुश्रुतप्रसिद्धिभाजोऽपि अनाभोगविलसितं, यतो येऽमी श्रीतोसलिपुत्राचार्यशिष्याः श्रीवज्रस्वामिपार्श्वेऽधीतसाधिकनवपूर्वा नाम्ना च श्रीआर्यरक्षितास्ते भिन्नाः एते च श्रीवज्रस्वामिभ्यः शिष्यप्र-

शिष्यादिगणनया नवमस्थानभाविनो नाम्नाचार्यरक्षाः इत्येव-मनयोः आर्यरक्षिताऽऽर्यरक्षयोः स्फुटं भेदं विस्मृत्य आर्यरक्षस्थाने आर्यरक्षितव्यतिकरं लिखितवान् ॥"

प्रारम्भ में हम कह आये हैं कि उपाध्यायजी महाराज का स्वभाव लड़ाका जान पड़ता है, हमारे उस कथन की सत्यता पाठक गण उपर्युक्त फिकरा पढ़कर समझ सकते हैं, जो बात उपाध्यायजी के पूर्ववर्ती लेखक कह आए हों उसी बातको बढा चढ़ाकर प्रचारित करना यही तो लड़ाके मनुष्य की प्रकृति का परिचायक है, हमारी समझ में उपर्युक्त "आर्य रक्ष" और "आर्य रक्षित" वाली बात को उपाध्यायजी न छेड़ते तो आपकी विद्वत्ता को कोई क्षति नहीं पहुंचती।

सुबोधिका के अन्त में उपाध्यायजी ने अठारह बड़े पद्यों में एक प्रशस्ति दी है, जिसमें अपने आचार्यों, गुरुओं और सहायकों को याद किया है, उपाध्यायजी स्वयं श्री विजयानन्दसूरि की परम्परा में थे और विजयानन्दसूरि की विद्यमानता में ही संवत् १६९६ में सुबोधिका का निर्माण किया था और इसका संशोधन भी उपाध्याय श्री भावविजयजी ने किया है ऐसा आपने प्रशस्ति के एक पद्य में सूचित किया है।

१०—श्री कल्प-कौमुदी टीका—ले० उपाध्याय शान्तिसागरजी।

यह टीका प्रसिद्ध तपागच्छीय उपाध्याय धर्मसागरजी के प्रशिष्य उपाध्याय शान्तिसागरजी की कृति है। यह ग्रन्थ विक्रम संवत् १९९२ (ई० १९३६) में रतलाम की ऋषभदेवजी केसरीमली की पेढ़ी से प्रकाशित हुआ है, इसके सम्पादक आचार्य श्री सागरानन्दसूरिजी हैं।

"कल्प-कौमुदी" का श्लोक प्रमाण ३७०७ है, लेखक ने यथाशक्य सूत्र का शब्दार्थ देने में परिश्रम किया है, यह तो अच्छा ही है, परन्तु जहां तहां गाथाओं तथा संस्कृत पद्यों में दी हुई बातों का भी वर्णन पद्यों का अंग भंग करके संस्कृत वाक्यों में देने की चेष्टा की है, यह अच्छा नहीं किया, ऐसा करने के बजाय खास आकर्षक पद्य लेकर शेष छोड़ दिये जाते तो बुरा नहीं था।

कौमुदी में स्थान स्थान पर कल्पसुबोधिकाकार "उपाध्याय श्री विनयविजयजी" पर कुरुचिपूर्ण आक्षेप किये गए हैं, उपाध्यायजी ने सुबोधिका में कहीं-कहीं धर्मसागरजी की "कल्प किरणावली" गत भूलें दिखाई हैं, उन भूलों को निर्दोष प्रयोग बताने के लिए ही मानो शान्तिसागरजी ने इस टीका का निर्माण किया है, उपाध्याय विनय विजयजी एक अच्छी कोटि के वैयाकरण होने के उपरान्त जैन सिद्धान्त के भी विद्वान् थे, और "कल्पकिरणावली" में बताई हुई व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियां वस्तुतः खरी अशुद्धियां हैं, फिर भी सागरजी के इस प्रशिष्य ने अपने दादा गुरु का महत्त्व बनाये रखने के लिए इस टीका में भूलों पर लीपा पोती की है, अस्तु, दूसरों को भला बुरा कहने वाले मनुष्य अपनी योग्यता अयोग्यता को किस प्रकार भूल जाते हैं इस बात को समझने के लिये "कौमुदी" एक खास उपयोगी साधन है, शान्तिसागरजी विनयविजयजी द्वारा उद्घाटित धर्मसागरजी की भूलों को पढ़कर आग बबूला हो गए हैं और प्रसंग पर विनयविजयजी को "अज्ञ" 'व्याकरण ज्ञानशून्य' आदि अनेक उपाधियां दे डाली हैं, उनका यह क्रोध विनयविजयजी उपाध्याय तक ही सीमित नहीं रहा, किन्तु विनयविजयजी के प्रगुरु आचार्य श्री विजयहीरसूरि तक पहुंच गया है और उन्हें "प्रोढ-कर्मा" तक कह डाला है, यह उनकी योग्यता का सूचक है, इस विषय का कौमुदीकार सागरजी का मूल उल्लेख यह है—

"यच्च प्रौढकर्मपौत्रेण किरणावलिकृतोऽधिकृत्याष्टचत्वारिंशद्विरूक्त्याद्युक्तं तत्तस्याभिनिवेशितासूचकमेव" ।

उ० विनयविजयजी उ० कीर्तिविजयजी के शिष्य थे और कीर्तिविजयजी आचार्य श्री विजयहीरसूरि के, इस प्रकार विनयविजयजी को हीरसूरि का प्रशिष्य होने के नाते हीरसूरिजी का पौत्र माना गया, हीरसूरिका नाम न लिखकर उन्हें "प्रौढकर्म" इस विशेषण से उल्लिखित किया है, "प्रौढकर्म" का अर्थ होता है "भारी कर्मीजीव" आ० हीरसूरिजी ने धर्मसागरजी को गच्छ बाहर किया था, इस कारण से धर्मसागरजी के शिष्य-प्रशिष्यादि परिवार उन पर जलता

था और हीरसूरिका साँकेतिक नाम "प्रौढकर्म" बना लिया था और सागरों के आपसी व्यवहार में इसी नाम का व्यवहार हुआ करता था, कौमुदी टीका में इसके लेखक ने उपाध्याय विनयविजयजी के लिए "प्रोढ कर्म पौत्र" शब्द का प्रयोग किया है, सागर परम्परा के भी जो साधु इनको पार्टी में सम्मिलित नहीं थे उनके लिए उन्होंने कुछ सांकेतिक नाम रख छोड़े थे उनमें से एक नाम टीकाकार ने नीचे मुजब उल्लिखित किया है—

"अत्र यत् सागरप्रपौत्रेण दुराराध्यो दुष्प्रतिपाल्यश्चेति प्रयोगौ चिन्तितौ० इति व्युत्पत्यन्तरानभिज्ञतासूचकमवसेयं" ॥

विनयविजयजी को व्याकरण ज्ञानशून्य और सागर प्रपौत्र को व्युत्पत्यनभिज्ञ कहने वाले शान्तिसागरजी व्याकरण तथा व्युत्पत्ति के जानकार थे या उसके ज्ञान से शून्य इसका निर्णय करना पाठकों पर ही छोड देते हैं। उनके "शिष्यणी" "सहस्राः" इत्यादि अलाक्षणिक अनेक शब्द प्रयोगों से उनका व्याकरणज्ञान बिल्कुल कच्चा था और गणी, आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक, गणधर आदि का जो पारिभाषिक अर्थ लिखा है, उससे तथा "गण" और "शाखा" के अर्थों की जो कल्पना की है, इससे तो हमारे मन पर यही असर पड़ा कि "कौमुदी के लेखक" उ० शान्तिसागरजी महाराज जैन सिद्धान्त के ज्ञान से कोशों दूर थे, अन्यथा ऐसा ऊटपटांग अर्थ कभी नहीं लिखते अस्तु।

अब हम सागरों की परम्परा के सम्बन्ध में दो शब्द लिखकर यह वक्तव्य पूरा करेंगे, कल्पकौमुदी के लेखक ने ग्रन्थ के अन्त में अपनी परम्परा-सूचक प्रशस्ति दी हैं, जिसमें लिखा है कि विजयसेन सूरिजी की मौजूदगी में उनके पाट पर भट्टारक राजसागर गुरु सुशोभित हैं, राजसागर के पट्ट पर गणनायक वृद्धिसागरसूरि की यौवराज्यावस्था में गहन शास्त्रों के निर्माण में निपुण, जिन पर रोषवश आरोप लगाया गया था—उत्सूत्र रूपी पृथ्वी को फाड़ने के लिए हल के समान, अच्छे सुसंविग्न, उद्धतप्रतिवादियों को दमन

करने के लिए स्थायी प्रतिज्ञावान् ऐसे शुभ गुरु श्रेष्ठ धर्मसागरजी हुए, गुरु धर्मसागरजी के शिष्य श्री श्रुतसागरजी उपाध्याय पद से सुशोभित और यश के समुद्र हुए, श्रुतसागर वाचक के शिष्य शान्ति सागर कि जिनके सामने वृहस्पति एक छोटा वालक सा प्रतीत होता है, स्याद्वाद रूपी समुद्र में चन्द्रतुल्य हैं, जिनकी शक्ति से शम्भु भी पराजित हुए, उत्तम बुद्धिवाले, मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को दूर करने में सूर्यसदृश ऐसे वाचकवर्य्य अग्रेश्वर श्री शान्तिसागरजी ने कल्प-कौमुदी को पाटन में वि० सं० १७०७ में रचा।

शान्तिसागरजी की उपर्युक्त प्रशस्ति से यह प्रमाणित होता है कि विजयसेनसूरिजी के वाद ही सागरों ने अपनी आचार्य परम्परा स्थापित करदी थी, उस परम्परा में तीसरे पुरुष धर्मसागरजी होने का लिखा है परन्तु इसमें खटकने वाली वात यह है कि राजसागर और वृद्धिसागरसूरि का वर्णन प्रशस्ति में वर्तमान कालीन क्रिया पदों से किया है, जब कि धर्मसागरजी तथा अपने गुरु श्रुतसागरजी को भूतकालीन वताया है, इससे लेखक के लेख की कृत्रिमता का भण्डाफोड़ होता है और धर्मसागर के वाद तीन पुरुषों के वर्णन से भी सागरों की अहंता का बोध होता है।

११—कल्प-व्याख्यान-पद्धति—

यह व्याख्यान पद्धति खरतरगच्छीय वाचक श्री हर्षसार शिष्य श्री शिवनिधान गणी द्वारा संकलित की गई है, जो निम्नलिखित श्लोकों से ज्ञात होता है—

"श्री हर्षसार वाचक–शिष्य श्री शिवनिधानगणिनेदम्।
संकलितं श्री कल्पे, व्याख्यानं वालवोधाय ॥१॥

इस व्याख्यान पद्धति में सारा कल्पसूत्र नहीं है, किन्तु प्रारम्भिक दो व्याख्यान दिए हुए हैं, इस पद्धति का उद्देश मात्र कल्प का व्याख्यान पढने वाले साधु को व्याख्यान किस प्रकार से प्रारम्भ करना चाहिए और किस प्रकार समाप्ति, यह दिखाने का है।

व्याख्यान के प्रारम्भ में लेखक ने लम्बे चौड़े मंगलाचरण के श्लोक दिए हैं जो नीचे लिखे जाते हैं—

"नमः श्री वर्द्धमानाय, श्रीमते च सुधर्मणे ।
सर्वानुयोगवृद्धेभ्यो, वाण्यै सर्वविदस्तथा ॥१॥
अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
नेत्रमुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरवे नमः ॥२॥
सूरिमुद्द्योतनं वंदे, वर्द्धमानं जिनेश्वरम् ।
जिनचन्द्रप्रभुं भक्त्याऽभयदेवमहं स्तुवे ॥३॥
श्रीजिनवल्लभ-जिनदत्त-सूरि, जिनचन्द्र-जिनपतियतीन्द्राः ।
लक्ष्म्यै जिनेश्वरजिन-प्रबोध-जिनचन्द्रगुरवः स्युः ॥४॥
सूरिर्जिनादिकुशलो, जिनपद्मसूरिः, सूरिर्बभूव जिनलब्धिरधीतसूरिः।
तेजोमयोऽपि जनलोचनपूर्णचन्द्रश्चन्द्रोपमानगुण एष जिनादिचंद्रः
दत्तास्तदीयपद पद्म दिवाधिराजः, प्राप्तोदयोऽजनि जिनोदयसूरिराजः
विभ्राजते गुरुवरो जिनराजसूरि-र्भाग्याद्भुतः समभवज्जिनभद्रसूरिः॥
तत्पट्टे जिनचन्द्र-स्तदन्वये समुद्रसूरिजिनहंसाः ।
आसञ्जिनमाणिक्या, युगवरजिनचन्द्र-जिनसिंहाः ॥७॥
ज्ञान-क्रिया-दुष्करसत्तपोभिः, प्राप्ता प्रतिष्ठा जगतीतले यैः ।
राजन्वती गच्छपरंपरेयं, जयंतु ते श्रीजिनराजसूरयः ॥८॥
अब्धिर्लब्धिकदंबकस्य तिलको निःशेषसूर्यावले—,
रापीडः प्रतिबोधने गुणवतामग्रेसरो वाग्मिनाम् ।
दृष्टान्तो गुरुभक्तिशालिमनसां मौलिस्तपःश्रीजुषां,
सर्वाश्चर्यमयैभिरधीतसमयः श्रीगौतमःस्तान्मुदे ॥९॥
वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरमसयलसुयनाणिं ।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसाण कप्पे य ववहारे ॥१०॥"

"अर्हन्त भगवन्त श्रीमन्महावीर देव तच्छासनि विजयमान ए पर्युषणा तेह तणइ समागमनि श्री कल्पसिद्धांततणी वाचनाप्रवर्तइ

ते वाचना तणइ अधिकारि प्रथम वाचनायइ श्रीमहावीर तणा कल्याणक संक्षेप वाचनाइय वाच्या ॥"

"बीजी वाचनाइ विस्तर पणइ श्री महावीर तणा च्यवन कल्याणक-गर्भापहार कीधा तद् अनंतर त्रिसला क्षत्रियाणी जिम चवदह सुपिना दीठा ते किणइ एक प्रकारइ करी वखाणइ ।"

उपर्युक्त मंगलाचरण और उपोद्‌घात करने के वाद कल्पसूत्र की शुरुआत होती है, प्रथम सूत्र और ऊपर अर्थ लिखकर त्रिशला के गर्भ संक्रमण तथा चौदह स्वप्नों का वर्णन लिखा है और त्रिशला के स्वप्न जागरण की हकीकत देकर उपसंहार के वाद प्रथम व्याख्यान समाप्त किया है।

प्रथम व्याख्यान का उपसंहार नीचे दिया जाता है—

"हिव आगइ वाचना संध्याकालइ हुस्सइ, निर्विघ्न पणइ जे आराधीय इति, विधि चैत्यालय पूज्यमान श्री पार्श्वनाथ तणइ प्रसादि, गुरु अनुक्रमइ युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि, श्रीजिनसिंह सूरि, वर्त्तमान श्री जिनराजसूरि तणी आज्ञा वहमान श्री संघ आचन्द्रार्क जयवंत प्रवर्तइ, इति तृतीय कल्प व्याख्यानं समाप्तं"।

यहाँ तृतीय व्याख्यान समाप्त होने की वात लिखी है पर वास्तव में प्रभात का एक ही व्याख्यान समाप्त हुआ है, तीन अधिकार होने के कारण तृतीय वाचना की समाप्ति लिखी है।

अब शाम के व्याख्यान का आरम्भ—प्रथम व्याख्यान के प्रारम्भ में दिए गए दश पद्यों को मंगल के रूप में पढ़कर किया है। प्रथम व्याख्यान का मंगल समाप्त होने के बाद, व्याख्यान का जो उपोद्‌घात लिखा था, उसी प्रकार से प्रथम व्याख्यान में कही हुई खास बातों का निर्देश करके किया है।

दूसरे व्याख्यान में स्वप्न पाठकों को बुलाने आदि का अधिकार लिखा है, इस दूसरे व्याख्यान की समाप्ति निम्न प्रकार के शब्दों में की है—

"श्री कल्पसिद्धान्त तणी वाचना तणइ अधिकारइ कइएक भाग्यवन्त दान दियइ, शील पालइ, तप तपई, भावना भावई एवं विधिधर्म कर्तव्य करइ ते श्री देवगुरु तणउ प्रसाद देवनइ अधिकारइ विधिचैत्यालय पूज्यमान श्री पार्श्वनाथ तणइ प्रसादि, गुरु नइ अधिकारि युग प्रधान श्री जिनदत्त सूरि परंपरायइ श्री जिनकुशलसूरि तदनुक्रमइ श्री जिनभद्रसूरि तत्पट्टपरंरायइ युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि, श्री जिनसिंह सूरि तत्पट्टपूर्वाचल सहस्त्रकरावनार युगप्रधान श्री जिनराज सूरि तणी आज्ञा वहमान श्री चतुर्विध संघ आचन्द्रार्क जयवंत प्रवर्तइ इति द्वितीया व्याख्यान पद्धतिः ॥"

उपर्युक्त व्याख्यान पद्धति युगप्रधान जिनचन्द्रसूरिजी से तृतीय स्थान वर्तिश्री जिनराज सूरि के समय में संकलित की गई है, लेखक ने संकलन समय नहीं लिखा, फिर भी श्री जिनराजसूरिजी का सत्ता समय विक्रम की १७वीं शताब्दी का अंतिम भाग होने से यह पद्धति भी १७वीं शती के अन्त में निर्मित हुई है, इस पद्धति का यहां परिचय देने के दो कारण हैं, पहला तो यह कि खरतरगच्छ के विद्वान् कल्पसूत्र का व्याख्यान किस ढंग से करते हैं यह सूचित करने के लिए, दूसरा कारण यह कि पर्युषणा के व्याख्यानों में भी महावीर के षट् कल्याणक मानने का तथा अपने आचार्यों का पारतंत्र्य किस हद तक इस गच्छ वालों के हृदय में गहरा उतरा हुआ है, विधि चैत्य तथा छः कल्याणकों की चर्चा कभी थी, पर वह समय आज नहीं है, फिर भी इस गच्छ के अनुयायियों के लिए पहले गच्छ है और पीछे संघ, यह स्थिति आगे खींचतान कर कहां तक ले जायेंगे इसका तो पता नहीं परन्तु इतना तो प्रकट है कि समय इस भावना के प्रतिकूल है, इसमें कोई शंका नहीं।

११ कल्प-द्रुम-कलिका—

इस टीका के कर्ता खरतर गच्छ के उपाध्याय लक्ष्मीवल्लभ हैं, आपकी उपाध्याय परम्परा श्री जिनकुशलसूरिजी के शिष्य पाठक

विनयप्रभ से पृथक् होती है, पाठक विनयप्रभ, पाठक विजयतिलक और पाठक क्षेमकीर्ति के अनेक शिष्य थे इससे क्षेमशाखा नामक खरतरगच्छ के साधुओं की एक शाखा निकली, इसी क्षेमशाखा में प्रस्तुत टीका निर्माता उपाध्याय लक्ष्मीवल्लभ हुए हैं, आपने अपना समय निर्दिष्ट नहीं किया, फिर भी विनयप्रभ से आपका वारहवां नम्वर आता है, विनयप्रभ पन्द्रहवीं सदी के प्रारम्भ के व्यक्ति हैं तो लक्ष्मीवल्लभ विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के व्यक्ति होने चाहिए, आपकी इस टीका में प्रयुक्त हुए अनेक शब्दप्रयोगों से भी आप अठारहवीं शती के ही लेखक ज्ञात होते हैं, आपने टीका में स्थान-स्थान पर देश्यशब्दों का प्रयोग किया है, इससे भी प्रमाणित होता है कि लक्ष्मीवल्लभ अठारहवीं शती के पंजावी विद्वान् थे।

कल्प सूत्र जैसे महत्त्व के सूत्र पर लक्ष्मीवल्लभ जैसे सामान्य विद्वान् को टीका निर्माण करने का साहस करना ठीक नहीं था, आपने इस टीका में अनेक अक्षन्तव्य भूलें की हैं, जिनके शिकार इस टीका के सामान्य पाठक वनने का सम्भव है, थोड़ी सी इसकी भूलों के नमूने देकर इसका अवलोकन समाप्त कर देंगे।

शय्यातर के सम्वन्ध में आप लिखते हैं—

"शय्यातरः–शय्यातरस्य उपाश्रयदायकस्य चाहारपानीयं न कल्पते, तत्र एकं दिनं–इन्द्रः शय्यातरः, द्वितीये दिने देशाधिपः तृतीये दिने ग्रामाधिपः इति गीतार्था वदन्ति।"

अर्थात्—'प्रथम दिन इन्द्र, दूसरे दिन माण्डलिक राजा और तीसरे दिन ग्राम स्वामी को शय्यातर वताने वाले आपके गीतार्थों में से किसी एक का नाम लिख दिया होता तो बहुत अच्छा होता।

विहारभूमि का अर्थ लिखते हुए आप कहते हैं—

"यस्मिन् ग्रामे विहार-भूमिः–प्रासुकस्थण्डिलभूमिः भवति यतो जन्तूनां विराधना स्तोका भवति।"

विचार भूमि को स्थंडिल भूमि लिखने वाले तो अनेक लेखक हो गये, परन्तु "विहार भूमि" को "स्थडिल भूमि" कहने वाले श्री

लक्ष्मीवल्लभ उपाध्याय ही निकले ।

भरत के पुत्र मरीचि जिसने भगवान् ऋषभदेव के हाथ से प्रव्रज्या ली थी और कुछ समय के बाद उसने त्रिदण्डी का वेष धारण किया था, उसके सम्बन्ध में लक्ष्मीवल्लभ लिखते हैं—

"समवसरणस्य बहिर्द्वारदेशे अनेन वेषेण तिष्ठति ॥"

अर्थात्—'त्रिदण्डी का वेष धारण करने के बाद मरीचि भगवान् ऋषभदेव के समवसरण के बाहर बैठते थे, भीतर नहीं, जहां तक हमें ज्ञात है, मरीचि के लिए समवसरण के बाहर बैठने का कोई नियम नहीं था ।

भगवान् महावीर के पूर्वभवों में से सोलहवें भव का वर्णन करके लक्ष्मीवल्लभजी लिखते हैं—

"अथ सप्तदश भवे राजगृह नगर्यां चित्रनन्दी नृपः तस्य प्रियंगुर्नाम्नी राज्ञी, तस्य पुत्रो विशाखनन्दी वर्तते, नृपस्य लघु भ्राता विशाखभूतिरस्ति, स युवराजाऽस्ति । तस्य स्त्री धारणी विद्यते तस्याः कुक्षौ मरीचिजीव आगत्य समुत्पन्नः पूर्णे समये पुत्रो जातः, तस्य नाम विश्वभूतिरिति दत्तम् । क्रमात् यौवनं प्राप्तः, पित्रापरिणायितः, स च विश्वभूतिः स्वनारीभिः सार्धं राजवाटिकायां क्रीडां करोति । एकदा चित्रनन्दी नाम्नो नृपस्य पुत्रेण विशाखनन्दी क्रीडन् दृष्टः ॥"

ऊपर के निरूपण में भगवान् महावीर का विश्वभूति का भव सत्रहवां लिखा है, जबकि अन्य ग्रन्थों में सोलहवां भव माना है, राजगृह के राजा का नाम चित्रनन्दी बताया है, तब अन्यत्र "विश्वनन्दी" यह नाम मिलता है, अन्य सभी टीकाओं में विश्वभूति को वाटिका में से बाहर निकालने के बहाने से राजमन्त्री ने संग्राम का आडम्बर किया था यह बताया है तब इस टीकाकार ने विश्वभूति द्वारा सिंहराजा को जीतकर राजगृह के राजा को सुपुर्द करने की बात लिखी है, तथा प्रव्रजित विश्वभूति से भवान्तर में विशाख-

नन्दी का घातक होने का निदान करवाया है, इत्यादि इस प्रकरण में अनेक बातें निराधार लिखी गई हैं।

भगवान् महावीर के निर्वाण के प्रसंग पर लिखते हुए कहते हैं—

"यस्यां रात्रौ भगवतः श्री महावीरस्य निर्वाणमभूत् तस्यां रात्रौ काशी देशस्य अधिपाः, मल्लकी गौत्रीया नव राजानः, तथा कौशलदेशस्य अधिपाः लेच्छकीयगोत्रीया नव राजानः एते अष्टादशनृपाः, श्रीमहावीरस्य मातुलश्चेटको राजा तस्य सामन्ता अष्टादश गणराजानस्तैरष्टादशनृपैः ॥"

ऊपर के लेख से ज्ञात होता है कि काशी तथा कोशल के नौ-नौ गण राजाओं को आप काशी कौशल के अधिपति समझते थे और मल्ल तथा लिच्छवी उनका गौत्र मानते थे, यदि आपको यह ज्ञात होता कि मल्ल और लिच्छवी दो जातियां थीं, इन्हीं में से नौ-नौ गणराज नियुक्त होकर विदेह राष्ट्र के अधिपति महाराजा चेटक की राजसभा में जाते थे, ये अठारा चेटक के अधिकार संपन्न गणराज थे, उस समय काशी और कोशल विदेह राष्ट्र के साथ सम्मिलित राष्ट्र थे और उनमें गण राज्य चलता था।

पर्युषणा कल्प में भगवान् महावीर के निर्वाण के समय उनके जन्म नक्षत्र पर भस्म राशि ग्रह आता था, जिसका नक्षत्र-भुक्तिकाल दो हजार वर्ष परिमित था, इसके सम्बन्ध में आचार्य जिनप्रभ ने अपनी "सन्देहविषौषधी टीका" में नक्षत्र के स्थान पर राशि लिखा है, उसी कथन का अनुसरण करके लक्ष्मीवल्लभजी ने भी अपनी टीका में "यश्च एकस्मिन् राशौ द्विसहस्रवर्षाणि तिष्ठति स भस्मराशिग्रहो भगवतो जन्मराशौ समागतः" इस प्रकार लिख दिया है, जो मूल कल्पसूत्र से विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि मूल सूत्र में "जम्म नक्खत्तसंकंते" ये शब्द हैं, वास्तव में भगवान् महावीर के निर्वाण समय तक राशि की कोई चर्चा ही नहीं थी, इस परिस्थिति में नक्षत्र के स्थान पर राशि शब्द का प्रयोग करना तत्कालीन ज्योतिष विषय का अज्ञान सूचक है।

श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण से ९८०वें वर्ष में कल्प सूत्र पुस्तक पर लिखा गया, इस हकीकत की सूचना करने वाले—

"समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स नववाससयाइं विइक्कंताइं, दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छइ, वायणंतरे पुण 'अयंते णउए संवच्छरे काले गच्छइ इति दीसइ' ॥१४७॥"

उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या लक्ष्मीवल्लभजी निम्नलिखित शब्दों में करते हैं—

"श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य मुक्तिगमनात् पश्चात् नवशताशीति ९८० वर्षेषु गतेषु देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणेन कालविशेषेण बुद्धिं हीयमानां ज्ञात्वा सिद्धान्तविच्छेदं भाविनं विचिन्त्य प्रथम-द्वादशवार्षिकदुर्भिक्षस्य प्रान्ते सर्वसाधून् संमील्य वलभीनगर्यां श्री सिद्धान्तः पुस्तकेषुकृतः—पत्रेषु लिखितः पूर्वं सर्वसिद्धान्तानां पठनं पाठनं च मुखपाठेनैव आसीत् ततः पश्चाद्गुरुभिः पुस्तकेन सिद्धान्तः शिष्येभ्यः पाठ्यते इयं रीतिरभूत् । केचिद् आचार्या अत्र एवमाहुः—भगवतो मुक्तिगमनादनन्तरं अशीत्यधिकनववर्षशतेषु (९८०) ध्रुवसेनस्य राज्ञः पुत्रशोकनिवारणाय सभालोकसमक्षं कल्पसूत्रं श्रावितं । अत्र गीतार्थाः वदन्ति तत्प्रमाणं । पुनर्नवशत त्रिनवतिवर्षैः ९९३ श्री वीर निर्वाणात् श्रीस्कन्दिलाचार्येण द्वितीय-द्वादश वार्षिकीयदुर्भिक्षप्रान्ते मथुरापुर्यां साधून् सम्मील्य सिद्धान्तः पुस्तकेषु लिखितः । यतो वलभीवाचनया स्थविरावलिर्वाच्यते । एका पुनः माथुरी वाचनया स्थविरावली प्रोच्यते ॥"

'श्रमण भगवान् महावीरनिर्वाण के बाद ९८० वर्ष बीतने पर देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने काल विशेष से बुद्धि की हानि होती देख भविष्य में सिद्धान्त का विच्छेद न हो इस चिन्ता से प्रथम द्वादश वार्षिक दुर्भिक्ष के अन्त में सर्व साधुओं का सम्मेलन कर वलभी नगरी में सिद्धान्त पुस्तकों पर लिखा, इसके पहले सर्व पुस्तकों का

पठन पाठन मुख जबानी होता था, पुस्तक लिखे जाने के बाद पुस्तक के आधार से पढने की रीति प्रचलित हुई, कोई आचार्य कहते हैं भगवान् के मोक्ष गमन के अनन्तर ९८० वें वर्ष में ध्रुवसेन राजा के पुत्र शोक निवारणार्थ सभा समक्ष कल्पसूत्र सुनाया गया, यहां इस विषय में गीतार्थ कहें, उसे प्रमाण मानना चाहिए, फिर ९९३वें वर्ष में स्कन्दिलाचार्य ने दूसरे द्वादशवार्षिक दुर्भिक्ष के अन्त में मथुरा-पुरी में साधु सम्मेलन कर सिद्धान्त पुस्तकों पर लिखाये, इसी कारण से एक स्थाविरावली वलभीवाचना के अनुसार पढी जाती है, तब एक माथुरीवाचना के अनुसार।

उपर्युक्त टीका के अंश में पाठक लक्ष्मीवल्लभजी के "प्रथम कवले मक्षिका पातः," जैसा हुआ है, सूत्र में अस्सीवां वर्ष वर्तमान माना है, तब आपने "गतेषु" शब्द से अस्सीवाँ वर्ष भी गत माना है, इसका अर्थ होगा ९८१वें वर्ष में पुस्तकों पर आगम लिखा गया जो मूल सूत्र के विरुद्ध पड़ेगा, आगे आपने वलभी का साधु सम्मेलन प्रथम द्वादशवार्षिक दुर्भिक्ष के अन्त में होना बताया है, जो निरा-धार है, प्रथम तो वलभी का यह सम्मेलन प्रथम नहीं परन्तु दूसरा था और यह सम्मेलन द्वादशवार्षिक दुर्भिक्ष के अन्त में हुआ था, इस कथन में भी कोई प्रमाण नहीं हैं, जैन शास्त्रों के आधार से महावीर निर्वाण के बाद तीन द्वादश वार्षिक दुर्भिक्षों का पता लगता है—

पहला दुर्भिक्ष मौर्य राजा चन्द्रगुप्त के समय में पड़ा था, जिसके अन्त में पाटलीपुत्र में जैन श्रमण संघ ने इकट्ठा होकर आगमों की वाचना व्यवस्थित की थी और कुछ कालिक सूत्र लिखे भी थे और दृष्टिवाद का भद्रबाहु स्वामी के पास स्थूलभद्रादि मुनियों को भेज कर अध्ययन करवाया था।

दूसरा दुर्भिक्ष आर्य वज्रस्वामी के समय में पड़ा था जब कि अपने शिष्य वज्रसेन को दक्षिण भारत में विहार करवाकर वज्रस्वामी ने अपने ५०० शिष्य-प्रशिष्यादि के साथ रथावर्त पर्वत पर जाकर अनशन द्वारा स्वर्गवास प्राप्त किया था।

तीसरा द्वादश वार्षिक दुर्भिक्ष युगप्रधान स्कन्दिलाचार्य के समय में पड़ा था, जिससे साधुओं का पठन-पाठन-क्रम बन्द पड़ गया था और इधर उधर भ्रमण करते हुए श्रमण गण का पूर्व पठित श्रुत ज्ञान भी विस्मृत प्राय होगया था, दुष्काल के अन्त में तत्कालीन श्रुतधर श्री स्कन्दिलाचार्य ने निकटवर्ती श्रमणों को मथुरा में इकट्ठा करके तमाम सूत्र तथा निर्युक्ति आदि आगमों के व्याख्यांग लिखवा कर सिद्धान्त की रक्षा की। लगभग इसी समय के दर्म्यान दक्षिण पश्चिम के श्रमण संघ के नेता श्री नागार्जुन वाचक ने भी सौराष्ट्र की तत्कालीन राजधानी वलभी नगरी में श्रमण संघ को सम्मिलित कर नष्टावशेष तमाम आगमों को पंचांगी सहित लिखवाकर सुरक्षित किया था, मथुरा तथा वलभी के सम्मेलनों के बाद लगभग डेढ़ सौ वर्ष से अधिक समय व्यतीत होने पर उत्तरीय तथा दाक्षिणात्य श्रमण संघ जो क्रमशः माथुरी तथा वालभी वाचना के अनुयायी थे, वलभी नगर में सम्मिलित हुए और दोनों वाचनाओं के बीच जो-जो पाठान्तर तथा मतान्तर थे उनका समन्वय किया, इस संयुक्त श्रमण संघ की सभा की कार्यवाही का अन्तिम वर्ष ९८० वां था, जिसका उपर्युक्त सूत्र में निर्देश किया गया है, काल गणना में दाक्षिणात्य तथा उत्तरीय श्रमण संघों के बीच में तेरह वर्षों का मतभेद था, माथुरी वाचना के अनुयायी उत्तरीय श्रमण संघ की गणना के अनुसार वह नव सौ अस्सीवां वर्ष था, तब दाक्षिणात्य श्रमण संघ-जो नागार्जुनीय वाचना को महत्त्व देता था उसके मतानुसार वही निर्वाण का ९९३ वां वर्ष था, दोनों संघों के प्रधान नेता अपनी अपनी कालगणना को ठीक समझते थे, अतः उन दोनों मान्यताओं का अन्तिम सूत्र में उल्लेख करना पड़ा था, आगमों के पुस्तकारूढ होनें सम्बन्धी वृत्तान्त को ठीक न समझने के कारण श्री लक्ष्मीवल्लभ उपाध्याय ने इस विषय में बहुत ही गोलमाल कर दिया है। इस लिए इस विषय में कुछ स्पष्टीकरण करना पड़ा।

गृहस्थावस्था में पार्श्वनाथ कमठ नामक तापस के पास जाते हैं, यह बात उनके चरित्र में आया करती है, इसके सम्बन्ध में

उपाध्याय लक्ष्मीवल्लभ कहते हैं—पार्श्वनाथ की माता वामारानी लोकों के आग्रह से कमठ को देखने के लिए जाने को तैयार हुई, पार्श्वकुमार भी माता के आग्रह से उनके साथ चले, कमठ पांच धुनियों के वीच वैठा हुआ है, पार्श्वनाथ ने देखा कि, कमठ की धूनि में जलते हुए काष्ट के भीतर सर्प युगल जल रहा है, आपने अपने सेवक से उस काष्ट को चीरवाकर भीतर से सर्प और सर्पिणी को निकलवाया और उन्हें "ॐ असि आउसायनमः" यह मन्त्र सुनाया, पार्श्वनाथ के दर्शन तथा मन्त्राक्षरों के श्रवण से शुभ परिणाम वाले सर्प और सर्पिणी नागकुमार देवों की योनि में उत्पन्न हुए, सर्प धरणेन्द्र हुआ और सर्पिणी उसकी स्त्री पद्मावती देवी हुई।

उपर्युक्त प्रसंग में पार्श्वनाथ अपनी माताजी के साथ कमठ के पास गये थे, ऐसा लक्ष्मीवल्लभजी ने लिखा है, परन्तु अन्य सभी चरित्रों में उनके अकेले जाने की वात आती है, जलते हुए काष्ठ में "सर्प युगल" होने सम्वन्धी वल्लभजी का कथन है, जो श्वेताम्वर जैन साहित्य के विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि श्वेताम्वर जैन-साहित्य में काष्ठ में अकेले सर्प के होने की वात मिलती है, सर्प-युगल होने की वात दिगम्वर जैन साहित्य में मिलती है, श्वेताम्वर साहित्य में नहीं, पद्मावती देवी धरणेन्द्र नागराज की स्त्री होने का लक्ष्मीवल्लभजी लिखते हैं, परन्तु यह वात भी श्वेताम्वर जैन साहित्य से विरुद्ध है, जैन श्वेताम्वरीय आगम साहित्य में धरणेन्द्र नागराज की जो अग्रमहिषियाँ बताई हैं, उनमें "पद्मावती" का नाम कहीं नहीं मिलता, जलते हुए सांप को नमस्कार मन्त्र पार्श्वनाथजी ने अपने सेवक द्वारा सुनाया था, ऐसा अन्यत्र आता है, तव प्रस्तुत टीका में वाचक लक्ष्मीवल्लभगणी पार्श्वनाथजी के मुख से परमेष्ठि मन्त्र सुनाने की वात कहते हैं, इत्यादि अनेक श्वेताम्वरीय परम्परा की मान्यता के विरुद्ध वातें लिखी गई हैं, जिनका आधार जैन साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

भगवान् ऋषभदेव को श्रेयांसकुमार ने ईक्षुरस से वार्षिक तप का पारणा करवाने के प्रसंग पर श्री लक्ष्मीवल्लभजी लिखते हैं—

"श्री आवश्यके भगवद्धस्ते एकशताष्टघटकस्य दानं दत्तं श्रेयांसेन एवमुक्तमस्ति"

उपाध्यायजी का उपर्युक्त कथन ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि आवश्यक में "घट" शब्द बहुवचनान्त अवश्य है, परन्तु संख्या निर्दिष्ट नहीं है। श्रेयांस ने भगवान् की हस्तांजलि में एक अथवा उससे अधिक कितने घट परिमित रस ऊँडेला, इसका वहां कोई स्पष्टीकरण नहीं है।

भगवान् ऋषभदेव छद्मस्थावस्था में विचरते हुए तक्षशिला के उपवन में पधारे, वनपालक द्वारा बाहुबलि को भगवान् के आगमन की बधाई मिली, बाहुबलि ने सोचा—प्रातःकाल बड़े ऋद्धि-विस्तार के साथ भगवान् के वन्दनार्थ जाऊंगा, प्रातः समय बाहुबलि बडे ठाठ के साथ उपवन में पहुंचे, परन्तु भगवान् उसके पहले ही विहार कर अन्यत्र चले गये थे, बाहुबलि ने उपवन में सर्वत्र घूमकर उन्हें ढूँढ़ा, परन्तु भगवान् कहीं नहीं मिले, इससे बाहुबलि के मन में बड़ा दुःख हुआ और दोनों कानों में अंगुलियां डालकर "बाबा आदम" इस प्रकार से उच्च स्वर से पुकार किया, लक्ष्मीवल्लभजी के मूल शब्द निम्न प्रकार के हैं:—

"पश्चाद् बाहुबलिर्ऋद्धिं विस्तार्य आगत्य सकलं वनं विलोकितं, भगवन्तमदृष्ट्वा अतीव दूनो मनसि अज्ञासीत्, यदि अहं संध्यायामेव आगमिष्यं तदाहमद्रक्ष्यं, मनसि महद् दुःखं कृत्वा कर्णयोरंगुलीः क्षिप्त्वा "बाबा आदम" इत्युच्चैः स्वरेण पुत्कृतिं चक्रे।"

कभी कभी अशिक्षित जैनों के मुख से सुना जाता था कि मुसलमान बाहुबलि के वंशज हैं, यह अज्ञानपूर्ण बात लक्ष्मीवल्लभजी जैसों के उक्त प्रकार के भ्रान्त उल्लेखों का परिणाम हो तो आश्चर्य नहीं है।

उपाध्याय लक्ष्मीवल्लभजी की प्रस्तुत टीका में व्याकरण सम्वन्वी, सिद्धान्त सम्वन्धी और साहित्यिक अनेक भूलें दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु उन सब की चर्चा करके लेख को बढाना उचित नहीं होगा, अब सिर्फ टीका की अन्तिम प्रशस्ति उद्धृत करके अवलोकन पूरा करेंगे ।

"श्री मज्जिनादिकुशलः कुशलस्य कर्त्ता,
गच्छे वृहत्खरतरे गुरुराड् बभूव ।
शिष्यश्च तस्य सकलागमतत्वदर्शी,
श्री पाठकः कविवरो विनयप्रभोऽभूत् ॥१॥
विजयतिलकनामा, पाठकस्तस्य शिष्यो,
भुवनविदितकीर्तिर्वाचकः क्षेमकीर्ति ।
प्रचुरविहितशिष्यः प्रसृता (स्तु) तस्य शाखा,
सकलजगति जाता क्षेमधारी ततोऽसौ ॥२॥
पाठकौ च तपोरत्न-तेजराजौ ततो वरौ ।
भुवनादिमकीर्तिश्च, वाचको विशदप्रभः ॥३॥
सद्वाचकोऽभवदशेषगुणाम्बुराशिः
हर्षाजि (द्धि) कुञ्जरगणिर्गुरुतान्वितश्च ।
श्री लब्धिमंडनगणिर्वरवाचकश्च,
सद्बोधसान्द्रहृदयः सहृदां वेरण्यः ॥४॥
लक्ष्मीकीर्तिः पाठकः पुण्यमूर्ति–र्भास्वत्कीतिर्भूरिभाग्योदयश्रीः ।
शिष्यो लक्ष्मीवल्लभस्तस्य रम्यां, वृत्तिं चक्रे कल्पसूत्रस्य चेमाम् ॥५॥"

उपर्युक्त प्रशस्ति में ग्रन्थकार ने अपने समय का कुछ भी निर्देश नहीं किया, फिर भी आन्तर वर्णनों और अन्यान्य शब्द प्रयोगों से लगभग निश्चित हो जाता है कि श्री लक्ष्मीवल्लभ पाठक विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के व्यक्ति हैं ।

उपसंहार—

गत पर्युषणा में मैंने कल्पसूत्र की वाचना उपाध्याय श्रीसंघविजयजी की प्रदीपिका के अनुसार की थी, प्रदीपिका टीका तो अच्छी थी, परन्तु इसका सम्पादन अच्छा नहीं होने के कारण कुछ मुश्किली अवश्य उठानी पड़ी, इस नयी टीका के पढने से इसकी उपस्थित अन्यान्य टीकाओं को पढने की इच्छा हुई, साथ में मुद्रित अमुद्रित सभी कल्प टीकाओं को पढकर उनका अवलोकन लिखने का विचार हुआ और पठित सब टीकाओं के सम्बन्ध में थोड़ा थोड़ा अवलोकन लिख दिया, इन सब टीकाओं में "सन्देह-विषौषधी" "कल्प दीपिका" दो "कल्पान्तर्वाच्य" और "कल्प व्याख्यान पद्धति" ये सब हस्तलिखित पुस्तकों पर से पढी गई, तव "कल्प किरणावली" "कल्प प्रदीपिका" "कल्प सुबोधिका" "कल्प कौमुदी" 'कल्पद्रुमकलिका" और "कल्प समर्थन" नामक कल्पान्तर्वाच्य ये सब उपस्थित होने से मुद्रित पुस्तकों पर से पढे, इन टीकाओं की यथार्थ योग्यता का निर्णय करने के लिए गम्भीर विचार की आवश्यकता है, हमारे पास पर्याप्त समय न होने के कारण इनका गम्भीरतापूर्वक अध्ययन तो नहीं किया फिर भी सरसरी नजर से इनको पढकर अपने विचार प्रदर्शित किये हैं।

टीकाओं के लेखक सम्प्रदाय के लिहाज से दो प्रकार के हैं, खरतरगच्छीय और तपागच्छीय। तपागच्छीय लेखक विजयदेवसूरि और विजयानन्दसूरि के गच्छों में बंटे हुए हैं।

"संदेह विषौषधी," "कल्प व्याख्यान पद्धति" और "कल्पद्रुम कलिका" इन तीनों के लेखक खरतरगच्छीय विद्वान् हैं, रत्नचन्द्र पाठक शिष्य भक्तिलाभ किस गच्छ के थे, यह निश्चित नहीं हुआ, क्योंकि इनकी व्याख्यान पद्धति तपागच्छीय पद्धतियों से मिलती जुलती है, तब लेखक का नाम खरतरगच्छीय साधुओं के नाम से अधिक मिलता है, इसलिए इस कल्पान्तर्वाच्य के कर्ता के सम्बन्ध में निश्चय नहीं कर सके।

कल्प-किरणावलीकार और कल्पकौमुदीकार विजयदेवसूरि गच्छ के अनुयायी थे, तब "प्रदीपिका" और "सुबोधिका" के निर्माता विद्वान् विजयानन्दसूरि गच्छ के अनुयायी थे, दो अन्तर्वाच्य जो प्राचीन हैं, उनके विषय निरूपण पर विचार करने से वे तपागच्छ के अनुयायी जान पड़ते हैं, पर्युषणा में पढ़ने योग्य कल्पसूत्र के विवरणों में खण्डन मण्डन की पद्धति उचित न होने पर भी इस पद्धति ने "सन्देह विषौषधी" के अनुकरण में अन्यान्य टीकाओं में भी अपना अड्डा जमा दिया है, "सन्देह विषौषधी" में गर्भापहार कल्याणक की हिमायत होने के वाद पिछली शायद ही कोई टीका रही होगी कि जिसमें महावीर के गर्भापहार को कल्याणक मानने का समर्थन और विरोध न हुआ हो, यह खण्डन मण्डन की पद्धति कल्याणक तक ही सीमित नहीं रही, आगे जाते जाते श्रावण भाद्रपद की वृद्धि में किस महीने में पर्युषणा करना, चतुर्थी तथा पंचमी के मुकाविले में किस तिथि के दिन पर्युषणा करना चाहिए इत्यादि अनेक प्रश्नों को लेकर कल्प टीकाओं में खण्डन-मण्डन की पद्धति वढती ही गई, फिर भी मामला यहीं नहीं रुका, देवसूरि और आनंद सूरि के अनुयायियों ने गच्छनिमित्तक मनमुटाव के कारण अपनी अपनी टीकाओं को एक दूसरे की भूलें निकालने का साधन बना दिया, जो पद्धति पर्युषणा जैसे पर्व में अत्यन्त अनुचित है, पढने वाले श्रमणों को चाहिए कि कल्पसूत्र मूल का पढ़ना ही सूत्रों में विहित है, इसके विवरण-वृत्तियों को अक्षरशः पढ़ने से ही कल्प का व्याख्यान पूरा होता है, यह भ्रमणा मनमें से निकाल देना चाहिए और विरोध को शान्त करने के पवित्र पर्व में खण्डन-मण्डन की वातों की चर्चा करके रागद्वेष को उत्तेजित नहीं करना चाहिए।

(४) मौलिक व्याकरण साहित्य

पाणिनि-मुनि-प्रणीत

अष्टाध्यायी सूत्रपाठ

पृ० १—माहेश्वर प्रत्याहार सूत्र १४।

पृ० १—"संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे"[१] १।१।१६।
अध्याय १। पा० १ सूत्र ७५, वार्तिक २४।

पृ० ४—"तृषि मृषि कृशेः काश्यपस्य"[१] १।२।२५।

अ०	पा०	सूत्र	वार्तिक
अ० १	पा० २	सूत्र ७३	वार्तिक १५।
,, १	,, ३	,, ९३	,, २६।
,, १	,, ४	,, ११०	,, २३।

पृ० २४—"भगे च दारेरिति काशिका" यह वार्तिक तीसरे अध्याय के दूसरे पाद में हैं।

अ०	पा०	सूत्र	वार्तिक
अ० २	पा० १	सूत्र ७२	वार्तिक १६।
,, २	,, २	,, ३८	,, २६।
,, २	,, ३	,, ७३	,, २६।
,, २	,, ४	,, ८५	,, २१।
अ० ३	,, १	,, १५०	,, ५६
,, ३	,, २	,, १८८	,, ६०
,, ३	,, ३	,, १७६	,, ३४
,, ३	,, ४	,, ११७	,, ०
अ० ४	,, १	,, १७६	,, ६३
,, ४	,, २	,, १४५	,, ५४
,, ४	,, ३	,, १६८	,, २५
,, ४	,, ४	,, १४४	,, १६

तीसरे अध्याय के (१) चौथे पाद में १११वां सूत्र 'लङः शाकटायनस्यैव'

अ० ५ पा १ सूत्र १३६ वार्तिक ४०
„ ५ „ २ „ १४० „ ५१
„ ५ „ ३ „ ११९ „ २७
} 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' ५।२।१३४

अ० ५ — ४ सूत्र १६० वार्तिक २७ 'वा सुप्यापि[1]शलेः' ६।१।९२

„ ६ — १ — २२३ वां — ४२ 'अवङ् स्फोटाय[1]नस्य' ६।१।१२७

„ ६ — २ — १९९ „ — ९ 'इकोऽसुवर्णेशाकल्यस्य ह्रस्वश्च' ६।१।१२७

„ ६ — ३ — १३९ „ — ६२ 'ई३ चाक्रव[1]र्मणस्य' ६।१।१३०।

„ ६ — ४ — १७५ „ — २९ 'इकोह्स्वोऽड्यो गा[1]लवस्य' ६।३।६१

अ० ७ — १ — १०३ „ — ११ 'तृतीयादिषुभाषित पुंस्कं पुंवद्गालवस्य' ७।१।७४

„ ७ — २ — ११८ „ — ७ 'ऋतो भारद्वा[1]जस्य' ७।२।६३

„ ७ — ३ — १२० „ — २१ 'अड्गार्ग्य गालव[3]योः' ७।३।९९

„ ७ — ४ — ९७ „ — ९ 'व्योर्लघु प्रयत्नतरः शाक[2]टायनस्य' ८।३।१८

„ ८ — १ — ७४ „ — १२ 'लोपः शाकल्यस्य' ८।३।१९

„ ८ — २ — १०८ „ — २३ 'ओतो गार्ग्यस्य' ८।३।२०

अ ८ पा ३ — ११९ वां — १२	'चयो द्वितीयाश्शरि पौष्करसादेरिति[१] वाच्यम्' इति वार्तिक ८।४ पाद में
„ ८ — ४ सूत्र ६८ „ — १७	'त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य ८।४।५० 'सर्वत्र शाकल्यस्य[४] ८।४।५२
३९०२ सूत्र, ८६३ वार्तिक ७५ प्र० अ० २४ ———— ———— ३९७७ सूत्र ८८७ वार्तिक	नोदात्तस्वस्तिोदय मगार्ग्य[२] काश्यप[२] गालवानाम्[४]' ८।४।६७

(१) आपिशली	„	१	„	वार्तिक में (१) पौष्करसादि
(२) आचार्य गालव का नाम ४ बार आया है				
(३) काश्यप	„	२	„	
(४) गार्ग्य	„	२	„	
(५) शाकल्य	„	४	„	
(६) शाकटायन	„	३	„	
(७) भारद्वाज	„	१	„	
(८) चाक्रवर्मण	„	१	„	
(९) स्फोटायन	„	१	„	

पाणिनीयसूत्रवृत्ति काशिका
कर्ता श्रीवामन और जयादित्य

पाणिनीय अष्टाध्यायी पर सर्व से प्राचीन और विस्तृत आचार्य "व्याडि" कृत "संग्रह" नाम की टीका थी, जो कभी की विच्छिन्न हो चुकी है। 'संग्रह' के बाद पाणिनीय व्याकरण पर की टीकाओं में "पातञ्जल महाभाष्य" का नम्बर है, जो आज तक पठन पाठन में लिया जाता है, महाभाष्य के बाद में पाणिनीयाष्टक पर भर्तृहरि द्वारा टीका बनाई जाने की भी किंवदन्ती है, किन्तु उसकी सत्ता का कोई निश्चय नहीं, भाष्य के बाद की टीकाओं में आज "काशिका वृत्ति" सर्व प्रथम है, इसका निर्माण आचार्य "जयादित्य" द्वारा हुआ माना जाता है, मुद्रित काशिका के १९ पाद "जयादित्य" निर्मित हैं, तब २० वां पाद अर्थात् ५ वें अध्याय का चतुर्थ पाद आचार्य "वामन" निर्मित है। उसके बाद के तीन अध्यायों की काशिका भी "वामन" द्वारा ही बनाई गई है। इस प्रकार दो आचार्यों द्वारा टीका का निर्मित होना कारण सापेक्ष है। वे कारण दो हो सकते हैं, पहला तो यह कि "जयादित्य" पाणिनीयाष्टक के १९ पादों की टीका बनाकर स्वर्गवासी हो गये हों और ऊपर के १३ पादों की टीका "वामन" ने बनाकर सम्पूर्ण की हो। अथवा तो दोनों आचार्यों ने स्वतन्त्र टीकाएँ बनाई हों और बाद में दोनों खण्डित हो गई हों "जयादित्य" की टीका का अन्तिम भाग और "वामन" की टीका का आद्य भाग खण्डित हो जाने की अवस्था में पिछले लेखकों ने दोनों का अनुसन्धान कर "काशिका" को पूरा किया हो पर हमारी मान्यतानुसार दोनों आचार्यों की स्वतन्त्र टीकायें न मान कर प्रथम टीका की पूर्ति उत्तर भाग के बनाने वाले ने की यह मानना युक्ति संगत जान पड़ता है, क्योंकि दोनों की स्वतन्त्र टीकायें मानने में दोनों का एक नामकरण ठीक नहीं

जँचता। "जयादित्य" ने प्रारंभ में "काशिका वृत्ति" बनाने की प्रतिज्ञा की है, तब आचार्य "वामन" ने समाप्ति में "काशिका" के नाम का उल्लेख किया है। इससे हमें तो यही मानना उचित लगता है कि आचार्य "जयादित्य" की अपूर्ण काशिका वृत्ति को "वामना चार्य" ने पूरा किया है। कुछ भी हो लेकिन पाणिनीय व्याकरण पढने वालों के लिए "काशिका" टीका एक दीपिका का काम करती है, यद्यपि महाभाष्य इससे अधिक विस्तृत है, तथापि पाणिनीय व्याकरण पढने वाले विद्यार्थियों के लिए "काशिका" द्वारा जितनी सहायता और स्पष्टीकरण मिलता है, उतना अन्य किसी टीका से नहीं।

"काशिका" का निर्माण समय क्या है, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है, परन्तु "काशिका" पर बौद्ध आचार्य "जिनेन्द्र बुद्धि" ने "न्यास" नामक व्याख्या लिखी है और उसके सम्पादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती ने न्यासकार का सत्ता समय ७८२—८०७ वैक्रमाब्द पर्यन्त माना है। यह समय न्यासकार का ठीक हो तो काशिकाकार का समय इससे पूर्वतन है इसमें कोई शंका नहीं रहती "काशिका" के उपोद्घात लेखक श्री ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु "जयादित्य" का समय वि० सं० ६५०-७०० तक का बताते हैं, जो ठीक ही ज़ान पड़ता है।

जयादित्य ने "भट्टाचार्य चरणाः" इस प्रकार का १ अध्याय के दूसरे पाद में उल्लेख किया है अतः ये श्री कुमरिल भट्ट के बाद के होने चाहिए। इससे भी इनका उपर्युक्त समय ठीक जान पड़ता है।

पाणिनीय सूत्राष्टाध्यायी एवं पातञ्जल महाभाष्य

पाणिनीय व्याकरण के कर्त्ता आचार्य पाणिनि नन्द राजा के राजत्त्व काल में होने का वर्तमान कालीन ऐतिहासिक विद्वानों ने अनुमान किया है, पाणिनीय अष्टाध्यायी जिसमें कुल मूल सूत्र ३९६३ वर्तमान में मिलते हैं, आजकल जो भी संस्कृत

व्याकरण विद्यमान हैं, उन सब में प्रस्तुत पाणिनीय व्याकरण सर्व से प्राचीन है, पातंजल-महाभाष्य बनने के पूर्व में इस व्याकरण पर आचार्य व्याड़ि निर्मित "संग्रह" नामक लक्षश्लोकात्मक टीका थी ऐसा "वाक्यपदीय" के टीकाकार पुण्यराज कहते हैं।

आचार्यपाणिनि के बाद नन्दवंश के अन्तिम समय में होने वाले आचार्य कात्यायन ने पाणिनीय व्याकरण की कमियों को पूरा करने का भरसक प्रयत्न किया, हजारों वार्तिक बनाकर यथास्थान सम्बन्धित सूत्रों के साथ रख दिया, तथा पाणिनीय व्याकरण को समृद्ध बना दिया।

शुंग राजा 'पुष्यमित्र' के समय में आचार्य पतंजलि मुनि एक बड़े भारी वैयाकरण हुए, उन्होंने व्याड़ि की संग्रह टीका का विपुल परिमाण देखकर सोचा आजकल के छात्रों के लिए इतनी विस्तृत टीका उपयोगी नहीं है और उन्होंने सवार्तिक पाणिनीय अष्टाध्यायी पर महाभाष्य बनाया और उसका पठन पाठन भी शुरू करवाया, परन्तु तत्काल में प्रत्येक संस्कृत विद्यालयों में व्याड़ि के अनुयायी विद्वानों का ही प्राबल्य था, उन्होने पातंजल महाभाष्य के सामने एक प्रचण्ड विरोध का ववण्डर खड़ा किया, विरोध करने का खास कारण यह था कि व्याडि शब्द को द्रव्य वाचक मानते थे तब पतञ्जलि ने उसे जाति वाचक मान कर भाष्य में इस सिद्धान्त को दाखिल किया, परिणाम स्वरूप विरोधियों को इस आन्दोलन में सफलता मिली, महाभाष्य का पाठशालाओं में पठन पाठन बन्द हुआ, यह तो एक साधारण बात थी परन्तु महाभाष्य के दर्शन तक उस प्रदेश में दुर्लभ हो गए, कहते हैं कि महाभाष्य की एक पोथी किसी प्रकार दक्षिण प्रदेश में पहुंच चुकी थी और उसी के आधार पर दक्षिणा पथ में कालान्तर में महाभाष्य का पठन पाठन प्रचलित हुआ था, कुछ भी हो परन्तु एक बात निश्चित है कि पातञ्जल-महाभाष्य का प्रचार होने के बाद में व्याड़ि की संग्रह टीका सदा के लिए लुप्त हो गई होगी, ऐसा अनुमान होता है।

आचार्य पाणिनि के व्याकरण में शाकल्य, स्फोटायन, गालव, काश्यप, भारद्वाज, गार्ग्य और चाक्रवर्मण इन आचार्यों के मत के मूल सूत्रों में उल्लेख किये गये हैं, इससे ज्ञात होता है कि पाणिनि के समय में उनके पूर्ववर्ती पूर्वोक्त आचार्यों के व्याकरण सिद्धान्त भिन्न भिन्न चरणों में ग्रन्थ रूप में चलते होंगे, पाणिनीय व्याकरण में आदि से अन्त तक प्रत्येक अध्याय के प्रत्येक पाद में उदात्त, अनुदात्त, तथा स्वरित की अनुवृत्ति चलती रहती हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि भाष्यकार द्वारा की गई उदात्तादि स्वरों की चर्चा वैदिक व्याकरण की भाषा से सम्बन्ध रखती है, उस समय वैदिक शब्दों के उच्चारण में ही नहीं परन्तु लौकिक शब्दों के उच्चारण में भी, उदात्त के स्थान पर उदात्त, अनुदात्त के स्थान पर अनुदात्त और स्वरित के स्थान पर स्वरित के रूप में वर्णों का ठीक उच्चारण होता है या नहीं, इस बात की बड़ी ही सावधानी रखी जाती थी, वैदिक व्याकरण में जो जो नियम लौकिक से भिन्न थे वे "छन्दसि" इत्यादि उल्लेखों के साथ आचार्य ने जुदे बता दिये हैं। पूरा अध्याय अथवा पूरा एक पाद भी केवल वैदिक प्रक्रिया के लिए कहीं नहीं रोका।

आचार्य पतञ्जलि ने पाणिनीय व्याकरण के एक-एक सूत्र और वाक्य का विशद विवरण देकर, इसे जैसा स्पष्ट किया है, वैसा दूसरे शायद ही किसी टीकाकार ने किया होगा, इन्होंने एक एक बात को उलटा सुलटा कर समझाया है और जहां कहीं किसी आचार्य के साथ मतभेद देखा उसका स्पष्ट नाम निर्देश तक कर दिया है। पाणिनि के अतिरिक्त भी जिन जिन वैयाकरणों के मतभेद दृष्टिगोचर हुए हैं उनका भी नाम दिया है। जैसे "क्रौष्ट्रीयाः, शाकल्यस्याचार्यमतेन, भारद्वाजीयाः पठन्ति, गोनर्दीयस्त्वाह, गालवस्य गार्ग्यस्य, वार्ष्यायणि इति आह, वरतनोः, दाक्षायणस्य, कौत्सः, शाकटायनस्य, साकल्यस्य, काशकृत्स्नेः, एवंहि सौनागा पठन्ति, पौष्करसादेराचार्यस्य, वाररुचकाव्यम्, आपिशल-पाणिनीय, व्याडीय-गोत्तमीया, सौर्य भागवतोक्तमनिष्टिज्ञो वाडवः पठति,"

इत्यादि भिन्न भिन्न प्रकार के उल्लेखों द्वारा अपने समय में वर्तमान अनेक व्याकरणकारों और अध्यापकों की प्रवृतियां का अपने भाष्य में सूचन किया है, जिनमें से शाकल्य, स्फोटायन, प्रभृति सात आठ आचार्य तो पाणिनीय के पूर्ववर्ती थे, आपिशली, पौष्करसादि, कात्यायन आदि नाम वार्तिकों में भी निर्दिष्ट हुए हैं, शेष सभी नामों का निर्देश भाष्यकार ने किया है, इससे प्रमाणित होता है कि केवल भाष्य निर्दिष्ट नाम वाले व्यक्ति सूत्रकार तथा वार्तिककार के परवर्ती और भाष्यकार के पूर्ववर्ती होने चाहिए, सबसे अधिकवार भारद्वाजीय और सौनागों का स्मरण किया है, इससे अनुमान होता है कि पतञ्जलि के समय में इन दो आचार्यों की परम्परा का स्वतन्त्र व्याकरण पढ़ाई में चलता होगा, भारद्वाज का नाम निर्देश पाणिनि ने स्वयं किया है, इससे निश्चित है कि भारद्वाज का व्याकरण पहले से प्रचलित था, आचार्य सुनाग का नाम सूत्रों में तथा वार्तिकों में नहीं मिलता परन्तु पतंजलि ने वार वार अपने भाष्य में आचार्य सुनाग के अनुयायियों का उल्लेख किया है, इससे अनुमान होता है कि आचार्य सुनाग की कोई टीका होगी जिसके आधार से उसके अनुयायी अध्ययन करते होंगे। इसलिए भाष्यकार ने वार बार उनके पाठभेद का सूचन किया है, पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों पर व्याडि की टीका की तरह अनेक टीकायें होंगी ऐसा भाष्य के उल्लेखों से सूचित होता है, एक उल्लेख में तो आचार्य पतंजलि ने एक संग्रह का प्रशंसा पूर्वक उल्लेख किया है, वे कहते हैं—"शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहकृतिः" अर्थात् "दाक्षायण की संग्रह कृति सचमुच सुन्दर है।'

महाभाष्य के सम्बन्ध में जितना भी लिखा जाय थोड़ा है, परन्तु इस समय विशेष लिखने की अनुकूलता नहीं, अन्त में आचार्य पतंजलि की अध्यापकों तथा छात्रों के लिए एक अमृतमयी शिक्षा को नीचे उद्धृत करके अवलोकन को पूरा करते हैं—

"सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति, गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः ॥१॥
(महा. अ.अ. पृ. २८)

अष्टाध्यायी-सूत्रपाठ

प्रथम अध्याय—		द्वितीय अध्याय—	
प्रथम पा०	—७४,	प्रथम पाद	—७२
द्वितीय ,,	—७३,	द्वितीय ,,	—३८
तृतीय ,,	—९३,	तृतीय ,,	—७१
चतुर्थ ,,	—११०,	चतुर्थ ,,	—८५
	३५०		२६६

तृतीय अध्याय		चतुर्थ अध्याय	
प्रथम पाद	—१४६,	प्रथम पाद	—१७७
द्वितीय ,,	—१८१,	द्वितीय ,,	—१४१ (१३९)
तृतीय ,,	—१६७,	तृतीय ,,	—१६६ (१५८)
चतुर्थ ,,	—११४,	चतुर्थ ,,	—१४०
	६११		६२४

पंचम अध्याय		षष्ठोऽध्याय	
प्रथम पाद	१३०,	प्रथम पाद	—२२३
द्वितीय ,,	—१३५,	द्वितीय ,,	—१९९
तृतीय ,,	—११८,	तृतीय ,,	—१६९
चतुर्थ ,,	—१५६,	चतुर्थ ,,	—१७४
	५३९		७६५

सप्तमोऽध्याय		अष्टमोऽध्याय	
प्रथम पाद	—१०१	प्रथम पाद	— ८०
द्वितीय ,,	—११७	द्वितीय ,,	—१०८
तृतीय ,,	—१२०,	तृतीय ,,	—११८
चतुर्थ ,,	— ९६	चतुर्थ ,,	— ६८
	४३४		३७४

प्र० ३५०
द्वि० २६६
तृ० ६११
च० ६२४
पं० ५३९
ष० ७६५
स० ४३४
अ० ३७४

३९६३ तमाम सूत्र

---

(१) "क्रोष्ट्रीयाः पठन्ति ।"
(२) "शाकल्यस्याचार्य मतेन दीर्घो (२) (३) ।"
(३) "भारद्वाजीयाः पठन्ति (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८)"
(४) "गोनर्दीयस्त्वाह (२) ।"
(५) "गालवः (२) ।"
(६) "तृषि मृषि कृषे, काश्यपस्य (२) ।"
(७) "गार्ग्यं"
(८) "वार्ष्यायाणिः इति आह ।"
(९) "वरतनुः"
(१०) "दाक्षायण" (शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः)
(११) "कौत्सः ।"
(१२) "शाकटायनः" ("वैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्गे आसीनः शकटसार्थं यान्तं नोपलेभे ।
किं पुनः कारणं जाग्रदपि वर्तमान कालं नोप लभते ।")
(१३) ,'कात्यायनः"
"वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति ।"

(१४) "लङः शाकटायनस्यैवेति (अध्याय ३।४।११० के भाष्य में)"

"साकल्य (२)।"

"आपिशलिः।"

"काश कृत्सिनन् (२) (३)।"

"एवं हि सौनागाः पठन्ति (२)(३)(४)(५)।"

"वाररुचं काव्यम्।"

"ई ३ चाक्रवर्मणस्य ६।१।१३०।"

"आपिशल–पाणिनीय–व्याडीय–गोतमीयाः।"

"गोनर्दीयः।"

"सौर्यभागवतोक्तमनिष्टिज्ञो वाडवः पठति।"

"(पौष्करसादेराचार्यस्य मतेन वार्तिके)"

वाक्य पदीय

श्री भर्तृहरि कृत

टी० पुण्यराज तथा हेलाराज

वाक्य पदीय ग्रन्थ वैयाकरण वसुरात शिष्य वैयाकरण भर्तृहरि द्वारा निर्मित महानिवन्ध है, इस निवन्ध में व्याकरण सम्बन्धी स्फोट, वाक्य, पदादि परिभाषाओं का सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रतिपादन किया है, मूल ग्रन्थ तीन काण्डों में सम्पूर्ण हुआ है, प्रथम दो काण्डों की टीका पुण्यराज कृत है, तव तृतीय काण्ड की टीका भूतिराज-तनय हेलाराज निर्मित है, ऐसा प्रत्येक समुद्देश की अन्तिम पुष्पिका से ज्ञात होता है।

मूल ग्रन्थ कर्त्ता भर्तृहरि ने प्रथम काण्ड के अन्त में अपना नाम "हरिवृषभ" लिखा है, परन्तु द्वितीय तृतीय काण्डों की समाप्ति में "भर्तृहरि" नाम का निर्देश होने से, वाक्य पदीय ग्रन्थ का कर्त्ता भर्तृहरि ही है इसमें शंका को स्थान नहीं। भर्तृहरि ने अपने समय के विषय में कुछ भी सूचन नहीं किया, इससे इनका सत्ता-समय क्या होगा, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है, चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने अपने भारत यात्रा विवरण में एक स्थान पर व्याकरण के प्रसिद्ध विद्वान भर्तृहरि का नाम निर्देश किया है, इससे अनुमान होता है कि ह्वेनत्सांग के भर्तृहरि "वाक्य पदीय" निवन्ध के कर्त्ता भर्तृहरि ही होने चाहिए, यदि उक्त अनुमान ठीक हो तो भर्तृहरि का सत्ता-समय विक्रम की सातवीं शती का पूर्वार्ध मानना ठीक होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ के टीकाकार पुण्यराज तथा हेलाराज ने भी अपने सत्ता-समय के सम्बन्ध में कुछ भी निर्देश नहीं किया, अतः टीकाकारों के सत्ता-समय आदि के सम्वन्ध में कुछ भी कहना साहस मात्र होगा।

द्वितीय काण्ड की समाप्ति में भर्तृहरि व्याडि नामक महा-विद्वान् द्वारा निर्मित व्याकरण विषयक "संग्रह" नामक व्याकरण सिद्धान्त के महा निवन्ध का लोप, तथा पतंजलि कृत "व्याकरण-महाभाष्य" की उत्पत्ति आदि की सूचना निम्नलिखित कारिकाओं में करते हैं—

"प्रायेण संक्षेपरुचीनल्पविद्यापरिग्रहान् ।
संप्राप्य वैयाकरणान्, संग्रहेऽस्तमुपागते ।।४८४।।

कृतेऽथ पतञ्जलिना, गुरुणा तीर्थदर्शिना ।
सर्व्वेषां न्यायवीजानां, महाभाष्ये निवन्धने ।।४८५।।

अलब्धगाधे गाम्भीर्या-दुत्तान इव सौष्ठवात् ।
तस्मिन्नकृतबुद्धीनां, नैवावास्थितनिश्चयः ।।४८६।।

वैजि-सौभव-हर्य्यक्षैः शुष्कतर्कानुसारिभिः ।
आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे, संग्रहप्रतिकञ्चुके ।।४८७।।

यः पतंजलिशिष्येभ्यो, भ्रष्टो व्याकरणागमः ।
काले स दाक्षिणात्येषु, ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः ।।४८८।।

पर्व्वतादागमं लब्ध्वा, भाष्यवीजानुसारिभिः ।
स नीतो वहुशाखत्वं, चन्द्राचार्यादिभिः पुनः ।।४८९।।

न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम् ।
प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागमसंग्रहः ।।४९०।।

वर्त्मनामत्र केषांचिद्वस्तुमात्रमुदाहृतम् ।
काण्डे तृतीये न्यक्षेण, भविष्यति विचारणा ।।४९१।।

प्रज्ञाविवेकं लभते, भिन्नैरागमदर्शनैः ।
कियद्वा शक्यमुन्नेतुं, स्वतर्कमनुधावता ।।४९२।।

तत्तदुत्प्रेक्षमाणानां, पुराणैरागमैर्विना ।
अनुपासितवृद्धानां, विद्यानातिप्रसीदति ।।४९३।।"

ऊपर की कारिकाओं का पुण्यराज की टीका के अनुसार नीचे लिखे अनुसार विवरण है—

'पूर्वकाल में पाणिनीय व्याकर के ऊपर विद्वान व्याडि का लक्ष श्लोक परिमित महानिबन्ध बना हुआ था, परन्तु कालक्रम से विद्यार्थियों की बुद्धि मन्द होती गई, धीरे धीरे उक्त महानिवन्ध का पठन-पाठन बंद हो गया और वह निवन्ध कालान्तर में नष्ट हो गया, व्याकरण के सिद्धान्त ग्रन्थ की यह दशा देखकर दयालु पतञ्जलि मुनि ने व्याडि के निबन्ध के स्थान पर पाणिनीय व्याकरण सूत्रों तथा वार्तिकों पर महाभाष्य की रचना की, यह ग्रन्थ अल्प बुद्धि तथा संक्षिप्त रुचि विद्यार्थी पढ सके और व्याकरण के सभी सिद्धान्तों को समझ सके इस दृष्टि से बनाया गया था, इसमें व्याकरण संबंधी सभी सिद्धांतों के सार ले लिए थे, भाष्य का गाम्भीर्य अगाध होने पर भी ऐसे सुबोध शब्दों से रचा गया जो ऊपर से सरल ज्ञात होता है, परन्तु इसमें तीक्ष्ण बुद्धि विद्यार्थी ही व्याकरण सम्बन्धी सिद्धान्तों का निश्चय कर सकते हैं, इस कारण से यह महानिवन्ध "भाष्य" न रहकर "महाभाष्य" हो गया है।' ४८४।४८५।४८६।

'पातंजल-महाभाष्य व्याडि के संग्रह से संक्षिप्त था, व्याडि के कतिपय सिद्धांन्तों से महाभाष्य के कतिपय सिद्धान्त विरुद्ध भी पड़ते थे, इन बातों को आगे करके बैजि, सौभव, हर्य्यक्ष आदि संग्रह के पक्षपाती विद्वानों ने महाभाष्य का खूब विरोध किया, तर्कजाल से भाष्य के सामने इतना विरोध का बवण्डर खड़ा किया कि जहां महाभाष्य का पठन पाठन चलता था, वहां इसके पढने-पढाने वाले ही नहीं रहे, पातंजल के पढ़ने वाले तो न रहे बल्कि उसकी पोथी तक उस प्रदेश से अदृश्य हो गई, पातंजल भाष्य जो उसके पढ़ने वालों के हाथ से चला गया था, उसकी एक पोथी दक्षिणा पथ में पर्वतीय प्रदेश में सुरक्षित रह गई थी, कालान्तर में उसको पाकर चन्द्राचार्य आदि विद्वानों ने महाभाष्य का प्रचार किया और उसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के साथ-साथ उसके पठन-पाठन का प्रचार किया, गुरु वसुरात ने भाष्य के विरुद्ध की

जो जो दलीलें थीं उनका अभ्यास पूर्वक निरसन कर अपने दर्शन का पूर्ण अभ्यास कर भाष्य के सिद्धान्तों का अपने निबन्ध में प्रतिपादन किया । '४८७।४८८।४८९।४९०।।'

'गुरु प्रणीत आगमानुसार वाक्य पदीय के दो काण्डों में कितनेक विवादास्पद सिद्धान्तों का उदाहरण पूर्वक संक्षेप में निरूपण किया है, शेष विषयों की विस्तार पूर्वक अगले तीसरे काण्ड में विचारणा होगी । भिन्न-भिन्न आगमों के मन्तव्यों का अध्ययन करने से ही वुद्धि विवेक लाभ करती हैं केवल अपने तर्क के पीछे दौड़ने वाला मनुष्य गहन विषय को कितना स्पष्ट कर सकता है, पुराने आगमों के ज्ञान विना प्रत्येक विषय में तर्क वाजी से विचार करने वाले और विद्वानों की उपासना न करने वाले मनुष्यों को विद्या फल नहीं देती ।४९१।४९२।४९३।।'

भर्तृहरि के उपर्युक्त निरूपण से निम्नलिखित फलितार्थ प्राप्त होता है—

(१) पाणिनीय व्याकरण सूत्रों पर सर्व प्राचीन टीका ग्रन्थ आचार्य व्याडि कृत "संग्रह" था, जिसकी सहायता से अति प्राचीन काल में पाणिनीय व्याकरण का विद्यार्थी अध्ययन करते थे ।

(२) समय जाते तत्कालीन विद्यार्थियों के लिए "संग्रह" अनुपयोगी जान पड़ा, फल यह हुआ कि धीरे-धीरे "संग्रह टीका" अभ्यास में से निकल सी गई थी ।

(३) महर्षि पतञ्जलि ने देखा कि पाणिनीय शब्द शास्त्र पर इस समय के अनुरूप कोई भी विवरण ग्रन्थ नहीं है, यह सोचकर उन्होंने पाणिनीय सूत्रों तथा कात्यायन के वार्तिकों पर "महाभाष्य" की रचना की ।

(४) भाष्य बनकर पाठ्यक्रम में प्रविष्ट हुआ तो बैजि, सौभव, हर्य्यक्ष आदि विद्वान् जो व्याडि के संग्रह के पाठी तथा पक्षपाती थे, महाभाष्य के विरोध में उठ खड़े हुए और विरोध इतना प्रबल हुआ

कि भाष्य पढाया जाना तो क्या उसकी पुस्तक विद्वानों को अपने पास रखना मुश्किल होगया।

(५) मगध भूमि से निर्वासित होकर महाभाष्य दक्षिणापथ के किसी सुदूर पर्वतीय गांव में प्रकट हुआ, इतना ही नहीं परन्तु उस प्रदेश में उसका अध्ययन भी होने लगा।

(६) कालान्तर में चन्द्राचार्य आदि विद्वानों ने इस पर समर्थक निबन्ध लिखकर इसकी प्रतिष्ठा बढाई।

(७) कालान्तर में वसुरात आचार्य ने भी भाष्य पर निबन्ध लिखकर इसको दृढमूल बनाया।

(८) प्रस्तुत वाक्यपदीयकार विद्वान् भर्तृहरि आचार्य वसुरात को अपना गुरु बताते हैं, परन्तु हमारी राय में वसुरात भर्तृहरि के साक्षात् गुरु न होकर निबन्ध द्वारा उपकारक गुरु होने चाहिए।

यों तो वाक्यपदीय में व्याकरण के अनेक सिद्धान्तों की चर्चा की गई है, परन्तु उन सब का स्पर्श करने योग्य यह स्थल नहीं, यहाँ हम वैयाकरणों का स्फोट, उनकी परा, पश्यन्ती आदि चार भाषाएं तथा अन्य इसी प्रकार के कुछ नूतन सिद्धान्तों तथा ऐतिहासिक उल्लेखों पर परामर्श कर अवलोकन पूरा करेंगे।

स्फोट नाद के सम्बन्ध में वैयाकरणों का मन्तव्य-

"प्रतिबिम्बं यथान्यत्र,-स्थितं तोयक्रियावशात्।
तत्प्रवृत्तिमिवान्वेति, स धर्मः स्फोटनादयोः ॥४६॥

तत्त्विक पक्ष में अथवा सामान्य विचार में जलादि स्थित, स्थिर अथवा चल पदार्थ के प्रतिविम्ब जलादि की क्रिया के अनुसार चलते फिरते ज्ञात होते हैं, उसी प्रकार नाद के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त आदि प्रकार के अनुसार स्फोट की उत्पत्ति होती है।

"आत्मरूपं यथा ज्ञाने, ज्ञेयरूपं च दृश्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे, स्वरूपं च प्रकाशते ॥५०॥

अण्डभावमिवापन्नो, यः क्रतुः शब्दसंज्ञकः ।
वृत्तिस्तस्य क्रियारूपा, भागशो भजते क्रमम् ॥५१॥
यथैकबुद्धिविषया, मूर्तिराक्रियते पटे ।
मूर्त्यन्तरस्य त्रितयमेवं शब्देऽपि दृश्यते ॥५२॥

'जिस प्रकार ज्ञान में आत्मरूप, तथा ज्ञेयरूप दोनों का प्रतिभास पड़ता है, उसी प्रकार शब्द में अर्थरूप तथा अपना रूप दोनों प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार सर्व विभागों को हटाकर बाह्य व्यावहारिक शब्द अन्तःकरण में मयूराण्ड के रस की तरह विभागीय मात्रा को लांघ कर लीन होकर रहता है, इस प्रकार वह विभागहीन बना हुआ शब्द, वक्ता की विवक्षा को पाकर वाक्य पदादि के विवर्तों को प्राप्त कर अपने में अवयवों को बनाता हुआ क्रम-शक्ति को उत्पन्न करता है, वह क्रम-शक्ति इसके उदयास्त की क्षीण मात्रा जान पड़ती है, जिस प्रकार वस्त्र पर एक बुद्धि से किसी की मूर्ति का आकार चित्रित किया जाता है, उस पर से भित्ति फलक आदि पर क्रम से अन्यमूर्तियां भी बनायी जा सकती हैं, उसी प्रकार वैखरी-भाषात्मक शब्द सूक्ष्मा, सूक्ष्मत्तर, सूक्ष्मतमरूप मध्यमा, पश्यन्ति और परा नामक अपने अन्य तीन रूपों को प्राप्त करती हैं। '५०।५१।५२।'

वैखरी आदि चार भाषाओं का वर्णन

"वैखर्या मध्यमायाश्च, पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम् ।
अनेकतीर्थभेदाया-स्त्रय्या वाचः परं पदम् ॥१४४॥

जिसको कानों से सुना जाता है उसको "वैखरी" कहते हैं, श्लिष्ट वर्णा, व्यक्तवर्णा, उच्चारण शुद्धा, निर्दोषा और भ्रष्टसंस्कारा तथा दुन्दुभि-वांसली-वीणा आदि ध्वन्यात्मिका वैखरी भाषा कही जाती है।

(२) "मध्यमा" कण्ठ से नीचे रही हुई, क्रम प्राप्त और बुद्धि वर्णात्मिका होती है।

(३) "सूक्ष्मा" प्राणवायु स्वरूपा, क्रम रहित होकर भी अभेदावस्था में भी जो समाविष्ट क्रम-शक्ति होती है।

(४) "पश्यन्ती" वह है जो चला-अचला, प्रतिबद्ध समाधाना, सन्निविष्ट ज्ञेयाकारा, प्रतिलीनाकारा, निराकारा और परिच्छिन्नार्थ प्रत्यवभासा संसृष्टार्थ प्रत्यवभासा प्रशान्त सर्वार्थ प्रत्यवभासा और अपरिमित भेद वाली होती है।

पृ० ५६—

"तत्र व्यावहारिकीषु सर्वासु वागवस्थासु व्यवस्थितसाध्वसाधु प्रविभागा पुरुषसंस्कारहेतुः परन्तु पश्यन्त्या रूपमनपभ्रंशमसंकीर्णं लोक व्यवहारातीतम्। तस्या एव वाचो व्याकरणेन साधुत्वज्ञान लभ्येन शब्दपूर्वेण योगेनधिगम इत्येकेषाम् आगमः। तदुक्तमितिहासे-आश्वमेधिके पर्वणि ब्राह्मण गीतासु—

गौरिव प्रचरत्येका, रसमुत्तमशालिनी।
दिव्या दिव्येन रूपेण, भारती गौःशुचिस्मिता॥"
इति वैयाकरणानां सिद्धान्त॥"

पृ० १७३—

"संघातसाधर्म्याच्च स्फोट एवात्र संघात शब्देनोक्तः संघातो ह्यवयवैराच्छुरितो भवति, स्फोटश्चापि ध्वनिभिराच्छुरित इति संघातसार्धम्यम्॥२२२॥"

तृ० का० पृ० ६१—

"संविच्च पश्यन्तीरूपा, परा वाक् शब्द ब्रह्ममयीति, ब्रह्मतत्त्वं शब्दात् पारमार्थिकान्न भिद्यत्ते। विवर्तदशायां तु वैखर्यात्मना भेदः॥"

प्र० का० पृ० ३९—

"यः संयोग-विभागाभ्यां, कारणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा, ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः॥१०३॥

"अनित्यत्व पक्षे स्थान-करण-प्राप्तिविभागहेतुकः प्रथमाभिव्यक्तो यः शब्दः स स्फोट इत्युच्यते। तस्य मुख्यः समवायिदेश

आकाशः । आकाशस्यापि संयोगिद्रव्यान्तरकृते भेदे सति तन्नि मित्तस्तेषां पौर्वापर्यव्यवहारः । ततस्तु सर्वदिक्कास्तद्रूपप्रतिबिम्बाव ग्रहिणो मंदप्रदीप प्रकाशित रूप भान क्रमेण प्रभासमाना ये वर्णश्रुति विभाजन्ति ते ध्वनय इत्युच्यन्ते । नित्यत्वपक्षे तु संयोग विभागज ध्वनि व्यंग्यः स्फोटः केषां चिन्मतम् । अन्येषां संयोग विभाग फलज-ध्वनि सम्भूतनादाभि व्यंग्यः इति मतम् । तत्र पूर्वावस्थास्ते ह्रस्व-दीर्घादि व्यवहार हेतवः, यथोत्तरमुपचीयमानाभिव्यक्तयस्तु ध्वनयो नादा वा द्रुतादि वृत्ति भेद व्यवस्था हेतव इति बोध्यम् ।।१०३।।"

पृ० प्र० का–६४—

"स्फोट. शव्दो, ध्वनिः शब्दगुण इति । स्फोटश्च द्विविधो बाह्य आभ्यन्तरश्चेति । वाह्योऽपि जातिव्यक्तिभेदेन द्विविधः । तत्र जाति-लक्षणस्य जातिः संघातवर्तिनीति । व्यक्तिलक्षणस्यैकोनवयव शब्द इति । आभ्यन्तरस्य तुवुद्धनुसंहतिरित्यनेनोद्देशः । तत्र जातिः व्यक्ति लक्षणस्य बाह्यस्य यथैक एवेत्यादिना । पुनरव्यक्तः क्रमवानित्यादिना ग्रन्थेन स्वरूपमुक्तम् ।"

तृ० का० पृ० १६८—

ग्रन्थ के तीसरे काण्ड के सातवें समुद्देश की ३४ वीं कारिका से फुल्लराज की कृति बतलाई है।

ग्रन्थ के अन्त में सम्वन्ध विभक्ति की व्यवस्था अपूर्ण ही है, तथा वहां ग्रन्थ की समाप्ति बताये बिना ही त्रुटित रखा है, इससे ज्ञात होता है कि ग्रन्थ इतना ही मिला है।

ग्रन्थ के मूल कर्त्ता और टीकाकारों की प्रशस्ति भी नहीं है, अतः यह ज्ञात होता है कि ग्रन्थ अपूर्ण ही मिला तथा प्रकाशित हुआ।

भर्तृहरि के पूर्वगामी निबन्धकार का नाम टीकाकार ने वसुरात लिखा है जो ठीक प्रतीत नहीं होता, हमारी राय में उनका नाम "वसुराज" होना चाहिये था, क्योंकि पुण्यराज, भूतिराज हेलाराज तथा इसी विषय के निबन्धकार का नाम फुल्लराज हाने से यह नाम भी "वसुराज ही होगा जो अशुद्ध होकर वसुरात हो गया है, वास्तव में "रातान्त" नाम संस्कृत नहीं है, न इस प्रकार के नाम संस्कृत साहित्य में पाये जाते हैं।

जैनेन्द्र व्याकरण—महावृत्ति

जैनेन्द्र व्याकरण महावृति के सम्वन्ध में संक्षिप्त विवरण यह है—

महावृत्तिकार अभयनन्दी को आठवीं शताव्दी का माना जाता है, परन्तु कई इनके खुद के उल्लेखों से ये अर्वाचीन प्रतीत होते हैं। पाणिनीय अष्टाध्यायी की काशिका वृति का उपयोग तो इन्होंने किया ही है, परन्तु काशिका से वहुत अर्वाचीन ग्रन्थों के भी प्रतीक इन्होंने लिए हैं जो आगे दिये जायेंगे।

पं० नाथूरामजी के अनुसार जैनेन्द्र पर प्रथमा अभयनन्दी की "महावृति", द्वितीय प्रभाचन्द्र कृत "शव्दाम्भोजभास्कर न्यास", तृतीया श्रुतकीर्ति की पंचवस्तु प्रक्रिया, चतुर्थी पं० महाचन्द्र कृत लघु जैनेन्द्र नामक वृत्ति है, जो प्रायः सभी दसवीं शताव्दी के वाद की होनी चाहिए।

श्री युधिष्ठिर मीमांसक के मत से श्री अभयनन्दी का समय विवादास्पद, है फिर भी इन्होंने "संस्कृत व्याकरण का इतिहास" नामक ग्रन्थ में इनका समय ग्यारहवीं शती के आसपास का माना है।

मूल सूत्रों में भिन्न भिन्न प्रकरणों में अलग अलग आचार्यों के आये हुए नाम—

पृ० ९९ मूल सूत्र—

	" कृ—वृषि—मृजां यशोभद्रस्य	।२।१।९९। "
पृ० २३०—	" राद् भूतवले:	।३।४।८३। "
	" रात्र्यहः संवत्सरात्	।३।४।८४। "
	" वर्षाद्दुप्	।३।४।८५। "
पृ० ३१०—	" रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य	।४।३।१८०। "
पृ० ३३८—	" वेत्तेः सिद्धसेनस्य	।५।१।७। "
पृ० ४१८—	" चतुष्टयं समन्तभद्रस्य	।५।४।१४०। "

पृ० ६७ महावृत्तौ—"शान्तिचरित पट्टक प्रसारण मनु प्रावर्षत पर्जन्यः।"
"उपसिंहनन्दिनं कवयः, उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः।"
पृ० १११ "अनुषिवान् श्री दत्तं धान्यसिंहः।"
"उपसुश्रुवान् श्री दत्तं धान्यसिंहः।"
पृ० २०५ "दैवनन्दिनमनेकशेषं व्याकरणम्।"
"बलदेवेन कृताः, बालदेवाः श्लोकाः।"
"वाररुचाः, सिंहनंदीयाः।"
पृ० २१४ "वृद्धि प्रयच्छति वार्धुषिकः।"

जैनेन्द्र व्याकरण आचार्य देवनन्दी की कृति मानी जाती है, परन्तु इसमें जिन-जिन आचार्यों के मत का उल्लेख किया है, उनमें एक भी व्याकरणकार होने का प्रमाण नहीं मिलता, हमें तो ज्ञात होता है कि पिछले किन्हीं दिगम्बर जैन विद्वानों ने पाणिनीय अष्टाध्यायी के सूत्रों को अस्त-व्यस्त कर यह कृत्रिम व्याकरण बना कर देवनन्दी के नाम पर चढ़ा दिया है, त्रिविक्रम देव के तथा श्रुतसागर के प्राकृत व्याकरणों में जिस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के सूत्रों को अस्त-व्यस्त तथा आगे पीछे किया गया है, उसी प्रकार जैनेन्द्र में भी पाणिनीय सूत्रों को आगे पीछे कर तथा कुछ परिभाषाओं को बदलकर यह "जैनेन्द्र-व्याकरण" निर्मित किया गया है।

देवनन्दी के तीन नामों में जिनेन्द्र-वुद्धि नाम बताना भी पिछले भट्टारकों की करामात है, व्याकरणकार तो क्या ? इनको वैद्यक ग्रन्थों के रचयिता तक मान लिया है और इनके नाम चढे हुए कुछ तो वैद्यक के रस विषयक प्रकरण छप भी चुके हैं, जो देवनन्दी का महत्त्व बढाने के बजाय इनको चारित्र हीन सिद्ध करते हैं।

इसी प्रकार प्रस्तुत व्याकरण में अन्यान्य जैन विद्वानों के नामों का निर्देश करके यह बताने की चेष्टा की गई है कि जैनों में भी प्राचीन काल में अनेक वैयाकरण आचार्य हो चुके हैं, जिनके व्याकरणों का आधार लेकर आचार्य देवनन्दी ने जैन व्याकरण नया तैयार किया है, परन्तु इस व्याकरण का ढांचा ही इतना बिगड़

गया है कि इसको पढकर शायद ही कोई विद्यार्थी व्याकरण के अभ्यास में सफल हो सके, इसमें न कोई संज्ञाओं का सिलसिला है, न सन्धि, स्त्री प्रत्यय, अव्यय, आख्यात, तद्धितादि का ठिकाना है, यह देखते हुए हमारा निश्चय हो चुका है कि यह सन्दर्भ पूज्यपाद आचार्य श्री देवनन्दी का नहीं हो सकता, किन्तु कुछ जैन शासन की प्रभावना करने वाले अतिश्रद्धावान् आचार्यों की शासन सेवा है, इस पर टीकाकारों का भी इसी प्रकार की सेवा का प्रयास है, दिगम्बर परम्परा के अनेक ऐसे ग्रन्थों का हमने पता लगाया है कि जिनके रचयिता बहुत ही अर्वाचीन विद्वान् हैं, पर उनकी वे कृतियां अति प्राचीन माने जाने वाले आचार्यों के नाम चढा दी गई हैं, जिनमें "तिलोय-पण्णत्ति" "षट् प्राभृत" आदि उल्लेखनीय हैं।

दोनों मूल ग्रन्थों के सूत्रों का मिलान—

शब्दार्णव चन्द्रिका के अनुसार सूत्र क्रम—			महावृत्ति के अनुसार सूत्र क्रम—		
अध्याय	पा०	सू०—	अध्याय	पा०	सू०
१	१	१ सिद्धिरनेका०	१	१	१ सिद्धिरने०
"	"	२ सात्मे०	"	"	२ स्थानक्रि०
"	"	३ स्वस्या०	"	"	३ हलोऽनन्तरा०
"	"	४ सस्थान०	"	"	४ नासिक्यो०
"	"	५ आकाले०	"	"	५ अधुमृत्
"	"	६ अचश्च.	"	"	६ कृदधृत्सोः
"	"	७ नासिक्यो०	"	"	७ प्रो नपि
"	"	८ हलोऽनन्तरा०	"	"	८ स्त्री गो०
"	"	९ अधुमृत	"	"	९ दृदुप्युप्
"	"	१० कृदधत्साः	"	"	१० इद्गोण्याः
"	"	११ प्रो नपि	"	"	११ आकोलो०
"	"	१२ गोण्या मेये	"	"	१२ अचश्च

में, शव्दार्णव में तम म सूत्र दूसरे पाद के १८८ हैं, जवकि महावृत्ति में १५८ ।

श० के प्रथम अध्याय के तीसरे पाद के ४२ सूत्र महावृति से फेरफार वाले हैं, ३० चौकडी चिह्नित शव्दार्णव के सूत्र महावृति में वार्तिक रूप में हैं । शव्दार्णव में १२७ सूत्र संख्या है तव महावृत्ति में १०५ सूत्र संख्या है ।

शव्दार्णव में प्रथम के चौथे पाद में ८३ सूत्रों का मेल महावृत्ति से नहीं मिलता, शव्दार्णव में कुल सूत्र १७४ हैं, जव कि महावृत्ति में १५४ सूत्र प्र० अ० चौथे पाद के हैं । महावृत्ति में २५ सूत्र वार्त्तिकों के रूप में गिने हैं ।

शव्दार्णव के दूसरे अध्याय के प्रथम पाद के ६७ सूत्र जो महावृत्ति में अक्षरशः अन्तर वाले हैं, २८ सूत्र महावृत्ति में वार्तिक रूप में मिलते हैं, जिनका चिह्न चौकड़ी है, शव्दार्णव में, तमाम सूत्र संख्या १५३ है जव कि महावृत्ति में १२३ ।

दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के ७६ सूत्रों का अक्षरों में फरक महावृत्ति से है, २४ सूत्र महावृत्ति में वार्तिक रूप में हैं, एवं कुल सूत्र १८२ हैं, जब कि महावृत्ति में १६७ सूत्र हैं ।

दूसरे के तीसरे पाद के ६७ सूत्रों में महावृत्ति से फरक है, १४ सूत्र वार्तिक रूप में महावृत्ति के हिसाव से है, शव्दार्णव में एकन्दर सूत्र तीसरे पाद के १६७ हैं, जव कि महावृत्ति में १५२ सूत्र हैं ।

दूसरे के चौथे पाद में ४० सूत्रों में महावृत्ति से अक्षरों में अंतर है, ३ सूत्र वार्तिक रूप में शव्दार्णव में तथा वार्तिक के ही रूप में महावृत्ति के मत से हैं, १०० सूत्र शव्दार्णव में, तथा९६ सूत्र महावृत्ति में हैं ।

तीसरे अध्याय के प्रथम पाद के ६३ सूत्र फरक वाले महावृत्ति के हिसाव से हैं, ४३ सूत्र वार्तिक रूप में हैं । महावृत्ति के हिसाव से एकन्दर २०९ सूत्र हैं शव्दार्णव में, जब कि महावृत्ति में १५८ सूत्र हैं ।

तीसरे के दूसरे पाद में ३९ सूत्र फरक वाले हैं, ४९ सूत्र वार्तिक रूप में महावृत्ति के मत से हैं, १८७ सूत्र एकन्दर शब्दार्णव में हैं जब कि १४० सूत्र महावृत्ति में।

तीसरे के तीसरे पाद में ९३ सूत्र फरकवाले हैं, २५ सूत्र चौकड़ी चिह्नित वार्तिक हैं, एकन्दर २६२ सूत्र शब्दार्णव में हैं जब कि २०८ सूत्र महावृत्ति में हैं।

तीसरे के चौथे पाद में ६२ सूत्र फ़रक वाले, तथा २६ सूत्र वार्तिक रूप में, एकन्दर शब्पार्णव में सूत्र २१४, तथा महावृत्ति में १६९।

चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद में १०५ सूत्र फरक वाले, तथा २६ सूत्र वार्तिक रूप में, एकन्दर २१८ शब्दार्णव में हैं, जब कि महावृत्ति में केवल १६४ सूत्र हैं।

चौथे के दूसरे पाद में ७८ सूत्र फरक वाले, १८ सूत्र वार्तिक रूप में, एकन्दर २०२ सूत्र शब्दार्णव में हैं जब कि महावृत्ति में १५९ सूत्र हैं।

चौथे के तीसरे पाद में १२० सूत्र फरक वाले, जब कि ४८ सूत्र वार्तिक रूप में हैं, तमाम सूत्र शब्दार्णव के चौथे के तीसरे पाद में ३०३, तथा महावृत्ति में २३४।

चौथे के चौथे पाद में ५७ सूत्र फरक वाले, ७ सूत्र वार्तिक रूप में, एकन्दर १८६ सूत्र शब्दार्णव में और महावृत्ति में १०३।

पांचवें अध्याय के प्रथम पाद में ६० सूत्र फ़रक वाले हैं, १२ सूत्र वार्तिक रूप में हैं, एकन्दर शब्दार्णव में १८९ सूत्र हैं और महावृत्ति में १७१ हैं।

पांचवें के दूसरे पाद में ३९ फरक वाले, १३ सूत्र वार्तिक रूप में और एकन्दर २१५ सूत्र शब्दार्णव में और महावृत्ति में १९४।

पांचवें के तीसरे पाद में ३९ सूत्र फरक वाले, तथा वार्त्तिक रूप में १७ सूत्र हैं, एकन्दर शब्दार्णव में १३६, तथा महावृत्ति में १०५ हैं।

पांचवें के चतुर्थ पाद में ३५ सूत्र फरकवाले, ९ सूत्र वार्त्तिक रूप में, एवं एकन्दर शब्दार्णव में १६८ सूत्र हैं तथा महावृत्ति में १४० ।

जैनेन्द्र टीकाओं के सूत्र क्रम, महावृत्ति और शब्दार्णव —

महावृत्ति—		वा०	भेदवाले	शब्दार्णव
अ १ पा. १	१००	२४	४०	११६
,, ,, ,, २	१५८	३२	५४	१८८
,, ,, ,, ३	१२७	३०	४२	१०५
,, ,, ,, ४	१७४	२५	८३	१५४
	५५९	१११	२१९	५६३

दूसरा अध्याय पा०	महावृत्ति में	वार्तिक	फरक०	शब्दार्णव में
,, ,, १ —	१२३ —	२८ —	६७	१५३
,, ,, २ —	१६७ —	२४ —	७६	१८२
,, ,, ३ —	१५२ —	१४ —	६७	१६७
,, ,, ४ —	९६ —	३ —	४०	१००
दूसरे अध्यायमें सूत्र६०७।	५३८	६९	२५०	६०२

तीसरा अध्याय पा०	महावृत्ति में	वार्तिक	फरक०	शब्दार्णव में
,, ,, १ —	१५८—	४३ —	६३ —	२०९
,, ,, २ —	१४०—	४९ —	३९ —	१८७
,, ,, ३ —	२०८—	२५ —	९३ —	२६२
, ,, ४ —	१६९—	२६ —	६२ —	२१४
महावृत्तिमें कुल सूत्र ८१८।	६७५	१४३	२५७	८७२

चतुर्थ अध्याय पा०	महावृत्ति में	वार्तिक	फरक०	शब्दार्णव में
,, ,, १ —	१६४ —	२६ —	१०५ —	२१८
,, ,, २ —	१५९ —	१८ —	७८ —	२०२

चतुर्थ अध्याय	पा०	महावृत्ति में	वार्तिक	फरक०	शब्दार्णव में
,,	,, ३	— २३४	— ४८	— १२०	— ३०३
,,	,, ४	— १०३	— ७	— ५७	— १८६
महावृत्ति में सर्वसूत्र ७४६।		६६०	— ६६	— ३६०	— ६०६

पाँचवाँ अध्याय	पा०	महावृत्ति में	वार्तिक	फरक०	शब्दार्णव में
	१	— १७१	— १२	— ६०	— १८६
	२	— १६४	— १३	— ३६	— २१५
	३	— १०५	— १७	— ३६	— १३६
	४	— १४०	— ६	— ३५	— १६८
महावृति में सूत्र ६६१।		६१०	— ५१	— १७३	— ७०८

महावृत्ति तथा शब्दार्णव के पांचों अध्यायों की सूत्र संख्या—

अध्याय		महावृत्ति में	वा०	अन्तर	शब्दार्णव में
प्र०	,, —	५५६ —	१११ —	२१६	५६३
द्वि०	,, —	५३८ —	६६ —	२५०	६०२
तृ०	,, —	६७५ —	१४३ —	२५७	८७२
च०	,, —	६६० —	६६ —	३६०	६०६
पं०	,,	६१०	५१	१७३	७०८
योग		३०४२	४७३	१२५६	३६५४

महावृत्ति की सवार्तिक सूत्र संख्या—

प्र० अ०	६७०
द्वि० ,,	६०७
तृ० ,,	८१८
च० ,,	७५६
पं० ,,	६६१
	३५१५

शव्दार्णव में महावृत्ति से १३६ सूत्र अधिक हैं। शव्दार्णव में यशोभद्र का नाम मूल सूत्र में नहीं मिलता पर महावृत्ति में मिलता है।

शब्दार्णव का सूत्र—

"कृ मृज् वृष जप शंस दुह गुहः" २।१।११६॥ यह है तत्र

महावृत्ति का—"कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य" २।१।६६ यह।

महावृत्ति का मंगलाचरण—

"देवदेवं जिनं नत्वा, सर्व सत्त्वा भय प्रदम।

शब्दशास्त्रस्य सूत्राणां, महावृत्तिर्विरच्यते ॥१॥

"यच्छब्दलक्षण मसुव्रजपारमन्यैरव्यक्तमुक्तमभिधानविधौ दरिद्रैः।

तत् सर्वलोकहृदयप्रियचारुवाक्यैर्व्यक्तीकरोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम् ॥२॥

अथ प्रशस्तिः—

"जिनमतं जयताज्जितदुर्मतं, सकलसत्त्वहितं सुमतिप्रदम्।

नयचयाङ्कितमिष्टविशिष्टवाग्भवभयातपत्रारणवारिदम् ॥१॥

पाणिनिना यदयुक्तं, लपितं कृत्वाष्टकं मोहात्।

तदिह निरस्तं निखिलं, श्रीगुरुभिः पूज्यपादाख्यैः ॥२॥

जगन्नाथनाम्ना द्वितीयाभिधानात्सता वादिराजार्यसोपाख्यसाधोः।

जनन्याः सुतेनापि वीराभिधायाः, दयादान पूजादिसंशुद्धमूर्तेः ॥३॥

जैनेन्द्रशब्दशास्त्रं, स्वोपक्रमतो नरेन्द्रकीर्तिगुरोः।

अन्ते लिखितं पठितं, पाठितमपि भारतीभक्त्या ॥४॥

जीवोऽस्वप्नगुरुत्वमेवमुशनाः काव्याह्वयं भास्करो,

मित्रत्वं च विचक्षणत्वमगमन्निन्दुः सुधाधामताम्।

गीर्वाणत्वमनन्ततां सुरगणाः शेषो वृषा जिष्णुतां॥

जैनेन्द्रं समवीच्य शब्द-निलयं श्रीपूज्यपादोदितम् ॥५॥

पूज्यपादापराख्याय, नमः श्री देवनन्दिने ।
व्यधायि पंचकं येन, सूत्रं जैनेन्द्रमूलकम् ॥६॥
महावृत्तिकृते तस्मै, नमोऽस्त्वभयनन्दिने ।
यद्वाक्यादभया धीराः, शब्दविद्यासु सन्ततम् ॥७॥
स्रष्टा दृष्ट्वा सुसृष्टिं स्तुतिमकृत मुखैश्चाथ जैनेन्द्रशाब्दीं,
जिह्वा भूयस्त्वभावादुरगपतिरतोऽध्येति नात्येति पारम् ।
रीढां दुःखावलीढां निजमदवशगाः प्रापुरिन्द्रादयोऽपि
कृत्वेमां देवनन्दी विविधसुरगणैः पूज्यपादाह्वयोऽभूत् ॥८॥
प्रमाणमकलंकीयं, पूज्यपादीयलक्षणम् ।
धानंजयं च सत्काव्यं, रत्नत्रयमुदाहृतम् ॥९॥"

समाप्ता प्रशस्तिः ॥

शब्दार्णवचन्द्रिका का मङ्गलाचरण—

"श्री पूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं, सोमामरव्रतिपपूजित पादयुग्मम् ।
सिद्धं समुन्नतपदं वृषभं जिनेन्द्रं, सच्छब्दलक्षणमहं विनमामि वीरम् ॥१॥
श्री मूलसंघ जलजप्रतिबोध भानो र्मेघेंदुदीक्षितभुजंग सुधाकरस्य ।
राद्धांततोयनिधिवृद्धिकरस्य वृत्तिं, रेभे हरींदुयतये वरदीक्षिताय ॥२॥"

"लक्ष्मीरात्यंतिकी यस्य, निरवद्यावभासते ।
देवनंदितपूजेशे, नमस्तस्मै-स्वयंभुवे ॥१॥"

यह श्लोक मूलकार का नहीं है, वल्कि महावृत्तिकार का है, शव्दार्णव के सम्पादक ने बिना समझे ही इसको सोमदेव के मंगलाचरणश्लोकों के साथ जोड़ दिया है ।

शब्दार्णवप्रशस्ति—

"स्वस्ति श्री कोल्लापुरदेशांतर्वर्त्यार्जुरिकामहास्थानयुधिष्ठिरावतार-महामंडलेश्वरगंडरादित्यदेव-निर्मापित-त्रिभुवनतिलक जिना-

लये श्रीमत्परमपरमेष्ठिश्रीनेमिनाथश्रीपादद्वाराधनबलेनवादीभवज्रांकुश श्रीविशालकीर्तिपंडितदेव वैयावृत्यतः श्रीमच्छिलाहारकुल कमलमार्तण्डतेजः पुंजराजाधिराजपरमेश्वर परमभट्टारकपश्चिम चक्रवर्तिश्री वीरभोजदेवविजयराज्ये शकवर्षैकसहस्रैकशत सप्तविंशति ११२७ तम क्रोधनसंवत्सरे स्वस्ति समस्तानवद्यविद्याचक्र चक्रवर्तिश्री पूज्यपादारक्त चेतसा श्री मत्सोमदेवमुनीश्वरेण विरचितेयं शब्दार्णवचन्द्रिका नाम वृत्तिरिति ।"

इति श्री पूज्यपादकृतजैनेन्द्र महाव्याकरणं सम्पूर्णम् ॥

उपर्युक्त दो टीकाओं के टीकाकारों की मंगल गाथाओं तथा समाप्ति लेखों से इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस व्याकरण की इन्होंने टीकाएं लिखी हैं उसको ये पूज्यपाद की कृति मानते थे, और दोनों दक्षिणापंथ के विचरने वाले थे, इस पर भी दोनों के पास व्याकरण के मूल आदर्श भिन्न-भिन्न थे महावृत्तिकार ने पौने पांच सौ के लगभग वार्तिक बनाकर के व्याकरण को सम्पूर्ण बनाने की चेष्टा की है, तब आचार्य सोमदेव ने अपनी इस लघुवृत्ति में सभी मूलसूत्रों की व्याख्या की है जो महावृत्तिकार के ग्रहण किये हुए सूत्रों तथा वार्तिकों की संख्या से १३९ की संख्या में अधिक हैं, चन्द्रिकाकार से महावृत्तिकार पूर्ववर्ती ज्ञात होते हैं, फिर भी उनको पूरे सूत्र नहीं मिले, जिससे वार्तिक बनाने पड़े हैं, यह एक रहस्य पूर्ण हकीकत है, महावृत्ति में द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद के ९९ वें सूत्र में आचार्य यशोभद्र के मत का निर्देश मिलता है, तब चन्द्रिका वाले शब्दार्णव में यह सूत्र परिवर्तित रूप में उसी अध्याय के उसी पाद के १९९ वें सूत्र के रूप में मिलता है, जिसमें आचार्य यशोभद्र का नाम निर्देश नहीं है, सामान्य रूप से दोनों वृत्तियों के आदर्शों के मूल सूत्रों में बहुत ही आश्चर्यकारी विषमता है, साढे तीन हजार से अधिक सूत्रों में इने गिने ही सूत्र हैं जिनके कि क्रमाङ्क समान हैं । इस गडबड़ झोले का रहस्य क्या हो सकता है इसका निर्णय करना विद्वानों का प्रथम कर्त्तव्य है ।

अभयनन्दी आचार्य के समय के संबंध में कुछ प्रामाणिक उल्लेख—

शक संवत् १०३७ का शिला लेख नं. ४७ वां जिसमें त्रैकाल्योगी-अभयनन्दि-सकलचन्द्र–मेघचन्द्र–प्रभाचन्द्र मेघचन्द्र के नामों उल्लेख हैं।

शक संवत् १०६८ के शिला लेख नं० ५० वें में भी त्रैकाल्य योगी आदि के नाम हैं, त्रैकाल्ययोगी-अभयनन्दी-सकलचन्द्र-मेघचन यह लेख प्रभाचन्द्र की मरणतिथि का सूचक है।

मर्करा के ताम्र पत्र में गुणचन्द्र, अभयनन्दी-शीलभद्र-जयनन्दी-गुणनन्दी-चन्द्रनन्दी आदि के नाम हैं पर यह ताम्र पत्र जाली प्रतीत हुआ है।

शक सं० ८९३ के शिला ले० नं १५० में देवेन्द्रसैद्धान्तिक-चन्द्रायण भट्टारक-गुणचंद्र भट्टारक के बाद अभयनंदी की शिष्या के स्मारक का उल्लेख है।

मल्लिषेण प्रशस्ति का समय शक सं० १०५० जिसमें कि अभयनंदी का नाम है।

शब्दार्णव की प्रस्तावना में सम्पादक श्री श्रीलाल का वक्तव्य यह है–

"संलभ्यते भारतवर्षीयोत्तारदक्षिणप्राँतयोर्भिन्नभिन्नसंस्करणद्वयं। संति च तत्रोत्तरीय संस्करणे पाणिनीयसूत्रानुकारिखण्डितावयवं सूत्रं, वार्तिकेष्टि प्रभृतयश्च। परं ग्रंथकर्तुर्नाम मंगलाचरण माद्यंतसूत्रमेव मन्यानेकसूत्राणि चोभयोः समान्येव। संपद्यतेऽतो महान् संदेहो यत्कतरन्निर्मितमस्मद् भक्तिभाजनपूज्यपादपूज्यपादेन कतरच्चान्येन। नास्ति किंचित्प्रमाणं पूर्वाचार्य निर्दिष्ट मस्मत्समीपे येन शक्नुयाम सरलतया निर्णेतुं।"

शाकटायन-व्याकरण

मू० ले० शाकटायन

श्री अभयचन्द्र सूरि प्रणीत संग्रह—

शाकटायन व्याकरण के कुल चार अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय में चार चार पाद हैं, जिनमें सूत्र संख्या नीचे लिखे क्रमानुसार है—

प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के—१८०
" " द्वितीय " "—२२३
" " तृतीय " "—१९५
" " चतुर्थ " "—१२३

७२१

द्वितीय अध्याय के प्र० पा० के—२२९
" " " द्वि० " "—१७२
" " " तृ० " "—११३
" " " च० " "—२३९

७५३

तृतीय अध्याय के प्र० पा० के—२०१
" " " द्वि० " "—२२७
" " " तृ० " "—१८१
" " " च० " "—१४६

७५५

चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद के—२७१
" " " द्वितीय " "—२६१
" " " तृतीय " "—२८९
" " " चतुर्थ " "—१८६

१००७

तमाम टोटल=३२३६ सूत्र।

तब अभयचन्द्र सूरि की प्रक्रिया में दिए हुए सूत्र २१०५ बताए गए हैं, इससे मालूम होता है कि प्रक्रिया कार ने ११३१ सूत्र छोड़ दिए हैं। प्रक्रिया के सम्पादक पं० ज्येष्ठाराम मुकुन्दजी तथा पं० पन्नालालजी ने अपनी प्रस्तावना में लिखा है कि शाकटायन व्याकरण में तीन प्राचीन आचार्यों के नाम निर्देश हुए हैं, परन्तु हमने मूल सूत्र पाठ तथा प्रक्रिया सूत्र पाठ में "सिद्धनंदी" तथा "इन्द्र" ये दो ही नाम पाये, "आर्य वज्र"* का नाम सूत्रों में तथा प्रक्रिया में कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ, केवल चिन्तामणि टीका वाले शाकटायन में आर्य वज्र के नाम वाला सूत्र उपलब्ध होता है।

अ० १, पा० २, सू० ३७ में "इन्द्र" व्याकरणकार का नाम निर्देश निम्न प्रकार से मिलता है—"जराया ङसिन्द्रस्याचि" १।२।३७।" इसमें अष्ट वैयाकरणों में से पहले "इन्द्र" का नाम होना संभव है, परन्तु २ अ० १ पा० २२९ सू० में "शेषात् सिद्ध-नन्दिनः" २।१।२२९ इस प्रकार सिद्धनन्दी का व्याकरण कार के रूप में निर्देश किया है, हमारे विचार से यह एक नयी बात है, क्योंकि अन्य दिगम्बर तथा श्वेताम्बर परम्परा के धार्मिक तथा साहित्यिक ग्रंथों से इस बात का समर्थन नहीं होता, इतना ही नहीं बल्कि प्राचीन व्याकरणकार आचार्यों के नामों में तथा उनके व्याकरण ग्रन्थों के इतिहास में "सिद्धनन्दी" वैयाकरण होने का कोई उल्लेख तक नहीं मिलता, तब आचार्य शाकटायन ने अपने व्याकरण में सिद्धनन्दी का नाम निर्देश करने का क्या कारण पाया होगा यह कहना कठिन है। तब "आर्य वज्र" के सम्बन्ध में तो उनका उल्लेख शाकटायन

---

* "आर्य वज्र" ये श्वेताम्बर परम्परा के दशपूर्वधर युगप्रधान आचार्य हो गये हैं, परन्तु जैन परम्परा के किसी सूत्र वा प्रकरण में ऐसा उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता कि कोई उन्होंने व्याकरण ग्रन्थ बनाया हो, इस परिस्थिति में सम्पादक द्वय ने आर्य वज्र का नामोल्लेख होने का किस आधार से लिखा यह हमारी समझ में नहीं आया। चिन्तामणि टीका वाले शाकटायन में आर्य वज्र के माम वाला सूत्र उपलब्ध अवश्य होता है।

व्याकरण में होने की सम्भावना ही नहीं रहती, इसका विशेष स्पष्टीकरण आर्य वज्र के नाम की पाद टीका में पढ़िये ।

आचार्य शाकटायन जिनका दूसरा नाम 'पाल्यकीर्ति" था, विक्रम की नवमीं दशवीं शताब्दी के मध्याभाग में हो गये हैं, ये दिगम्बर जैन श्रमणों के यापनीय संघ के प्रधान आचार्य थे, राष्ट्रकूट वंशीय प्रसिद्ध राजा अमोघवर्ष के धर्मगुरु थे, पाल्यकीर्ति तथा अमोघ वर्ष का समय भट्टारक युग प्रारम्भ के बाद का है, भट्टारकों के समय में दिगम्बर परम्परा में जैन चैत्यों तथा जैन मठों में भूमिदान आदि देने लेने का पर्याप्त प्रचार हो चुका था, पूर्वकाल के त्यागी निर्ग्रन्थ श्रमणों की निस्पृहता नाम मात्र की रह गई थी । वे भूमिदान अपने नाम पर दिया हुआ स्वीकार करते थे और उसकी व्यवस्था स्वयं करते, अथवा अपने "वर्णी" नामक ब्रह्मचारियों तथा क्षुल्लकों से करवाते थे, भविष्य में श्रमण होने की भावना वाला व्यक्ति 'क्षुल्लक" नाम से सम्बोधित किया जाता था, तब ब्रह्मचारी प्रायः जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य पालता और वर्णी कहलाता था, वर्णी का तात्पर्य इतना ही है कि वह ब्राह्मणादि तीन वर्णों में से हो सकता था, शूद्र के लिए वर्णी बनने का द्वार बन्द था, पाणिनीय व्याकरण शास्त्र के आधार से ब्रह्मचारी को वर्णी नाम से सम्बोधित किया जाता था, इसलिए आचार्य शाकटायन को भी अपने व्याकरण में "वर्णी ब्रह्मचारी" (३ अ० ३ पा० १७३ सूत्र) यह सूत्र बनाकर ब्रह्मचारी का "वर्णी" नाम सिद्ध करना पड़ा ।

यों तो शाकटायन व्याकरण पर "अमोघवृत्ति" आदि अनेक बड़ी बड़ी टीकाएं होने का सम्पादकों ने इसकी प्रस्तावना में उल्लेख किया है, पर हमारी दृष्टि में अभयचन्द्र की प्रक्रिया के अतिरिक्त-चिन्तामणि टीका ही आई है अतः उसके सम्बन्ध में ऊहापोह आगे होगा ।

अभयचन्द्र सूरि के सत्ता समय के सम्बन्ध में कोई बात विदित

नहीं है, इस दशा में शाकटायन के इस प्रक्रिया ग्रन्थ के सम्बन्ध में निर्माण काल का ऊहापोह करना निराधार होगा, फिर भी प्रक्रियाकार के अनेक उदाहरणों तथा वाक्य प्रयोगों से इतना तो अनुमान किया जा सकता है कि ग्रन्थ का निर्माण समय तेरहवीं तथा चौदहवीं विक्रमीय शती के पूर्व का नहीं है।

सम्पादकों ने अपनी प्रस्तावना में प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि की अष्टाध्यायी में आने वाले शाकटायन के नामोल्लेखों से शाकटायन को पाणिनि से पूर्वकालीन मानने की चेष्टा की है, जो उनके ऐतिहासिक ज्ञान का अभाव सूचित करती है, पाणिनि ने जिन शाकटायन का अपने व्याकरण सूत्रों में नामोल्लेख किया है वे शाकटायन उनके पूर्वगामी वैदिक शाकटायन ही हो सकते हैं, पाल्यकीर्ति नामक यापनीय शाकटायन नहीं।

शाकटायन व्याकरण

चिंतामणी टीका सहित

टीकाकार का मंगलाचरण १२ श्लोकों में पूरा हुआ है, जिसका प्रथम श्लोक यह है-

"श्रियं क्रियाद्वः सर्वज्ञ-ज्ञोज्ञानज्योतिरनश्वरीम् ।
विश्वं प्रकाशयंश्चिन्तामणिरिवार्थसाधनः ॥१॥

तमस्तपःप्रभावाभि-भूतभूद्योतहेतवे ।
लोकोपकारिणे शब्द-ब्रह्मणे द्वादशात्मने ॥२॥

स्वस्ति श्रीसकलज्ञान-साम्राज्यपदमाप्तवान् ।
महाश्रमण-संघाधिपतिर्यः शाकटायनः ॥३॥

सर्वशास्त्राम्बुधिं बुद्धिमन्दरेण प्रमथ्य यः ।
स यशःश्रीः समुद्दध्रे, विश्वं व्याकरणामृतम् ॥४॥

स्वल्पग्रन्थं सुखोपायं, सम्पूर्णयदुपक्रमम् ।
शब्दानुशासनं सार्वमर्हच्छासनवत्परम् ॥५॥

इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्यं, वक्तव्यं सूत्रतः पृथक् ।
सख्यातं नोपसंख्यातं, यस्य शब्दानुशासने ॥६॥

तस्यातिमहतीं वृत्तिं संहृत्येयं लघीयसी ।
सम्पूर्णलक्षणा वृत्तिर्वक्ष्यते-यक्षवर्मणा ॥७॥

ग्रन्थविस्तारभीरूणां, सुकुमारधियामयम् ।
शुश्रूषादिगुणान् कर्तुं, शास्ति संग्रहणोद्यमः ॥८॥

शब्दानुशासनस्यान्वर्थयाश्चिन्तामणेरिदम् ।
वृत्तेर्ग्रन्थप्रमाणं तु षट्सहस्रं निरूपितम्ः ॥९॥

इन्द्रचन्द्रादिभिः शाब्दैर्यदुक्तं शब्दलक्षणम् ।
तदिहास्ति समस्तं च, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥१०॥
गण-धातुपाठयोर्गण–धातू ल्लिङ्गानुशासने लिङ्गगतम् ।
उणादिकमुणादौ, शेषं निःशेषमत्र वृ(कृ)त्तौ त्रियात् ॥११॥
बालाऽबलाजनोऽप्यस्या, वृत्तेरभ्यासवृत्तितः ।
समस्तं वाङ्मयं वेत्ति, वर्षेणैकेन निश्चयात् ॥१२॥

तत्र मूल कर्ता का मंगलश्लोक—
"नमः श्री वर्द्धमानाय, प्रबुद्धाशेषवस्तवे ।
येन शब्दार्थसम्बन्धाः सार्वेण सुनिरूपिताः ॥१॥
धर्मार्थकाममोक्षेषु, तत्त्वार्थावगतिर्यतः ।
शब्दार्थज्ञानपूर्वेतिः, वेद्यं व्याकरणं बुधैः ॥२॥

पृ० २६–"दश ऋणानि यस्याः सा दशार्णा नदी, दशार्णो जनपदः ।"

पृ० ४७–"ततः प्रागार्यवज्रस्य" १।२।१३। एवं दूसरे पाद का प्रथम सूत्र "नपोऽचोह्स्वः" चिन्तामणी टीका में शाकटायन व्याकरण के प्रक्रियाकार ने "ततः पागार्यवज्रस्य" सूत्र को मूल सूत्र के पाठ में वार्त्तिक रूप में लिखा है न कि सूत्र रूप में, वह भी सम्पादक के द्वारा ही सम्पादित सूत्र पाठ में मिला है ।

"वहूर्न्जि" इस शब्द में नुम् होता है आचार्य "आर्यवज्र" के मत से, क्योंकि "जालम्" इस सूत्र से जल जाति वाले को "नुम्" होजाता है जब कि अच् से परे हो तो, अतः यहाँ इससे न होकर आर्यवज्र के मत से किया है "वहूर्न्जि" "वहूर्जि" दो रूप होते हैं ।

"अज्भेश्शतुः" १।२।१४ इस सूत्र से ५ शब्दों का नुम् होता है आचार्य आर्यवज्र के मत में जैसे–ददन्ति, ददति, दधन्ति, दधति, जक्षन्ति, जक्षति, जाग्रन्ति, जाग्रति, दरिद्रन्ति, दरिद्रति, चकासन्ति, चकासति, शासन्ति, शासति, इत्यादि ।"

"जराया ङसिन्द्रस्याचि" १।२।३७ इस सूत्र से आचार्य "इन्द्र" के मत से ङसादेश किया है।

पृ० ९३–"इति श्री श्रुतकेवलिदेशीयाचार्यशाकटायनकृतौ शब्दानुशासने चिन्तामणौवृत्तौ प्रथमस्याऽध्यायस्य द्वितीयः पादः।"

पृ० ११४–"अनुशाकटायनं वैय्याकरणाः उपविशेषवादिनं कवयः तस्माद्धीना इत्यर्थ, ॥"

पृ० १२९–"आकुमारेभ्यो यशः शाकटायनस्य गतम्।"

पृ० १३३–"सीम्नि सीमलको हतः॥"

पृ० २११–"शेषात् सिद्धनन्दिनः २।१।२२९" इस सूत्र से आचार्य सिद्धनन्दि के मत से कच् प्रत्यय होता है, जिसके रूप–बहुखुद्वकः, बहुखुद्वः, बहुमालक, बहुमूलकः ॥"

पृ० २४५–"कषायपाणाः गंधारयः, क्षीरपाणाः उशीनराः, सुरापाणाः, प्राच्याः, सौवीरपाणा बाह्विकाः ॥"

पृ० २८४–"शुंगाभ्याँ भारद्वाजे २।४।४८।" इस सूत्र से शुंग शब्द को स्त्रीलिंग में, पुलिंग में भारद्वाज के अपत्य अर्थ में अण् होता है जैसे– शौङ्गो भारद्वाज, शौङ्गी, शौङ्गेयः ॥"

पृ० ३११–"अष्टकाः आपिशलि-पाणिनीयाः चतुष्काः शाकटायनीयाः संख्या ग्रहणं किं ? माहावर्त्तिकाः, कालापकाः ॥"

पृ० ३३५—"पर्वतीय मनुष्य, पर्वतीयो राजा ॥ 'पर्वतान्नरे" इस सूत्र से छ प्रत्यय।"

पृ० ३५४–"भद्रबाहुना प्रोक्तानि भद्रवाहवाणि उत्तराध्ययनानि, यज्ञवल्केन प्रोक्तानि याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि पाणिनिना प्रोक्थं पाणिनीयम्, आपिशशिना आपिशलमः, काशकृत्स्निना काशकृत्स्नम्"

पृ० ३५७–"वाररुचानि वाक्यानि, जालुका, श्लोकाः, सिद्धसेनीयः स्तव,"

पृ० ३७१–"शीलं प्राणिनां स्वभावः, फलनिरपेक्षा प्रवृत्ति, ॥"

पृ० ३७३–"चन्द्रसुर्योपरागश्च, निर्घातो भूमिकम्पनम्।
तृतीयं गर्जिविद्युच्च, उल्का दाहो दिशाँ तथा ॥१॥
श्मशानाभ्यासमशुचिरुत्सवो दश सन्ध्यया,
इत्यनध्यायदेशकालाः ॥"

पृ० ४३६—"वर्णी ब्रह्मचारी ३।३।१७४" वर्णो ब्रह्मचर्यमस्यास्तीति वर्णी ब्रह्मचारी ॥"

पृ० ४७०—"नानाजातीया, अनियतवृत्तय, उन्सेधजीविनः संघा व्राताः ।"

पृ० ५२४—"अन्यत्र रजत्यस्मिन्निति रंगः, रजनम् रजः रजनीत्युणादय अमोघ वृत्तावुक्तम् ॥"

पृ० ६१६—"आचार्यो देशः, गुरौ आचार्यः शाकटायनः ।"

पृ० ६४१—कषायपायिणो गांधाराः क्षीरपायिणः उशीनराः, सौवीरपायिणो वाल्हीकाः ॥"

पृ० ६४२—"ब्रह्मवादी ४।३।१८५" ब्रह्मवदन्ति ब्रह्मवादिनो ब्राह्मणाः ॥ अशीलाद्यर्थं वचनम् ॥"

पृ० ६४६—"अरुणद्देवः पांड्यम् अदहदमोघवर्षोऽरातीन् ॥"

पृ० ७०४—प्रशस्तिः—

"वन्दारुवृन्दपरिघट्टविलोलिताच्च—
वन्दारकेश्वरकिरीटतटावकीर्णैः ।
मन्दारपुष्पनिकरैर्विहितोपहारं,
वन्दामहे जिनपतेः पदपद्मयुग्मम् ॥१॥

यो जानाति समं समस्तमनिशं यं सूरयस्संश्रिताः,
येनादर्शि विमुक्तिवर्त्म सुधियो यस्मै स्पृहां कुर्वते ।
यस्मात्तत्वविनिश्चयोऽप्रतिहतं यस्यैव शास्त्रं जयो,
यस्मिन् विस्मयनीयपुण्यमहिमा भूयात् स वः श्रेयसे ॥२॥

सुविवेचितपदरूपा । प्रकरणरचना प्रवेशमुखसुभगा ।
वाङ्मयमूर्तिस्सौरी कृतिरियमधिवसतु बुधहृदयम् ॥३॥

गहनं व्याकरणं स्यात्, शब्दानुशासनं महागहनम् ।
लिङ् लुङ् सन्यङ् कष्टं, तस्मादपि घेट् परं महाकष्टम् ॥४॥

अम्भोजनेत्रं हरितोरुगात्रं, दयाकलत्रं वरशक्तिपात्रम् ।
भव्याब्जमित्रं भुवने पवित्रं, नाभेयपुत्रं प्रणमामि नित्यम् ॥५॥

मुकुरविमलगण्डं चन्द्रसंकाशतुण्डं,
गजकरभुजदण्डं कामदाहाग्निकुण्डम् ।
विनुतमुनिपषण्डं गोमठेशप्रचण्डं,
गुणनिवहकरण्डं नौमि नाभेय पिण्डम् ॥६॥

श्रीमज्जिनाधीशपदाब्जभृंगः, कामादिमत्तेभमहाभृगेन्द्रः ।
हेमादिदानेषु महीजधेनुः,श्रीचारुकीर्त्यार्यमुनिः स जीयात् ॥७॥

"इति शब्दानुशासने चिन्तामणौ वृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य चतुर्थपाद.।
समाप्तोऽध्यायश्चतुर्थः ॥ शम् ॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।"

भद्रं भूयात् श्रीः श्रीः श्रीः

'एङि पररूपम्" यह सूत्र जैनेन्द्र और पाणिनीय इन दोनों व्याकरणों में समान है ।

"एचोऽयनायावः" यह सूत्र पाणिनीय और जैनेन्द्र में समान हैं पर शाकटायन में "एचोच्ययवायान्" यह पाठ है ।

"ऐस् भिसोऽद्भुशः" यह सूत्र शाकटायन का है, पाणिनीय में "अतोमिस ऐस्" ऐसा सूत्र है ।

"कडारादयः कर्मधारये" यह सूत्र शाकटायन का है तब कडारः कर्म धारयः" ऐसा पाणिनीय में है ।

"कस्कादौ" यह सूत्र जैनेन्द्र का शाकटायन में "कस्कादिषु" ऐसा पाठ है ।

"कुमारश्रमणादिना" यह सूत्र शाकटायन का है "कुमार श्रमणदिभिः ऐसा जैनेन्द्र में है ।

"केकय-मित्र-यु-प्रलयस्येय्यादेर्ञ्णिति" यह शाकटायन का सूत्र है, जैनेन्द्र में "केकय मित्रयु प्रलयानां" ऐसा है ।

"चटकाण्णैरः" इस रूप में जैनेन्द्र महावृत्ति में पाया जाता है, जब कि "चटकादैरण" शाकटायन में मिलता है ।

"तस्मै हितोऽराजा चार्यं ब्राह्मणवृष्णः" शाकटायन में है तब "तस्मै हितम्" जैनेन्द्र में है ।

मूलसूत्रानुक्रम के अन्त में पृ० ६५—

"गणनेयं सूत्राणा-मनुष्टुभामर्धसप्तमशतीह ।
त्रीणि सहस्राणि शते द्वे षट्त्रिंशच्च योगानाम् ॥
संज्ञानियम-निषेधाधिकार-नित्यापवाद-विधि-परिभाषाः ।
अतिदेश-विकल्पाविति गतयः शब्दानुशासने सूत्राणाम् ॥

"। शाकटायनीयसूत्रपाठस्समाप्त ।"

शाकटायन-व्याकरण तथा जैनेन्द्र-व्याकरण के मार्ग दर्शक सैद्धान्तिक आधार व्याकरण ग्रन्थ-शाकटायन व्याकरण ने अपने विषय का विन्यास करने में कलाप व्याकरण का मार्ग ग्रहण किया है, तव जैनेन्द्र के लेखक ने अपने व्याकरण का मार्ग दर्शक पाणिनीय अष्टाध्यायी को रखा है, भेद मात्र इतना ही है कि पाणिनीय व्याकरण का विषय आठ अध्यायों में विभक्त है, तब जैनेन्द्र ने व्याकरण का सम्पूर्ण विषय पांच अध्यायों में समाविष्ट किया है, शाकटायन चार अध्यायों में पूरा होता है, उसका मार्ग दर्शक है– "कलाप व्याकरण," यद्यपि अपने ग्रन्थ के भागों को अध्यायों के नाम से नहीं वताता, फिर भी उसके तमाम विषय चार भागों में पूरे होते हैं, जिसके अनुकरण में शाकटायनाचार्य ने अपना व्याकरण चार अध्यायों में विभक्त किया है ।

शाकटायन ने अनेक मौलिक व्याकरण ग्रन्थों का आधार तो लिया ही है, कहीं कहीं तो पाणिनीय के सूत्रों को ज्यों का त्यों अपनाया है, फिर भी इन्होंने अपना व्याकरण बताने के भाव से सूत्रों में स्पष्टता लाने की तरफ विशेष ध्यान रखा है, इसके विपरीत जैनेन्द्रकार ने पाणिनीय के साथ मेल जोल रखने का खास ध्यान रखा है । अनेकों पाणिनीय सूत्र अपने व्याकरण में ज्यों के त्यों रख दिए हैं, कहीं कहीं सूत्रों में परिवर्तन भी किया है, लेकिन वहुत ही कम प्रमाण में, कारकादि अनेक विषय पाणिनीय के ही क्रम से रखे है, उदाहरणार्थ कारक-प्रकरण को लीजिये, अधिकरण से प्रारम्भ कर कर्ता तक के क्रम से पाणिनि ने कारक-प्रकरण

को रखा है, इसी प्रकार कारक और अन्य विषय भी जैनेन्द्र ने पाणिनि के ही क्रम से अपने व्याकरण में रखे हैं, परन्तु शाकटायन की बात इससे विपरीत है, पाणिनि के विषय निरूपण क्रम से शाकटायन दूर चले जाते हैं और कलापक के निकट पहुंचते हैं, यों तो जैनेन्द्र में ज्यों के त्यों रखे हुए और कुछ परिवर्तित किये हुए सैकड़ों सूत्र शाकटायन के दृष्टिगोचर होते हैं, फिर भी पाणिनीय के बराबर जैनेन्द्र का शाकटायन के साथ सादृश्य नहीं है।

पौर्वा-पर्य

अब हम शाकटायन और जैनेन्द्र व्याकरणों में पूर्वतन कौन है और अर्वाचीन कौन है ? इस बात पर विचार करेंगे, आज-कल के दिगम्बर जैन विद्वानों में इस सम्बन्ध में दो मत हैं, कतिपय विद्वान् कहते हैं—पाणिनीय व्याकरण में "लङः शाकटायनस्यैव" इत्यादि सूत्रों में शाकटायन का मत निर्देश मिलता है, इससे शाकटायन व्याकरण पाणिनि से भी पूर्वकालीन है, तब जैनेन्द्र व्याकरण विक्रम की ६ वीं शती के विद्वान् देवनन्दी की कृति होने से शाकटायन के बाद की रचना है, दूसरे विद्वान् शाकटायन व्याकरण राजा अमोघ वर्ष के गुरु पाल्यकीर्ति अपर नाम शाकटायन की कृति है और इसका अनुमित समय विक्रम को नवमी शती का अन्त और दशवीं शताब्दी का पूर्वार्ध होना चाहिए, ऐसा मानते हैं, इस मान्यता वाले विद्वानों की दृष्टि में भी जैनेन्द्र व्याकरण पूज्यपाद आचार्य श्री देवनन्दि की कृति है और इसका समय देवनन्दि का ही सत्ता समय षष्ठी शताब्दी हो सकता है।

उपर्युक्त दिगम्बर-परम्परा के विद्वानों के दो मतों में से एक भी मत से हम पूर्ण रूप से सहमत नहीं हो सकते, पाणिनि ने जिन शाकटायन का अपने सूत्रों में मतोल्लेख किया है, वे वैदिक शाकटायन ऋषि थे जिनका नामोल्लेख निरुक्त भाष्य में भी यास्काचार्य ने किया है, इन शाकटायन को अमोघवर्ष कालीन जैन आचार्य शाकटायन को पाणिनि के पूर्ववर्ती ऋषि मानना भ्रांति मात्र है।

अब रही जैनेन्द्र व्याकरण की बात, जैनेन्द्र व्याकरण के कर्ता को सभी दिगम्बर जैन विद्वान् आचार्य देवनन्दि को मानते हैं, परन्तु देवनन्दि का निश्चित समय विक्रम का षष्ठ शतक था, इस मान्यता में हम शंकित हैं, क्योंकि देवनन्दि ने किसी भी ग्रन्थ में अपना नाम निर्देश तक नहीं किया, उधर प्राचीन प्रशस्तियों तथा शिला लेखों में देवनन्दि का जहां जहां नाम आता है, वे सभी लेख विक्रम की दशवीं तथा ग्यारहवीं शताव्दी के बाद के हैं और उनमें देवनन्दि का नाम भी आठवीं नवमी शताब्दी के आचार्यों के बाद आता है, देवनन्दि का सबसे प्रथम नामोल्लेख आचार्य भट्टाकलंक ने अपने ग्रन्थ में किया है और भट्टाकलंक का अनुमित समय विक्रम की आठवीं शती का उतरार्ध और नवम शतक का पूर्वार्ध ठीक जान पड़ता है, इस परिस्थिति में देवनन्दि का समय उसके पूर्व विक्रम के अष्टम शतक का उत्तरार्द्ध हो तो आपत्ति नहीं, श्वेताम्बर परम्परा के युग प्रधान आचार्य श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अपने विशेषावश्यक भाष्य में दिगम्बर परम्परा का सविस्तार खण्डन किया है, उसके पहले श्वेताम्बर आगमों को पुस्तकारूढ़ होकर अन्तिम स्वरूप प्राप्त करने तक के समय में अर्थात् विक्रम के शष्ठ शतक के प्रथम चरण तक श्वेताम्बर आगमों में दिगम्बरों के विरुद्ध कोई उल्लेख नहीं मिलता, इस समय के बाद के भाष्यों में खासकर विशेषावश्यक भाष्य में दिगम्बर मान्यता का खण्डन का श्री गणेश हुआ है, उधर दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ "सर्वार्थसिद्धि" नाम की तत्वार्थ टीका में केवली को कवल-आहार मानने वालों को सांशयिक मिथ्यादृष्टि कहने का प्रारंभ हुआ, आश्चर्य नहीं है कि सर्वार्थ सिद्धकार देवनन्दि हो या अन्य कोई दिगम्बराचार्य, परन्तु उनका समय आचार्य जिनभद्रगणि के सहज पूर्ववर्ती होना चाहिए, आचार्य जिनभद्रगणि का समय विक्रम की सप्तम शती का मध्यभाग माना जाता है, जिनभद्र ने विशेषावश्यक में दिगम्बरों के विरुद्ध जो आक्रमण किया है, उससे तो यही प्रतीत होता है कि केवली को कवलाहार मानने वाले श्वेताम्बर तथा यापनीय जैन संघों को मिथ्यादृष्टि होने का उल्लेख करने वाला 'सर्वार्थ सिद्धिकार' दिगम्बर

विद्वान् उनका समकालीन ही होना चाहिए देवनन्दि के सत्ता समय के सम्बन्ध में थोड़ा सा ऊहापोह करने के बाद, अब हम जैनेन्द्र व्याकरण के कर्तृत्व के विषय में कुछ लिखेंगे।

चौदहवीं शती के वैष्णव कवि वोपदेव के—

"इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्न्यापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥"

इस श्लोक के आचार्य इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न आपिशलि शाकटायन, पाणिनी, अमर और जैनेन्द्र इनको आदि वैयाकरण कह है, परन्तु इस मान्यता में, विशेष तथ्य नहीं, एक तो उक्त श्लोक के निर्माता "वोपदेव" अर्वाचीन व्यक्ति हैं, दूसरा इनके बताये हुए आठ आदि वैयाकरणों का प्राचीन प्रमाणों से समर्थन नहीं होता, आठ आदि वैयाकरणों में से पहले "इन्द्राचार्य" का नाम अमोघ कालीन शाकटायन व्याकरण में तथा नवमी शताब्दी में सन्दर्भित हुए "महानिशीथ" नामक श्वेताम्बर जैन परम्परा मान्य सूत्र में उपलब्ध होता है, इन दो ग्रन्थों के पूर्ववर्ती किसी भी जैन जैनेतर ग्रन्थ में में "इन्द्राचार्य" के व्याकरणकार होने का उल्लेख हुआ हो ऐसा हमारे ध्यान में नहीं है।

"चन्द्र व्याकरण" के कर्त्ता बौद्ध आचार्य 'चन्द्रगोमी' माने जाते हैं, जिनका समय कतिपय विद्वान् षष्ठी सदी और कोई कोई अष्टमी नवमी का मध्यभाग बताते हैं, वास्तव में चन्द्र व्याकरणकार चन्द्रगोमी है या अन्त कोई चन्द्राचार्य यह निश्चित नहीं, यदि मान भी लिया जाय कि चन्द्रव्याकरण के कर्त्ता चन्द्रगोमी थे, तो भी इनको आदि वैयाकरण कहना ठीक नहीं।

काशकृत्स्न आपिशलि ये आदि वैयाकरण कहने योग्य अवश्य हैं, क्यों कि पाणिनीय के वार्तिकों में तथा पातञ्जल महाभाष्य में इनका अनेक स्थानों में नामोल्लेख हुआ है, शाकटायन की चिन्तामणि वृत्ति में भी पाणिनि, काशकृत्स्न, आपिशलि आदि के नामों

का अनेक बार निर्देश हुआ है, कतिपय विचारकों ने तो काशकृत्स्न, आपिशलि का पाणिनि के पूर्वगामी होना बताया है।

शाकटायन के सम्बन्ध में तो पहले कह आये हैं कि ये शाकटायन, पाणिनि तथा यास्काचार्य के पूर्वगामी थे, जिनका नाम निर्देश पाणिनीय अष्टाध्यायी में तथा यास्कभाष्य में मिलता है।

पाणिनि सर्व प्रसिद्ध पाणिनीय व्याकरण के कर्त्ता थे, इस विषय में तो कुछ कहना ही नहीं, इनके सत्ता समय के सम्बन्ध में विद्वानों की प्राथमिक मान्यता थी कि पाणिनि ईसा के पूर्व की अष्टमी शती के वैयाकरण थे परन्तु बाद में इस मान्यता का परिमार्जन हुआ, आजकल इतिहासज्ञ विद्वान् पाणिनि को ईसा के पूर्व की षष्ठ शती में नन्द राज्य काल में हुआ मानते हैं।

अमर नामक यों तो अनेक आचार्य तथा कवि हो गये हैं, परन्तु यहां पर व्याकरणकारों की पंक्ति में अमर को बैठाया है, वह अमर प्रसिद्ध "अमर कोशकार" अमरसिंह ही हो सकते हैं, ये अमरसिंह विक्रम की पांचवीं शताब्दी के विद्वान् हैं ऐसा संशोधकों ने अनुमान किया है, परन्तु ये अमर व्याकरणकार थे इस मन्तव्य का किसी प्राचीन प्रमाण से समर्थन नहीं होता है।

पण्डित बोपदेव के उक्त श्लोकोक्त आदिशाब्दिकों का आठवां नम्बर "जैनेन्द्र" का है, परन्तु श्लोक में जैनेन्द्र शब्द प्रयुक्त हुआ है जो जिनेन्द्र की कृति को सूचित करता है, इस क्रम भंग से बोपदेव ने अपनी कमजोरी सूचित की है, कुछ भी हो, श्लोक में अन्तिम नाम वाला व्याकरण अथवा वैयाकरण शब्द अर्वाचीन है, यह तो निश्चित है, परन्तु यह अर्वाचीनता किस सीमा तक पहुंचती है, इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

श्वेताम्बर परम्परा की प्राचीन चूर्णियों तथा प्रकरण ग्रन्थों में जैनेन्द्र व्याकरण का कहीं नाम निर्देश नहीं मिलता, मध्यकालीन सूत्रों की संस्कृत टीकाओं में तथा चरित्रों में भी जहां जहां व्याकरणों के नाम-निर्देश आये हैं अथवा टीकाकारों ने पद सिद्धि के

निमित्त व्याकरण के सूत्रों को उद्धृत किया है उनमें भी जैनेन्द्र का नाम तो क्या उसका सूत्रोद्धरण भी दृष्टिगोचर नहीं होता, कल्पसूत्रों की टीकाओं तथा कल्पान्तर्वाच्य टिप्पणों में जहां भगवान् महावीर का लेखशाला गमन का प्रसंग आया है, वहां ग्रंथकारों ने प्राचीन मध्यकालीन अनेक व्याकरणों की नामावलियां दी हैं, उनमें भी जैनेन्द्र का नाम निर्देश नहीं मिलता, आचार्य बुद्धिसागर, हेमचन्द्र, मलयगिरि के व्याकरणों के नामों को कल्पान्तर्वाच्यों में स्थान मिला, परंतु श्वेताम्बर साहित्य के १४ वीं शताब्दी तक के किसी ग्रन्थ में जैनेन्द्र का नामोल्लेख नहीं हुआ, ठेठ १६ वीं तथा १७ वीं शती की कल्प-टीकाओं में जैनेन्द्र व्याकरण का नाम सर्वत्र मिलता है, यह तो हुई श्वेताम्बर साहित्य के ग्रंथों में जैनेन्द्र व्याकरण के नामोल्लेख की बात। अब हम दिगम्बर परम्परा के प्राचीन तथा मध्यकालीन साहित्य में जैनेन्द्र-व्याकरण के सम्बंध में क्या प्रमाण उपलब्ध होते हैं, इस पर विचार करेंगे।

दिगम्बर परम्परा के प्राचीनतर चूर्णी सूत्रों में भट्टारक वीरसेन निर्मित "षट्खण्डागम" की "धवला टीका" और "कषाय पाहुड" की "जयधवला टीका" जितनी भी मुद्रित होकर प्रकाशित हुई है, उन्हें हमने पढ़ा है, परंतु "जैनेन्द्र व्याकरण" का नाम निर्देश नहीं मिला। प्रस्तुत परम्परा के हजारों शिलालेखों तथा प्रशस्ति लेखों में भी विक्रम सं० ११७६ में उत्कीर्ण एक प्रशस्ति में 'जैनेन्द्र' नाम मिला है, इसके पूर्वतन किसी भी शिलालेख या प्रशस्ति में पूज्यपाद के जैनेन्द्र व्याकरण का उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं हुआ। आचार्य भट्टाकलंक देव के "सिद्धि विनिश्चय" ग्रंथ के टीकाकार अनन्तवीर्य तथा "न्याय विनिश्चय" के टीकाकार वादीराज सूरि ने अपनी टीकाओं में कहीं कहीं व्याकरण सूत्रों के उद्धरण दिये हैं, परंतु वे उद्धरण भी "पाणिनीय" तथा "शाकटायन व्याकरण" के सूत्रों से अधिक मेल जोल रखते हैं। इससे हमारी मान्यतानुसार विक्रम की ११ वीं शती तक दिगम्बर परम्परा में भी "जैनेन्द्र व्याकरण" का प्रचार नहीं हुआ था। दिगम्बर विद्वानों की मान्यतानुसार यह व्याकरण

देवनन्दि कृत होता और उसके निर्माण का समय छठी सदी होता तो इस पर प्राचीन टीकाएं तथा न्यास अथवा महावृत्ति भी अवश्य होती, परंतु ऐसा कुछ भी नहीं। १६ वीं सदी के एक भट्टारकजी ने अपने शिलालेख में "जैनेन्द्र" पर आचार्य "प्रभाचंद्र" का न्यास होने की बात कही है, परंतु इस बात को दतंकथा से अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता, क्योंकि पद्रंहवीं शती तक के किसी शिला-लेख या ग्रंथ प्रशस्ति में जैनेन्द्र पर प्रभाचन्द्र के न्यास होने की बात नहीं लिखी, तब १६ वीं शताब्दी के भट्टारक जी "न्यास" होने की बात कैसे कह सकते हैं, हमारी राय में तो यह कथन कपोल कल्पना अथवा स्वप्न दर्शन से अधिक महत्त्व नहीं रखता, इन सभी बातों का पर्यालोचन करने के उपरांत यही मत स्थिर हुआ है, कि जैनेन्द्र व्याकरण का निर्माण ११ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध अथवा बारहवीं सदी के पूर्वार्ध में होना चाहिए।

आचार्य देवनन्दी भट्टाकलंक के पूर्वगामी थे, यह बात पहले कह आए हैं, इस स्थिति में प्रश्न हो सकता है कि ११ वीं १२ वीं शती के मध्य में निर्मित जैनेन्द्र "महावृत्ति" "शब्दार्णव चन्द्रिका" के पढ़ने तथा अवलोकन से हमने जो निष्कर्ष निकाला है, वह यह है कि "जैनेन्द्र व्याकरण" का निर्माण महावृत्तिकार अभयनन्दि और उसके विद्वान् सहायकों के परिश्रम का फल है, हमारे इस निर्णय के अनेक कारण हैं अभयनन्दि ने सर्व प्रथम पाणिनीय व्याकरण का सम्पूर्ण अनुकरण किया था और उसमें पाणिनीय लिखित स्वर सम्बन्धी सूत्रों को भी जैनेन्द्र में सम्मिलित किया था, उनका मानना था कि इस प्रकार का व्याकरण तैयार करने से स्वर संकेतों के कारण ब्राह्मण समाज भी इसको पसन्द कर लेगा, परन्तु उनकी धारणा निष्फल हुई, ब्राह्मण तो क्या जैन समाज ने भी उचित आदर नहीं किया। उन्होंने समझ लिया कि व्याकरण के लोकप्रिय न बनने का कारण स्वर सम्बन्धी सूत्र हैं, इस कारण उन्होंने "सर्व प्रथम आदर्श" को यों ही रखकर नवीन रूप में जिनेन्द्र का निर्माण शुरू किया। स्वर सम्बन्धी सूत्रों को ही अपने व्याकरण में से नहीं निकाला;

बल्कि अन्य भी सैकड़ों सूत्र मूल में से निकालकर महावृत्ति में वार्तिकों के रूप में लेने का ठान कर मूल सूत्रों को पांच अध्यायों में विभक्त कर उन पर महावृत्ति बनाना शुरू किया, जिन स्थानों से मूल सूत्र कम किये थे, वहां सर्वत्र वृत्ति में वार्त्तिक रख कर उनकी पूर्ति की, इस प्रकार की योजना करने का उनका विचार इस कारण से हुआ कि इस प्रकार से बना हुआ "शब्दानुशासन" देवनन्दि निर्मित मान लिया जायगा, वार्तिक अन्य किसी विद्वान् के नाम चढा दिए जाएंगे और पातञ्जल महाभाष्य का अनुकरण करके महावृत्ति स्वयं बना देंगे, पाणिनीय सूत्रों परके कात्यायन के वार्तिकों की तरह जैनेन्द्र के वार्तिकों का कर्त्ता किस को बताना इस बात की समस्या का हल करना अभयनन्दि के लिए कठिन हो गया यदि वर्तमान कालीन विद्वान् का नाम बता देते हैं तो वार्तिक तथा मूल व्याकरण के प्राचीन पुस्तक मूलादर्श दिखाने की मांग करने पर दिखाने की कठिनता उपस्थित होगी। इन उलझनों से बचने के लिए अभयनन्दि ने मूल शब्दानुशासन में देवनन्दि का और वार्त्तिकों में अन्य किसी विद्वान् विशेष का कर्ता के रूप में नाम लिखना ही छोड़ दिया, महावृत्ति के मंगलाचरण के एक श्लोक में प्रयुक्त "देवनन्दित-पूजेशे नमस्तस्मै स्वयम्भुवे" इस श्लोकार्थ के स्वाभाविक अर्थ से तो टीकाकार ने परमात्मा को ही नमस्कार किया है, परन्तु "देव-नन्दित" इन शब्दों के साथ आये हुए "देवनन्दि" इन चार अक्षरों से आजकल के विद्वान् इसके कर्त्ता को "देवनन्दि" मानते हैं, परन्तु अभयनन्दि के पास देदनन्दि निर्मित व्याकरण होता तो अपनी कृति में देवनन्दी को स्पष्ट रूप से नमस्कार क्यों नहीं करते? सच बात तो यह है कि देवनन्दि को कर्त्ता मानने पर, उन पर प्राचीन पुस्तक दिखाने का उत्तरदायित्व आता था, जिसे टालने के लिए उन्हें उक्त प्रकार का द्राविड़ प्राणायाम करना पड़ा।

अभयनन्दि ने यद्यपि पाणिनीय व्याकरण का अनुकरण नहीं छोड़ा, फिर भी उनके मन में जैनेतर विद्वानों पर अरुचि आ ही गई थी, यही कारण है कि उन्होंने शाकटायन की तरह केवल

ब्राह्मणों में प्रचलित कई शब्दों को सिद्ध करने का विचार ही छोड़ दिया था, इतना ही नहीं महावृत्ति के अन्त में पाणिनि तक को भला बुरा कहने से नहीं हिचकिचाये तो जैनेतर व्याकरणों के धुरन्धर कर्त्ताओं का नामोल्लेख तो करते ही कैसे ? पाणिनि ने अपने सूत्रों में अनेक वैदिक ऋषियों के मतों के साथ नामोल्लेख किये हैं, उसी का अनुकरण करके अभयनन्दि ने भी जैनेन्द्र व्याकरण में ५-६ जैन आचार्यों का नाम निर्देश किया है, जो सरासर कल्पित है, इनके उल्लिखित नाम वाले कुछ नाम तो कल्पित मात्र हैं, तब कतिपय नामधारी आचार्य पूर्वकाल में हो भी गये हैं तो वे वैयाकरण होने के कोई प्रमाण नहीं हैं।

कलाप व्याकरण (कातन्त्र-व्याकरण)

दुर्गसिंह—वृत्तिकार

"देवदेवं प्रणम्यादौ, सर्वज्ञं सर्वदर्शिनम् ।
कातन्त्रस्य प्रवक्ष्यामि, व्याख्यानं शार्ववर्मिकम् ॥१॥

(१) सन्धि पञ्चक—

प्रथम	पाद	के	सूत्र	२३
द्वितीय	,,	,,	,,	१८
तृतीय	पाद	,,	,,	४
चतुर्थ	,,	,,	,,	१४
पंचम	,,	,,	,,	१८
सर्व	सन्धि		सूत्र	७७

पांच पाद में सन्धि प्रकरण पूरा किया है ।

(२) नाम्नि चतुष्टय—

प्र०	पा०	सूत्र	७७
द्वि०	,,	,,	६५
तृ०	,,	,,	६४
च०	,,	,,	५२
समास पाद	,,	,,	२६
तद्धित पाद	,,	,,	५०

इसी पाद में रत्नेश्वर चक्रवर्ती ने राजादि गण की नये ढंग से व्याख्या की है, जिसमें ५६ सूत्र स्वयं के हैं, तथा मूल सूत्र ४१ वें की वृत्ति से वृत्ति प्रारम्भ की है और ४२ के पूर्व समाप्त की है । इस नाम्नि चतुष्टय में चार पाद हैं, तथा विषय, दो हैं, समास तथा तद्धित । एवं कुल ६ पाद हैं और सूत्र ३३१ हैं ।

(३) आख्यात-प्रकरण—

प्र०	पा०	सूत्र	३४
द्वि०	,,	,,	४७
तृ०	,,	,,	४२
च०	,,	,,	६३
पं०	,,	,,	४८
ष०	,,	,,	१०२
स०	,,	,,	३८
अ०	,,	,,	३५

सर्व मिलकर ४३९ आख्यात प्रकरण के सूत्र हैं।

(४) अथ कृत् प्रकरण—

प्रारम्भ का श्लोक—

"वृक्षादिवदमी रूढ़ाः, कृतिना न कृताः कृतः।
कात्यायनेन ते सृष्टा, विबुद्धिप्रतिबुद्धये ॥१॥"

प्र०	पा०	सूत्र	८४
द्वि०	पा०	सूत्र	६६
तृ०	,,	,,	९५
च०	,,	,,	७२
पं०	,,	,,	११३
ष०	,,	,,	११६

कृदन्त के ६ पादों के सर्व मिलकर ५४६ सूत्र हैं।

पृ० ८५—"तैसृकाणामाच्छादनानां न संप्रति उपभोगकालः। शब्द प्रादुर्भावेऽपि। इति पाणिनि। तत्पाणिनि।

० ९७—

"जातौ तु हस्त-दन्ताभ्यां, कराच्चैव इनेव हि।
हस्ती दन्ती करी ज्ञेयो, वर्णादिन् ब्रह्मचारिणि ॥२॥

स्युर्ब्रह्मचरणाद्धेतोर्वर्णिनो ब्राह्मणास्त्रयः ।
ब्रह्मचर्य्यं विनापि स्युः, सम्भवाद् ब्राह्मणा इति ॥३॥"

पृ० १०६–

"प्रणम्य रुद्रस्य हरेर्भवान्या, वाण्या गणेशस्य च पाद पद्मम् ।
तनोति रत्नेश्वरचक्रवर्ती, राजादिवृत्तिं पठतां हिताय ॥१॥"

कातन्त्र व्याकरण, जैन समाज में चिरकाल से पाठ्य व्याकरण माना जा रहा था, खासकर जैन साधु इसका अध्ययन भी करते थे, चौदहवीं शताब्दी के अंचल गच्छीय मेरुतुङ्ग सूरि ने तत्कालीन गुर्जर भाषा में इस पर टीका बनाई थी, जो आज भी एक दो जैन भण्डारों में उपलब्ध होती है, इससे ज्ञात होता है कि इस पर जैनाचार्यों ने संस्कृत टीकायें भी बनायी होंगी, परन्तु इसकी दौर्गसिंही वृत्ति के सिवा अन्य संस्कृत टीका हमने नहीं देखी ।

इसवी सन् १८८४ में कलकत्ता में पं० जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य द्वारा प्रकाशित कातन्त्र की पुस्तक इस समय हमारे सामने है, यह दुर्गसिंह कृत वृत्ति के साथ मुद्रित हुई है । इसको कर्त्ता ने मुख्य चार विभागों में विभक्त किया है,—सन्धि, नाम, आख्यात, कृदन्त इस विभाग में कुल ६ पाद और सम्मिलित सूत्र ३३६ है । संधि विभाग में पांच पाद और ७७ सूत्र हैं । नाम विभाग में विभक्ति स्त्री प्रत्यय, समास, तद्धित इस विभाग में कुल ६ पाद और संमिलित ३३६ सूत्र हैं । इस विभाग के छठे पाद के अन्तर्गत ४१ सूत्र की वृत्ति के वाद ४२ के पहले, रत्नेश्वर चक्रवर्ती कृत राजादि गण का ससूत्र विवरण दिया गया है, इस विवरण में दिए गए राजादि गणों की संख्या ५९ है । तीसरे आख्यात विभाग के सात पाद हैं और कुल सूत्र संख्या ४३९ है । इस व्याकरण का चतुर्थ विभाग कृदन्त विषयक है, इस विभाग के आठ पाद हैं, जिन की सूत्र संख्या ५४६ है, यह व्याकरण प्रारम्भ से ही अल्प परिमाण में था, इसके "कातन्त्र" नाम से भी यह ग्रन्थ छोटा था । "का" शब्द अल्प वाचक है, यहां, इसका नामार्थ "अल्प तन्त्र" यही होता

है, वर्तमान ग्रन्थ का कलेवर भी मौलिक रूप में हो ऐसा प्रतीत नहीं होता, रत्नेश्वरकृत राजादिगण तो भिन्न प्रतीत होता ही है, पर कृदन्त के आद्य सूत्र की व्याख्या के एक उल्लेख से यह भी ज्ञात होता है कि वर्तमान तद्धित प्रकरण भी अन्य कर्तृक है, इससे आचार्य हेमचन्द्र के "सिद्धहैम शब्दानुशासन" की प्रशंसा के पद्य में आया हुआ "कातन्त्र कन्थावृथा" यह वाक्यखंड बिलकुल ठीक है, कातन्त्र सचमुच भिन्न भिन्न विद्वानों की कृतियों द्वारा बनी हुई एक गुदड़ी ही है और इससे इसकी अतिप्राचीनता स्वयं सिद्ध हो जाती है, आचार्य दुर्गसिंह ने अपनी वृत्ति के प्रारम्भ में "वक्ष्ये व्याख्यानं शार्ववर्मिकम्" इस लेख से यह तो स्पष्ट कर दिया है कि इस व्याकरण पर इनके समय में शर्ववर्म कृत कोई विशिष्ट व्याख्यान होगा कि जिसके आधार पर इन्होंने अपनी वृत्ति निर्माण की है, कातन्त्र का दूसरा नाम "कलाप" व्याकरण भी प्रसिद्ध है, इस नाम का कारण इसका विभाग "चतुष्टय" ही हो सकता है। कातन्त्र व्याकरण की परिभाषाएं बहुत प्राचीन ज्ञात होती हैं, जिनका अनुसरण आचार्य हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन में किया है, यद्यपि पाल्यकीर्ति का शाकटायन तथा "देवनन्दि" का माना जाने वाला "जैनेन्द्र व्याकरण" कातन्त्र की परिभाषाओं के साथ साम्य नहीं रखते, फ़िर भी इन तीनों व्याकरणों को पढ़ने के बाद हमारे मन पर जो छाप पड़ी है वह यह है कि कातन्त्र के बाद शाकटायन और शाकटायन के बाद वर्तमान जैनेन्द्र व्याकरण की रचना हुई है। इस विषय पर विशेष विवेचन यहाँ न कर भविष्य पर छोड़ते हैं।

कातन्त्र व्याकरण के किसी मूल सूत्र में अन्य व्याकरणकार के नाम तथा मत का निर्देश नहीं है, वृत्तिकार दुर्गसिंह ने इस वृत्ति में पाणिनि, कात्यायन, रत्नेश्वर का नामोल्लेख किया है और तीन स्थानों पर "गणकार" इस नाम से किसी अनिर्दिष्ट ग्रन्थकार का नाम सूचन किया है।

चान्द्रव्याकरण (पूर्वार्ध)

कर्ता—आचार्य चन्द्रगोमी

चान्द्र व्याकरण का पूर्वार्ध अर्थात् तीन अध्याय इस समय हमारे सामने हैं, इसका प्रारम्भ-मंगलाचरण इस प्रकार है—

"सिद्धं प्रणम्य सर्वज्ञं, सर्वीयं जगतो गुरुम् ।
लघु-विस्पष्ट-सम्पूर्ण-मुच्यते शब्दलक्षणम् ॥१॥

उपर्युक्त मंगलाचरण से ग्रन्थ कर्त्ता बौद्ध अथवा जैन सम्प्रदाय को मानने वाला ज्ञात होता है, प्रस्तुत तीन अध्यायों के सूत्रों तथा वृत्ति में लेखक (ग्रन्थ कर्त्ता) ने ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया जिससे कि उसकी बौद्ध-सम्प्रदायिकता ज्ञात हो सके। फिर भी उसके तृतीय अध्याय के चौथे पाद के "लालाटिक-कौक्कुटिकौ ४४" इस सूत्र की वृत्ति में ग्रन्थकार ने अपने आपको प्रकट कर ही दिया है, इसकी व्याख्या निम्न प्रकार से करते हैं—

कुक्कुटीशब्देनं कुक्कुटीपातो लक्ष्यते, तेन देशस्याल्पता, योऽपि भिक्षुरविक्षिप्तदृष्टिः पादविक्षेपदेशे चक्षुः संयम्य गच्छति स कौक्कुटिकः। योऽपि वा तथाविधमात्मानं सन्दर्शयति (स) कौक्कुटिकः। कुक्कुटीति दाम्भिकानां चेष्टोच्यते, तामाचरति कौक्कुटिकः।"

अर्थात्—कुक्कुटी शब्द से यहाँ कुक्कुटी के पाद विन्यास को समझना चाहिए, जिससे पाद विन्यास भूमि की अल्पता सूचित हो, तात्पर्य यह है, जो भिक्षुः स्थिरदृष्टि होकर गमन मार्ग में अपनी दृष्टि को नियन्त्रित रखता हुआ चले, वह "कौक्कुटिक" याने दम्भी है। यह सूत्र व्याख्या युग परिमित पथ-मार्ग में दृष्टि रखते हुए ईर्यापथशोधनतत्पर जैन श्रमण को लक्ष्य बनाकर की गई है,

इसमें कोई शंका नहीं, इससे स्पष्ट हो जाता है कि "चन्द्र व्याकरण" का कर्त्ता जैन श्रमणों को दाम्भिक मानने वाला बौद्ध विद्वान् था।

चन्द्रव्याकरण के कर्त्ता आचार्य चन्द्रगोमी के सत्ता समय के बारे में विद्वानों की अनेक कल्पनाएँ हैं, कोई इसे विक्रम का पूर्वगामी मानते हैं, तब कोई इसे विक्रम की छठवीं शती के प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान "आचार्य धर्मकीर्ति" का शिष्य मानते हैं। परन्तु हमारे विचार में "चान्द्र व्याकरण" इतनी प्राचीन कृति नहीं है, "पातञ्जल महाभाष्य" में उनके पुरोगामी आपिशलि, काशकृत्स्न, कात्यायन आदि अनेक प्रसिद्ध वैयाकरणों के नाम निर्दिष्ट हुए हैं। परन्तु "चान्द्र" का कहीं उल्लेख तक नहीं, प्रत्युत चान्द्रकार ने पातञ्जल महाभाष्य का उपजीवन किया है, इस परिस्थिति में व्याकरणकार चन्द्रगोमी को विक्रम के पूर्व हजार वर्ष पर हुआ मानना यह केवल कल्पना मात्र है।

उपलब्ध चान्द्र व्याकरण की वृत्ति में अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जो कि चान्द्र की वृत्ति के कर्त्ता को विक्रम की नवम शताब्दी तक खींच लाते हैं।

प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद के "साधोः" इस ५७ वें सूत्र की वृत्ति में—

"ब्रह्मणो वादः ब्रह्मवादः सोऽस्यास्तीति ब्रह्मवादी" एक वचनान्त शब्द विन्यास से आभास मिलता है कि चान्द्र वृत्तिकार शंकराचार्य के ब्रह्मवादी दर्शन के समकालीन अथवा परवर्ती होने चाहिए, यद्यपि महाभाष्य में "ब्रह्मवादः तथा ब्रह्मवादिनों" इत्यादि शब्दप्रयोग मिलते हैं, परन्तु भाष्य के ये दो शब्द किसी दर्शन विशेष के प्रवर्तक को सूचित नहीं करते, किन्तु उनके समय में भिन्न भिन्न उपनिषदों में आने वाले "ब्रह्म" शब्द की चर्चा करने वाले ऋषियों का सूचन करते हैं। तब चान्द्र वृत्तिकार का "ब्रह्मवादी" यह शब्द ब्रह्मवाद को व्यवस्थित कर उसकी भित्ति पर एक दर्शन की सृष्टि करने वाली व्यक्ति की सूचना करता है। वह व्यक्ति

हमारी राय में वेदान्त दर्शन के प्रवर्तक "शंकराचार्य" ही हो सकते हैं। यदि हमारा यह अनुमान ठीक हो तो चान्द्र व्याकरण के कर्त्ता चन्द्रगोमी का सत्ता-समय विक्रमीय अष्टम शती के बाद का सिद्ध होता है।

प्रथम अध्याय के दूसरे पाद के ८१ वें सूत्र की वृत्ति में वृत्तिकार ने "अजयज्जर्तो हूणानिति" जर्त्त द्वारा हूणों की पराजय का उदाहरण दिया है, हूणों को जीतने वाला जर्त्त कौन था, ज्ञात नहीं हुआ, परन्तु भारत में हूणों की पराजय अष्टम शती में हुई थी, यह इतिहास से सिद्ध होता है और इससे यदि चान्द्रव्याकरण की मुद्रित वृत्ति स्वोपज्ञ है, तो चान्द्र के कर्त्ता "चन्द्रगोमी" भी विक्रम की अष्टम शती के पहले के नहीं हो सकते।

चान्द्र का निर्माण प्रदेश कतिपय विद्वान् बंगाल को मानते हैं, इसमें खास आपत्ति जैसी बात तो नहीं दिखती, फिर भी इसमें कतिपय उल्लेख ऐसे मिलते हैं, कि जिनसे इसका निर्माण स्थान बंगाल की अपेक्षा से विहार को मानना विशेष युक्तियुक्त मालूम होता है, जिस प्रदेश में यह व्याकरण रचा गया है, उस देश में उस समय महिना पूर्णिमान्त माना जाता था,—"सास्य पौर्णमासी ३।१।१८" इस सूत्र से तथा "पूर्णो मा अस्यामिति-निर्वचनादत एव निपातनादण्। मासश्रुतेश्च न पञ्चरात्रौविधिः" इस वृत्ति के कथन से चान्द्र के निर्माण स्थल में पूर्णिमान्त चान्द्र मास माना जाता था, वंगाल में आजकल सौरमास माना जाता है। यह मान्यता कितनी प्राचीन है, इसका निश्चय करना तो कठिन है, फिर भी चन्द्रगोमी के समय में सौरमास की मान्यता वंगाल में चलती हो तो असंभव नहीं, कुछ भी हो इसके वृत्तिकार जितने मगध से परिचित थे, उतने वंगाल से नहीं, मगध के अनेक स्थानों के नाम निर्देश ही नहीं उनके एक दूसरे के बीच की दूरी तक का भी परिचय दिया है, इन वातों से हमारे मत से तो इस व्याकरण का निर्माण क्षेत्र पाटलीपुत्र अथवा राजगृह होना चाहिए, ऐसा निश्चित है।

चान्द्र व्याकरण पाणिनीय अष्टाध्यायी के आधार से निश्चित रूप से बना है, कतिपय पाणिनीय सूत्र ज्यों के त्यों इसमें उपलब्ध होते हैं, अधिकांश सूत्रों को परिवर्तित रूप में ग्रहण किया है, तब कतिपय सूत्र छोड़ दिए गए हैं, परन्तु उनसे सिद्ध होने वाले, शब्दों को आकृति गणों में मिला दिया है और वृत्ति में अनेक स्थानों पर पाणिनि का बहुमान सूचक नाम निर्देश किया है। इससे ज्ञात होता है कि पाणिनीय व्याकरण विशेष विस्तृत होने के कारण उसी के आधार पर कर्त्ता ने यह संक्षिप्त व्याकरण रचा है, इसके कुल अध्याय कितने थे, इसका निश्चय तो नहीं है, फिर भी कोई कोई विद्वान् इसके आठ अध्याय होने का अनुमान करते हैं, परन्तु अन्तिम दो अध्याय कहीं भी उपलब्ध नहीं होते, वर्तमान समय में इसके छः अध्याय विद्यमान हैं। जिनमें से प्राथमिक तीन अध्याय मुद्रित भी हो गए हैं।

पाणिनि की तरह चन्द्र ने अपने मूल सूत्रों में किसी भी अन्य वैयाकरण का नामोल्लेख नहीं किया, किन्तु इसकी वृत्ति में कतिपय प्राचीन वैयाकरणों के नाम दृष्टिगोचर अवश्य होते हैं। काशकृत्स्न का व्याकरण कितने अध्यायों में समाप्त हुआ है, इसका सूचन करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं—"त्रिकाः काश कृत्स्नाः" अर्थात् काशकृत्स्न के अनुयायी तीन अध्यायों का व्याकरण पढ़ते हैं।

सिद्धहेमशब्दानुशासन

आचार्य हेमचन्द्र

उपर्युक्त कृति आचार्य हेमचन्द्र की मौलिक कृति है, अपने पूर्ववर्ती पाणिन्यादि कृत प्राचीन व्याकरण शास्त्रों का अवगाहन कर सरलतया सीखा जा सके, ऐसा यह व्याकरण है, इसकी परिभाषाएं "कातन्त्र व्याकरण" अर्थात् कलापक व्याकरण से मिलती जुलती हैं, इतना ही नहीं अन्यान्य प्रकरण भी कातन्त्र की शैली पर रचे गए हैं, फिर भी यह व्याकरण कातन्त्र सा संक्षिप्त नहीं है, पाणिनीय अष्टाध्यायी के ऊपर स्वर विषयक और श्रुति विषयक सूत्रों को छोड़ कर शेष सभी विषयों के सूत्र इसमें उपलब्ध होते हैं, पाणिनि का "वर्णाद्ब्रह्मचारिणि" "वैशारिणो मत्स्ये" इत्यादि अल्पव्यापक विषय वाले सूत्रों को भी अपनी अष्टाध्यायी में स्थान देने में संकोच नहीं किया।

"सिद्ध-हेम शब्दानुशासन" पर आचार्य हेमचन्द्र की तीन वृत्तियां हैं, जिनमें पहली "लघुवृत्ति" जिसका मूल नाम "प्रकाशिका" टीका है, यह वृत्ति ६००० श्लोक परिमित है, दूसरी वृहद्वृत्ति इससे तीन गुणे परिमाण की है जो "वृहद्वृत्ति" इस नाम से पहिचानी जाती है, यह १८००० श्लोक-परिमित होने से अष्टादश सहस्री भी कहलाती है, तीसरी महावृत्ति "वृहद्न्यास" के नाम से प्रसिद्ध है, इसका आदि का भाग थोड़ा सा मुद्रित हुआ है, परन्तु सम्पूर्ण महान्यास मिलता नहीं है, महान्यास का श्लोक परिमाण ८४००० हजार बताया जाता है। इस पर एक विद्वान् कृत लघुन्यास भी है, जो वृहद्वृत्ति के साथ छप भी चुका है, इसके अतिरिक्त "लिंगानुशासन" "धातुपाठ" आदि व्याकरण के सभी अंगों का निर्माण कर इस शब्दानुशासन को सम्पूर्ण उपयोगी बना दिया है।

"सिद्ध हेम शब्दानुशासन" आठ अध्यायों में समाप्त हुआ है, प्रथम के ७ अध्यायों में संस्कृत व्याकरण है, तब अष्टम अध्याय के चारों पाद प्राकृत-लक्षण को सम्पूर्ण करते हैं। संस्कृत व्याकरण के कुल सूत्रों की संख्या ३५६६ हैं, जिनकी श्लोक संख्या ७८७ है और अष्टम अध्याय के सूत्रों की संख्या १११९ है, ये सूत्र श्लोक परिमाण में २४४ होते हैं। यह शब्दानुशासन आचार्य हेमचन्द्र ने गुजरात के चक्रवर्त्ती महाराज जयसिंह देव के अनुरोध से बनाया है जो बृहद्वृत्ति के निम्नोद्धृत श्लोक से जाना जाता है—

"तेनातिविस्तृतदुरागमविप्रकीर्ण-शब्दानुशासनसमूहकदर्थितेन।
अभ्यर्थितो निरवमं विधिवद् व्यधत्त, शब्दानुशासनमिदं खलु हेमचन्द्रः।

उपर्युक्त श्लोक से मालूम होता है, कि अन्यान्य व्याकरण शास्त्रों की दुर्बोधता जानने के बाद राजा जयसिंह देव ने आचार्य हेमचन्द्र सूरि को सरल तथा सुगम व्याकरण शास्त्र बनाने की प्रार्थना की और हेमचन्द्र सूरि ने प्रस्तुत व्याकरण का निर्माण किया है।

हेमशब्दानुशासन में स्मृत ग्रन्थकार

इस व्याकरण तथा इसकी वृत्तियों में निम्नलिखित प्राचीन आचार्यों के नामोल्लेख मिलते हैं—१ आपिशलि, २ यास्क, ३ शाकटायन, ४ गार्ग्य, ५ वेदमित्र, ६ शाकल्य, ७ इन्द्र, ८ चन्द्र, ९ शेष भट्टारक, १० पतञ्जलि, ११ वार्त्तिककार, १२ पाणिनि, १३ देवनन्दी, १४ जयादित्य, १५ वामन, १६ विश्रान्तविद्याधरकार १७ विश्रान्तन्यासकार (मल्लवादी सूरि) १८ जैन शाकटायन, १९ दुर्गसिंह, २० श्रुतपाल, २१ भर्तृहरि, २२ क्षीरस्वामी, २३ भोज, २४ नारायण कण्ठी २५ सारसंग्रहकार, २६ द्रमिल २७ शिक्षाकार, २८ उत्पल २९ जयन्तीकार ३० न्यासकार, ३१ पारायणकार।

प्राकृत-लक्षण – कवि चंड कृत

प्राकृत लक्षण के कर्त्ता विद्वान् चण्ड जैन थे, यह बात इनके मंगलाचरण के श्लोक से ज्ञात हो जाती है। यद्यपि लक्षण बहुत ही छोटा ग्रन्थ है, फिर भी इन्होंने जो जो प्राकृत के नियम लिखे हैं वे बहुत प्राचीन कालीन प्राकृत के हैं और दिए गए उदाहरण भी अधिकांश जैन सूत्रों की भाषा के प्रतीत होते हैं, इससे भी यह निश्चित है कि ग्रन्थकार जैन तो थे ही, परन्तु वे सत्ता समय के लिहाज से भी बहुत प्राचीन होने चाहिए।

प्राकृत लक्षण में कुल ९९ निन्यानवें सूत्र हैं, जिनमें सुबन्त के नियम, सन्धि आदि का विवरण दिया है, अन्त में अपभ्रंश, पैशाचिक, मागधी आदि भाषाओं के मौलिक नियम उल्लिखित किये हैं। तिङन्त प्रदेश का नाम निर्देश तक नहीं किया, प्राचीन प्राकृत भाषा का परिचय प्राप्त करने के लिए पुस्तक उपयोगी है।

षड्भाषा-चन्द्रिका—ले० लक्ष्मीधर

षड् भाषाचन्द्रिका प्राकृत भाषाओं का सम्पूर्ण व्याकरण है, यह त्रिविक्रम देव के प्राकृत शब्दानुशासन के सूत्रों को प्रक्रिया के रूप में व्यवस्थित कर बनाया गया है, जिससे पढ़ने वालों को विशेष अनुकूल हो सकता है, त्रिविक्रम देव ने स्वयं षड्भाषा चन्द्रिका को अपने "प्राकृत शब्दानुशासन" की सुबोध विस्तृत टीका बतलाया है, तब चन्द्रिका के कर्त्ता आर्य लक्ष्मीधर स्वयं इसके उपोद्घात में लिखते हैं—

"वृत्तिं त्रैविक्रमीं गूढां, व्याचिख्यासन्ति ये बुधाः।
षड्भाषा चन्द्रिका तैस्तद् व्याख्या रूपा विलोक्यताम् ॥१६॥"
"अपशब्दमहागर्ते, षड्भाषाकृष्णरात्रिषु।
पतन्ति कविशार्दूलाः षड्भाषाचन्द्रिकां विना ॥२१॥

ऊपर के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह षड्भाषा चन्द्रिका त्रिविक्रम देव के प्रा० शब्दानुशासन की विस्तृत वृत्ति है और दोनों ग्रन्थकारों के एक दूसरे के ग्रन्थ का नामोल्लेख करने से दोनों विद्वान् सम-सामयिक थे यह भी निश्चित हो जाता है। त्रिविक्रमदेव ने अपने धर्मगुरु तथा पितृवंश का संक्षिप्त परिचय दिया है, इसी प्रकार लक्ष्मीधर ने भी अपने वंश का थोड़ा सा परिचय दिया है, प्रस्तुत दो में से किसी ने भी ग्रन्थ निर्माण का समय नहीं लिखा, फिर भी इन दोनों ने प्रसिद्ध वैयाकरण आचार्य श्री हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण की सहायता लेने का उल्लेख किया है, इससे सिद्ध है कि ये दोनों ग्रन्थकार आचार्य हेमचन्द्र के परवर्ती हैं यह हमारा अनुमान है, इन ग्रन्थों का निर्माण समय विक्रम की १३ वीं शती का अन्तिम भाग अथवा चौदहवीं शती का प्रारंभ हो सकता है।

"षड्भाषा-चन्द्रिकाकार" ने अपने ग्रन्थ में कुछ ग्रन्थकारों के मतों का निरसन भी किया है जैसे—"षड्भाषारूपमालिकाकार श्रीदुर्गणाचार्येणोक्त चिन्त्यम्" इत्यादि उल्लेखों से ग्रन्थकार के सामने उस वक्त छोटे-मोटे प्राकृत भाषा के निबन्ध होने चाहिए।

दिगम्वर परम्परा के प्रसिद्ध विद्वान् श्रुतसागर सूरि ने भी एक प्राकृत व्याकरण बनाया था, ऐसा "षट् प्राभृत" पर की उनकी टीका से ज्ञात होता है, "षट् प्राभृत" में आये हुए अनेक शब्दों तथा क्रियापदों को श्रुतसागर ने अपने प्राकृत व्याकरण के सूत्र उद्धृत कर लाक्षणिक बतलाने की चेष्टा की है, जब कि वे अलाक्षणिक प्रयोग षड्भाषाचन्द्रिका, त्रिविक्रम देव के प्राकृत शब्दानुशासन और हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण आदि प्राचीन व्याकरणों से लाक्षणिक सिद्ध नहीं होते हैं, इससे हमने यह निश्चित किया कि "षट्प्राभृत की टीका" ही नहीं किन्तु ये "छः प्राभृत" भी श्रुतसागर की खुद की कृति हैं, जो कि आज आचार्य कुन्द-कुन्द की कृति माने जाते हैं।

प्राचीन जैन तीर्थ

लेखक—पं० कल्याण विजय गणि

उपक्रम

पूर्वकाल में "तीर्थ" शब्द मौलिक रूप में "जैन प्रवचन" अथवा "चातुर्वर्ण्य संघ" के अर्थ में प्रयुक्त होता था, ऐसा जैन आगमों से ज्ञात होता है जैन प्रवचन कारक और जैन-संघ के स्थापक होने से ही "जिन-देव" "तीर्थङ्कर" कहलाते हैं।

तीर्थ का शब्दार्थ यहां "नदी समुद्र से वाहर निकलने का सुरक्षित मार्ग" होता है, आज की भाषा में इसे "घाट" कह सकते हैं। जैन शास्त्रों में तीर्थ शब्द की व्युत्पत्ति "तीर्यते संसारसागरो येन तत् तीर्थम्" इस प्रकार की गई है, संसार समुद्र को पार कराने वाले "जिनागम" को और "जैन श्रमण संघ" को "भाव-तीर्थ" वताया गया है, तव नदी-समुद्रों को पार कराने वाले तीर्थों को "द्रव्य-तीर्थ" माना है।

उपर्युक्त तीर्थों के अतिरिक्त जैन आगमों में कुछ और भी तीर्थ माने हैं, जिन्हें पिछले ग्रन्थकारों ने "स्थावर तीर्थों" के नाम से निर्दिष्ट किया है, और वे दर्शन की शुद्धि करने वाले माने गये हैं, इन स्थावर तीर्थों का निर्देश आचाराङ्ग, आवश्यक आदि सूत्रों की निर्युक्तियों में मिलता है, जो मौर्य राज्य से भी प्राचीन ग्रन्थ हैं।

जैन स्थावर तीर्थो में अष्टापद (१) उज्ज्यन्त (गिरनार) (२) गजाग्रपद (३) धर्मचक्र (४) अहिच्छत्रा पार्श्वनाथ (५) रथावर्त पर्वत (६) चमरोत्पात (७) शत्रुंजय (८) सम्मेत-शिखर (९) और मथुरा का देव निर्मित स्तूप (१०) इत्यादि तीर्थों का संक्षिप्त अथवा विस्तृत वर्णन जैन सूत्रों तथा सूत्रों की निर्युक्तियों भाष्यों में मिलता है, अतः इनको हम सूत्रोक्त तीर्थ कहेंगे।

हस्तिनापुर (१), शोरीपुर (२), मथुरा (३), अयोध्या (४), काम्पिल्य (५), बनारस (काशी) (६), श्रावस्ति (७), क्षत्रियकुण्ड (८), मिथिला (९), राजगृह (१०), अपापा (पावापुरी) (११), भद्दिलपुर (१२), चम्पापुरी (१३), कौशाम्बी (१४), रत्नपुर (१५), चन्द्रपुरी (१६), आदि तीर्थंकरों की जन्म, दीक्षा, ज्ञान, निर्वाण की भूमियाँ होने के कारण से ये स्थान भी जैनों के प्राचीन तीर्थ थे परन्तु वर्तमान समय में इनमें से अधिकांश तीर्थ विलुप्त हो चुके हैं, कुछ कल्याणक भूमियों में आज भी छोटे बड़े जिन-मन्दिर बने हुए हैं और यात्रिक लोग दर्शनार्थ जाते भी हैं, परन्तु इनका पुरातन महत्त्व आज नहीं रहा, इन तीर्थों को "कल्याणकभूमियाँ" कहते हैं ।

उक्त तीर्थों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी स्थान जैन तीर्थों के रूप में प्रसिद्धि पाये थे जो कुछ तो आज नामशेष हो चुके हैं और कुछ विद्यमान भी हैं, इनकी संक्षिप्त नाम सूची यह है—प्रभास पाटन-चन्द्रप्रभ (१), स्तम्भ-तीर्थ-स्तम्भनक पार्श्वनाथ (२), भृगुकच्छ-अश्वावबोध-शकुनिकाविहार-मुनिसुव्रत (३), सूर्पारक (नालासोपारा) (४), शंखपुर-शंखेश्वर पार्श्वनाथ (५) चारूप-पार्श्वनाथ (६), तारंगाहिल-अजितनाथ (७), अर्बुदगिरि (आबू-माउन्ट) (८), सत्यपुरीय महावीर (९), स्वर्णगिरि महावीर (जालोर) (१०), करहेटक-पार्श्वनाथ (११), विदिशा (भिल्सा) (१२), नासिक्य-चन्द्रप्रभ (१३), अन्तरीक्ष-पार्श्वनाथ (१४), कुल्पाक-आदिनाथ (१५), खण्डगिरि (भुवनेश्वर) (१६), श्रवण बेलगोल (१७) इत्यादि अनेक जैन प्राचीन तीर्थ प्रसिद्ध हैं, इनमें जो विद्यमान हैं, उनमें कुछ तो मौलिक हैं, तब कतिपय प्राचीन तीर्थों को हम पौराणिक तीर्थ कहते हैं, इनका प्राचीन जैन साहित्य में वर्णन न होने पर भी कल्पों, जैन चरित्रग्रन्थों तथा प्राचीन स्तुति-स्तोत्रों में महिमा गाया गया है ।

उक्त तीन वर्गों में से इस लेख में हम प्रथम वर्ग के सूत्रोक्त जैन तीर्थों का ही संक्षेप में निरूपण करेंगे ।

सूत्रोक्ततीर्थ—

"आचारांग निर्युक्ति" की निम्नलिखित गाथाओं में प्राचीन तीर्थों का नाम निर्देश मिलता है—

"दंसण-नाण-चरित्ते, तववेरग्गे य होइ उ पसत्था।
जाय जहा ताय तहा, लक्खणं वुच्छं सलक्खणओ ॥३२६॥
तित्थगराण भगवओ, पवयण-पावयणि अइसइड्ढीणं।
अभिगमण-नमण-दरिसण-कित्तण-संपूअणाथुणणा ॥३३०॥
जम्माभिसेय-निक्खमण चरण-नाणुप्पया य निव्वाणं।
दियलोअभवण—मंदर—नंदीसर—भोमनगरेसु ॥३३१॥
अट्ठावय-मुज्जिंते, गयग्गपयए य धम्मचक्के य।
पासरहावत्तनगं, चमरुप्पायं च वंदामि ॥३३२॥

अर्थात्—दर्शन, (सम्यक्त्व)-ज्ञान, चारित्र तप, वैराग्य विनय विषयक भावनायें जिन कारणों से शुद्ध बनती हैं, उनको स्वलक्षणों के साथ कहूंगा ॥३२६॥

तीर्थंकर भगवन्तों के, उनके प्रवचन के, प्रवचन-प्रचारक प्रभावक आचार्यों के, केवल, मन पर्यव-अवधिज्ञान-वैक्रियादि अतिशायि लब्धिधारी मुनियों के सन्मुख जाने, नमस्कार करने, उनका दर्शन करने, उनके गुणों का कीर्तन करने, उनकी अन्न वस्त्रादि से पूजा करने से दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वैराग्य, सम्बन्धी गुणों की शुद्धि होती है ॥३३०॥

जन्मकल्याणकस्थान, जन्माभिषेक स्थान, दीक्षास्थान, श्रमणावस्थाकी विहार भूमि, केवल ज्ञानोत्पत्ति का स्थान, निर्वाण-कल्याणक भूमि, देव लोक, असुरादि के भवन, मेरु पर्वत, नन्दीश्वर के चैत्यों और व्यन्तर देवों के भूमिस्थ नगरों में रही हुई जिन प्रतिमाओं को अष्टापद, उज्जयन्त, गजाग्रपद, धर्मचक्र, आहिच्छत्रास्थित-पार्श्वनाथ, रथावर्तपर्वत, चमरोत्पात, इन नामों से प्रसिद्ध जैन तीर्थों में स्थित जिन प्रतिमाओं को मैं वन्दन करता हूं ॥३३१-३३२॥

निर्युक्तिकार भगवान भद्रबाहुस्वामी ने, तीर्थंकर भगवन्तों के जन्म, दीक्षा, विहार, ज्ञानोत्पत्ति निर्वाण आदि के स्थानों को तीर्थ स्वरूप मानकर वहां रहे हुए जिन चैत्यों को वन्दन किया है, यही नहीं, परन्तु राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, स्थानाङ्ग, भगवती आदि सूत्रों में वर्णित देवलोक स्थित, असुर-भवन-स्थित, मेरूस्थित, नन्दीश्वरद्वीपस्थित और व्यन्तर देवों के भूमि-गर्भस्थित नगरों में रहे हुए चैत्यों की शाश्वत जिन प्रतिमाओं को भी वन्दन किया है।

निर्युक्ति की गाथा तीन सौ बत्तीसवीं में निर्युक्तिकार ने तत्कालीन भारत वर्ष में प्रसिद्धि पाये हुए सात अशाश्वत जैन तीर्थों को वन्दन किया है, जिन में से एक को छोड़कर शेष सभी प्राचीन तीर्थ विच्छिन्न प्राय हो चुके हैं, फिर भी शास्त्रों तथा भ्रमण-वृतान्तों में इनका जो वर्णन मिलता है उसके आधार पर इनका यहां संक्षेप में निरूपण किया जायगा।

(१) अष्टापद—

अष्टापद पर्वत ऋषभदेव कालीन अयोध्या से उत्तर की दिशा में अवस्थित था, भगवान् ऋषभदेव जब कभी अयोध्या की तरफ पधारते, तब अष्टापद पर्वत पर ठहरते थे और अयोध्यावासी राजा-प्रजा उनकी धर्म सभा में दर्शन-वन्दनार्थ तथा धर्म श्रवणार्थ जाते थे, परन्तु वर्तमान कालीन अयोध्या के उत्तर दिशा भाग में ऐसा कोई पर्वत आज दृष्टिगोचर नहीं होता जिसे अष्टापद माना जा सके। इसके अनेक कारण ज्ञात होते हैं, पहला तो यह है कि भारत के उत्तरदिग् विभाग में रही हुई पर्वत श्रेणियां उस समय में इतनी ठण्डी और हिमाच्छादित नहीं थी जितनी आज हैं। दूसरा कारण यह है कि अष्टापद पर्वत के शिखर पर भगवान् ऋषभदेव उनके गणधर तथा अन्य शिष्यों का निर्वाण होने के बाद देवताओं ने तीन स्तूप और चक्रवर्ती भरत ने सिंहनिषद्या नामक जिन-चैत्य बनवाकर उसमें चौवीस तीर्थङ्करों की वर्ण तथा मानोपित प्रतिमाएं प्रतिष्ठित करवा के, चैत्य के चारों द्वारों पर लोहमय यान्त्रिक

द्वारपाल स्थापित किये थे। इतना ही नहीं परन्तु पर्वत को चारों ओर से छिलवाकर सामान्य भूमि गोचर मनुष्यों के लिये, शिखर पर पहुंचना अशक्य वनवा दिया था, उसकी ऊँचाई के आठ भाग कर क्रमशः आठ मेखलायें वनवाई थीं और इसी कारण से इस पर्वत का 'अष्टापद' यह नाम प्रचलित हुआ था. भगवान् ऋषभदेव के इस निर्वाणस्थान के दुर्गम वन जाने के वाद, देव, विद्यावर विद्याचारण लव्धिधारी मुनि और जङ्घाचारण मुनियों के सिवाय अन्य कोई भी दर्शनार्थी अष्टापद पर नहीं जा सकता था और इसी कारण से भगवान महावीर स्वामी ने धर्मोपदेश सभा में यह सूचन किया था कि जो मनुष्य अपनी आत्मशक्ति से अष्टापद पर्वत पर पहुंचता है वह इसी भव में संसार से मुक्त होता है।

अष्टापद के अप्राप्य होने का तीसरा कारण यह भी है कि सगर चक्रवर्ती के पुत्रों ने अष्टापद पर्वत स्थित जिन-चैत्य, स्तूप आदि को अपने पूर्वज संवन्धी भरत चक्रवर्ती के स्मारक के चारों तरफ गहरी खाई खुदवाकर उसे गंगा के जल प्रवाह से भरवा दिया था, ऐसा प्राचीन जैन कथा-साहित्य में किया गया वर्णन आज भी उपलव्ध होता है।

उपर्युक्त अनेक कारणों से हमारा अष्टापद तीर्थ के जिसका निर्देश श्रुत केवली भगवान भद्रवाहु स्वामी ने अपनी आचाराङ्ग निर्युक्ति में सर्व प्रथम किया है, हमारे लिए आज अदर्शनीय और लुप्त वन चुका है।

आचाराङ्ग निर्युक्ति के अतिरिक्त आवश्यक-निर्युक्ति की निम्न लिखित गाथाओं से भी अष्टापद तीर्थ का विशेष परिचय मिलता है।

"अह भगवं भवमहणो, पुव्वाणमणूणगं सयसहस्सं।
अणुपुव्विं विहरिऊणं, पत्तो अट्ठावयं शेलं ॥४३३॥
अट्ठावयंमि शेले, चउदसभत्तेण सो महरिसीणं।
दसहिं महस्सेहिं समं, निव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥४३४॥

निव्वाणं १ चिइगागिई, जिणस्स-इक्खाग-सेसयाणं च ।
सकहा ३ थूभ जिणहरे ४ जायग ५ तेणाहिअग्गित्ति ॥४३५॥

तब संसार दुःख का अन्त करने वाले भगवान् ऋषभदेव सम्पूर्ण एक लाख पूर्व वर्षों तक पृथ्वी पर विहार करके अनुक्रम से अष्टापद पर्वत पर पहुंचे। और छः उपवास के तप के अन्त में दस हजार मुनिगण के साथ सर्वोच्च निर्वाण को प्राप्त हुए ॥४३३।४३४॥

भगवान और उनके शिष्यों के निर्वणानन्तर चतुर्निकायों के देवों ने आकर उनके शवों के अग्निसंस्कारार्थ तीन चिताएं बनवाई, एक पूर्व में गोलाकार चिता तीर्थंकर शरीर के दाहार्थ, दक्षिण में त्रिकोणाकार चिता इक्ष्वाकुवंश्य गणधर आदि महा-मुनिओं के शवदाहार्थ और पश्चिम दिशा की तरफ चौकोण चिता शेष श्रमण गण के शरीर संस्कारार्थ बनवाई और तीर्थंकर आदि के शरीर यथास्थान चिताओं पर रखवाकर, अग्निकुमार देवों ने उन्हें अग्निद्वारा सुलगाया, वायुकुमारदेवों ने वायुद्वारा अग्नि को जोश दिया और चर्म मांस के जल जाने पर, मेघ कुमार देवों ने जल-वृष्टि द्वारा चिताओं को ठण्डा किया, तब भगवान् के उपरी बायें जवड़े की शक्रेन्द्र ने, दाहिनी तरफ की ईशानेन्द्र ने तथा निचले जवड़े की बायीं तरफ की चमरेन्द्र ने और दाहिनी तरफ की दाढायें वलीन्द्र ने ग्रहण की। इन्द्रों के अतिरिक्त शेष देवों ने भगवान् के शरीर की अन्य अस्थियां ग्रहण करली तब वहाँ उपस्थित राजादि मनुष्य गण ने तीर्थंकर तथा मुनिओं के शरीरदहन स्थानों की भस्मी को भी पवित्र जानकर ग्रहण कर लिया, चिताओं के स्थानों पर देवों ने तीन स्तूप बनवाये और भरत चक्रवर्ती ने चौबीस तीर्थं-करों की वर्ण-मानोपेत सपरिकर मूर्तियां स्थापित करने योग्य जिन-गृह बनवाये, उस समय जिन मनुष्यों को चिताओं से अस्थि भस्मादि नहीं मिला था, उन्होंने उसकी प्राप्ति के लिए देवों से बड़ी नम्रता के साथ याचना की जिससे इस अवसर्पिणी काल में

"याचक" शब्द प्रचलित हुआ, चिता कुण्डों में अग्नि-चयन करने के कारण तीन कुण्डों में अग्नि-स्थापन करने का प्रचार चला और वैसा करने वाले "आहिताग्नि" कहलाये।

उपर्युक्त सूत्रोक्त वर्णन के अतिरिक्त भी अष्टापद तीर्थ से सम्बन्ध रखने वाले अनेक वृत्तान्त सूत्रों, चरित्रों तथा प्रकीर्णक जैन ग्रन्थों में मिलते हैं परन्तु उन सब के वर्णनों द्वारा लेख को बढाना नहीं चाहते।

(२) उज्जयन्त—

"उज्जयन्त" यह गिरनार पर्वत का प्राचीन नाम है, इसका दूसरा प्राचीन नाम "रैवतक" पर्वत भी है, "गिरनार" यह इसका तीसरा पौराणिक नाम है, जो कल्पों, कथाओं में मिलता है।

उज्जयन्त तीर्थ का नाम निर्देश आचाराङ्ग निर्युक्ति में किया गया है जो ऊपर वता आए हैं, इसके अतिरिक्त कल्प-सूत्र दशा श्रुतस्कन्ध, आवश्यक सूत्र आदि में भी इसके उल्लेख मिलते हैं, कल्पसूत्र में इस पर भगवान् नेमिनाथ के दीक्षा, केवलज्ञान तथा निर्वाण नामक तीन कल्याणक होने का प्रतिपादन किया गया है, आवश्यक-सूत्रान्तर्गत सिद्धस्तव की निम्नोद्धत गाथा में भी भगवान् नेमिनाथ के दीक्षा ज्ञान और निर्वाण कल्याणक होने का सूचन मिलता है, जैसे—

"उज्जिंतसेलसिहरे, दिक्खा, नाणं निसीहिआ जस्स।
तं धम्मचक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमंसामि ॥४॥"

अर्थात्—'उज्जयन्त पर्वत के शिखर पर जिसकी दीक्षा, केवल ज्ञान और निर्वाण हुआ उस धर्मचक्रवर्ती भगवान नेमिनाथ को मैं नमस्कार करता हूँ।

सिद्धस्तव की यह तथा इसके वाद की "चत्तारिअट्ठ" तथा धम्मचक्कवट्टि ये दोनों गाथायें प्रक्षिप्त मालूम होती हैं, परन्तु ये कव और किसने प्रक्षिप्त की यह कहना कठिन है, प्रभावक चरित्रान्तर्गत आचार्य वप्पभट्टि के प्रबन्ध में एक उपाख्यान है जिसका सारांश यह है कि

एक समय शत्रुंजय-उज्जयंत तीर्थ की यात्रा के लिए राजा आम संघ लेकर उज्जयंत की तलहट्टी में पहुंचा, वहां दिगम्बर जैन संघ भी आया हुआ था। दिगम्बरों ने आम को ऊपर जाने से रोका, आम सैनिक बल का प्रयोग करने को उद्यत हुए तब बप्पभट्टिसूरि ने उनको रोककर कहा—धार्मिक कार्यों के निमित्त प्राणि-संहार करना अनुचित है, इस झगड़े का निपटारा दूसरे प्रकार से होना चाहिये, उन्होंने कहा—दो कुमारी कन्याओं को बुलाना चाहिये, श्वेताम्बरों की कन्या दिगम्बर संघ के पास और दिगम्बर संघ की कन्या श्वेताम्बर संघ के पास रखी जाय, फिर दोनों संघों के अग्रेसर धर्माचार्य, कन्याओं को तीर्थ निर्णय करने का प्रमाण पूछे, आचार्य वप्पभट्टि सूरि ने श्वेताम्बर संघ की तरफ खड़ी दिगम्बर संघ की कन्या के मुख से अम्बिका देवी द्वारा—"उज्जिंतसेलसिहरे" यह गाथा कहलायी और तीर्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय का स्थापित किया। परन्तु यह उपाख्यान ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यवान् नहीं है, क्योंकि आचार्य वप्पभट्टि विक्रम संवत् ८०० में जन्मे थे और नवमी शताब्दी में उनका जीवन व्यतीत हुआ था, तब आचार्य हरिभद्र सूरिजी जो इनके सौ वर्षों से अधिक पूर्ववर्ती थे, सिद्धस्तव की टीका में लिखते हैं—'सिद्धस्तव की आदि की तीन गाथायें नियम पूर्वक बोली जाती हैं पर अन्तिम दो गाथाओं के बोलने का नियम नहीं है,' इससे यह सिद्ध होता है कि ये गाथाएँ हैं तो हरिभद्रसूरिजी के पूर्वकाल की, परन्तु हैं प्रक्षिप्त, इसीलिए आचार्य ने इनका बोलना अनियत बताया है। हरिभद्रसूरिजी के परवर्ती आचार्य हेमचन्द्रसूरिजी आदि ने भी अपने ग्रन्थों में यही आशय व्यक्त किया है।

"उज्जयन्त-तीर्थ" के सम्बन्ध में अन्य भी अनेक सूत्रों तथा उनकी टीकाओं में उल्लेख मिलते हैं, परन्तु उन सबका यहाँ वर्णन करके लेख को बढाना उचित न होगा, आचार्य जिनप्रभसूरिकृत-"उज्जयन्त महातीर्थ कल्प" तथा अन्य विद्वानों के रचे हुए प्रस्तुत तीर्थ के स्तव आदि के उपयोगी कतिपय उद्धरण देकर इस विषय

का निरूपण करना ही पर्याप्त समझा जाता है ।

उज्जयन्त पर्वत के अद्भुत खनिज पदार्थों से समृद्धिशाली होने के सम्बन्ध में आचार्य जिनप्रभ ने अपने तीर्थ कल्प में बहुत सी बातें कहीं हैं जिनमें से कुछेक मनोरंजक नमूने पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे दिये जाते हैं—

"अवलोअणसिहरसिला-अवरेणं तत्थ वररसो सवइ ।
सुअपक्खसरिसवण्णो करेइ सुंवं वरं हेमं ॥२७॥
गिरिपज्जुन्नवयारे, अंविअ आसमपयं च नामेण ।
तत्थ वि पीआ पुहवी, हिमवाए धमियाए वा होइवरहेमं
॥२८॥ (वि. ती. क.)

उज्जिंतपढमसिहरे, आरुहिउं दाहिणेन अवयरिउं ।
तिण्णिधणुसयमित्ते, पूइकरंजं विलं नाम ॥३०॥
उग्घाडिउं विलं दिक्खिऊण निउणेन तत्थ गंतव्वं ।
दंडंतराणि वारस, दिव्वरसो जंवुफलसरिसो ॥३१॥
(वि. ती. क.)

उज्जिंते नाणसिला, विक्खाया तत्थ अत्थि पाहाणं ।
ताणं उत्तरपासे दाहिणओऽहोमुहो विवरो ॥३६॥
तस्स य दाहिणभाए, दसधणु भूमीइ हिंगुलयवण्णो ।
अत्थि रसो सयवेही विंधइ सुव्वं न संदेहो ॥३७॥
(वि. ती. क. पृ. ८)

इय उज्जयन्तकप्पं, अविअप्पं जो करेइ जिणभत्तो ।
कोहंडिकयपणामो, सो पाइ इच्छिअं सुक्खं ॥४१॥
(वि. ती. क. पृ. ८)

अर्थात्—अवलोकन शिखर की शिला के पश्चिम दिग्विभाग में शुक की पांख सा हरे रंग का वेधक रस झरता है, जो ताम्र को श्रेष्ठ सुवर्ण बनाता है ॥२७॥

उज्जयन्त पर्वत के प्रद्युम्नावतार तीर्थ स्थान में अम्बिका–आश्रमपद नामक वन (उद्यान) है जहाँ पर पीन वर्ण की मिट्टी पाई जाती है, जिसे तेज आग की आँच देने से वढिया सोना बनता है ॥ २८ ॥

उज्जयन्त पर्वत के प्रथम शिखर पर चढकर दक्षिण दिशा में तीन सौ धनुष अर्थात् बारह सौ हाथ नीचे उतरना, वहां पूति-करञ्ज नामक एक 'बिल' अर्थात्–'भू-विवर' मिलेगा, उसको खोलकर सावधानी के साथ उसमें प्रवेश करना और अड़तालीस हाथ तक भीतर जाने पर लोहे का सोना वनाने वाला दिव्य रस मिलेगा जो जम्बुफल-सदृश रंग का होगा ॥३०।३१॥

उज्जयन्त पर्वत पर ज्ञानशिला नाम से प्रख्यात एक बड़ी शिला है, जिस पर गण्ड शैलों का एक जत्था रहा हुआ है, उससे उत्तर दिशा में जाने पर दक्षिण की तरफ जाने वाला एक अधोमुख विवर (गड्डा) मिलेगा उसमें चालीस हाथ नीचे उतरने पर दक्षिण भाग में हिंगुल जैसा रक्तवर्ण शत-वेधी रस मिलेगा, जो तांबे को वेध कर सोना वनाता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥३६।३७॥

इस प्रकार जो जिनभक्त कुष्माण्डी (अम्बिका) देवी को प्रणाम करके मन में से शंका लोभ को हटाकर उज्जयन्त पर्वत पर रसायन कल्प की साधना करेगा वह मनोभिलषित सुख को प्राप्त करेगा ॥४१॥

जिनप्रभ सूरि कृत उज्जयन्त महाकल्प के अतिरिक्त अन्य भी अनेक कल्प और स्तव उपलब्ध होते हैं, जो पौराणिक होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व के हैं, हम इन सब के उद्धरण देकर लेख को नहीं बढायेंगे, केवल उपयोगी संक्षिप्त सारांश देकर लेख को पूरा करेंगे।

रैवतक-गिरि-कल्प संक्षेप में इस तीर्थ के विषय में कहा गया है, भगवान् नेमिनाथ ने छत्रशिला के समीप शिलासन पर दीक्षा ग्रहण की, सहस्राम्र वन में केवलज्ञान प्राप्त किया, लक्षाराम में

धर्म-देशना की और अवलोकन नामक ऊँचे शिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।

'रैवतक की मेखला में कृष्णवासुदेव ने निष्क्रमणादि तीन कल्याणकों का उत्सव करके रत्न प्रतिमाओं से शोभित तीन जिन-चैत्य तथा एक अम्बादेवी का मन्दिर बनवाया।' (वि. ती क. पृ. ६.)

"रैवतक गिरि कल्प में कहा है—'पश्चिम दिशा में सौराष्ट्र देशस्थित रैवतक पर्वतराज के शिखर पर श्री नेमिनाथ का बहुत ऊँचे शिखर वाला भवन था, जिसमें पहले भगवान् नेमिनाथ की लेपमयी प्रतिमा प्रतिष्ठित थी, एक समय उत्तरापथ के विभूषण समान **काश्मीर** देश से अजित तथा **रतना** नामक दो भाई संघपति बनकर गिरनार तीर्थ की यात्रा करने आए और भक्तिवश केशर चन्दनादि के घोल से कलशे भरकर उस प्रतिमा को अभिषिक्त किया, परिणाम स्वरूप वह लेपमयी प्रतिमा लेप के गल जाने से बहुत ही विगड़ गई इस घटना से संघपति-युगल बहुत ही दुःखी हुआ और आहार का त्याग कर दिया, इक्कीस दिन के उपवास के अन्त में भगवती अम्बिका देवी वहां प्रत्यक्ष हुई और संघपति को उठाया, उसने देवी को देखकर जय जय शब्द किया, देवी ने संघपति को एक रत्नमयी प्रतिमा देते हुए कहा—'लो यह प्रतिमा ले जाकर बैठा दो, पर प्रतिमा को स्थान पर बिठाने के पहले पीछे न देखना। संघपति अजित सूत के कच्चे धागे के सहारे प्रतिमा को अन्दर ले जा रहा था, वह प्रतिमा के साथ नेमिभवन के सुवर्णमय बलानक में पहुंचा और बिंब के द्वार की देहली के ऊपर पहुंचते संघपति का हृदय हर्ष से उमड़ पड़ा, और देवी की शिक्षा को भूलकर सहसा उसका मुँह पिछली तरफ मुड़ गया और प्रतिमा वहाँ ही निश्चल हो गयी, देवी ने 'जय जय शब्द के साथ पुष्प वृष्टि की', **यह प्रतिमा संघपति द्वारा नवनिर्मित जिन-प्रासाद में वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को प्रतिष्ठित** हुई। स्नपनादि महोत्सव करके संघपति अजित अपने भाई के साथ स्वदेश पहुंचा, कलिकाल में मनुष्यों के चित्त की कलुषता जानकर अम्बिका देवी ने

रत्नमयी प्रतिमा की झल-हलती कान्ति को ढांप दिया। (वि. ती. क. पृ. ६.)

इसी कल्प में इस तीर्थ-सम्बन्धी अन्य भी ऐतिहासिक उल्लेख मिलते हैं जो नीचे दिये जाते हैं—

"पुव्विं गुज्जर धराए जयसिंहदेवेणं खंगाररायं हणित्ता सज्जणो दंडाहिवो ठाविओ। तेणय अहिणवं नेमिजिणिंदभवणं एगारससय-पंचासीए (११८५) विक्कमरायवच्छरेकाराविअं। चोलुक्कचक्किसिरिकुमारपालनरिंदसंठविअसोरठ्ठदंडाहिवेण सिरिसिरिमालकुलुब्भवेण बारससयवीसे (१२२०) विक्कम संवच्छरे पज्जा काराविआ तब्भवेण धवलेण अंतराले पवा भराविआ। पज्जाए चडंतेहि जणेहिं दाहिणदिसाए लक्खारामो दीसइ।" (वि. ती. क. पृ. ६.)

अर्थात्—'पूर्वकाल में गुर्जरभूमिपति चौलुक्य राजा जयसिंह देव ने जूनागढ़ के राजा राखेङ्गार को मारकर दण्डाधिपति सज्जन को वहाँ का शासक नियुक्त किया। सज्जन ने विक्रम संवत् ११८५ में भगवान् नेमिनाथ का नया भवन बनवाया, बाद में मालव भूमि भूषण साधु भावड ने उसपर सुवर्णमय आमल सारक करवाया।'

'चौलुक्य चक्रवर्ती श्री कुमारपाल देव-नियुक्त श्री श्रीमाल कुलोत्पन्न सौराष्ट्र दण्डाधिपति ने विक्रम संवत् १२२० में उज्जयन्त पर्वत पर चढ़ने को सोपानमय मार्ग करवाया, उसके पुत्र धवल ने सोपान-मार्ग में प्याऊ बनवाई, इस पद्या मार्ग से ऊपर चढने वाले यात्रिक जनों को दक्षिण दिशा में लक्षाराम नामक उद्यान दीखता है।'

इन कल्पों के अतिरिक्त उज्जयन्त तीर्थ के साथ संबन्ध रखने वाले अनेक स्तुति-स्तोत्र भी भिन्न भिन्न कवियों के बनाये हुए जैन ज्ञान भण्डारों में उपलब्ध होते हैं, जिनमें से थोड़े से श्लोक नीचे उद्धृत करके इस तीर्थ का वर्णन समाप्त करेंगे।

"योजनद्वयतुङ्गेऽस्य, शृङ्गे जिनगृहावलिः।
पुण्यराशिरिवाभाति, शरच्चन्द्रांशुनिर्मला ॥४॥
सौवर्णदण्डकलशाऽमलसारकशोभितम्।
चारुचैत्यं चकास्त्यस्योपरि श्री नेमिनः प्रभोः ॥५॥
श्रीशिवासूनुदेवस्य, पादुकाऽत्र निरीक्षिता।
स्पृष्टाऽर्चिता च शिष्टानां पापव्यूहं व्यपोहति ॥६॥
प्राज्यं राज्यं परित्यज्य, जरत्तृणमिव प्रभुः।
बन्धून् विधूय च स्निग्धान् प्रपेदेऽत्र महाव्रतम् ॥७॥
अत्रैव केवलं देवः, स एवं प्रतिलब्धवान्।
अगाज्जनहितैषी स, पर्यणैषीच्च निर्वृतिम् ॥८॥

अर्थात्—'इस उज्जयन्त गिरि के दो योजन ऊंचे शिखर पर वनवाने वालों के निर्मल पुण्य की राशि सी, चन्द्रकिरण समान उज्ज्वल जिन मन्दिरों की पंक्ति सुशोभित है। इसी शिखर पर सुवर्णमय दण्ड, कलश तथा आमलसारक से सुशोभित भगवान् नेमिनाथ का सुन्दर चैत्य दृष्टिगोचर हो रहा है। यहीं पर प्रतिष्ठित शैवेय जिन की चरण पादुका दर्शन, स्पर्शन, पूजन से भाविक यात्रिक गण के पाप को दूर करती है और यहीं पर जीर्ण तिनखे की तरह समृद्ध राज्य तथा विशाल कुटुम्ब का त्याग कर भगवान् नेमिनाथ ने महाव्रत धारण किये थे और यहीं पर भगवान् केवल ज्ञानी हुए, तथा जगत्‌हित चिन्तक भगवान् नेमिनाथ यहीं से निर्वाण पद प्राप्त हुए।

"अत एवात्र कल्याणत्रय-मन्दिरमादधे।
श्रीवस्तुपालो मन्त्रीश-श्चमत्कारितभव्यहृत् ॥९॥
जिनेन्द्रबिम्बपूर्णेन्द्र-मण्डपस्था जना इह।
श्रीनेमेर्मज्जनं कर्तु-मिन्द्रा इव चकासति ॥१०॥
गजेन्द्रपदनामास्य, कुण्डं मण्डयते शिरः।
सुधाविधैर्जलैः पूर्णं, स्नाप्यार्हत्स्नपनक्षमैः ॥११॥

शत्रुंजयावतारेऽत्र, वस्तुपालेन कारिते।
ऋषभः पुण्डरीकोऽष्टापदो नन्दीश्वरस्तथा ॥१२॥
सिंहयाना हेमवर्णा, सिद्ध-बुद्धसुतान्विता।
कम्राम्रलुम्बिभृत्-पाणि-रत्राम्बा संघविघ्नहृत् ॥१३॥

(वि. ती. कृ. पृ. ७.)

"यहाँ भगवान् के तीन कल्याणक होने के कारण से ही मन्त्रीश्वर वस्तुपालने सज्जनों के हृदय को चमत्कृत करने वाला तीन कल्याणक का मन्दिर बनवाया। जिन-प्रतिमाओं से भरे इस इन्द्र मण्डप में रहे हुए भगवान् नेमिनाथ का स्नपन करने वाले पुरुष इन्द्रों की शोभा पाते हैं। इस पर्वत की चोटी को-गजेन्द्र पद नामक कुण्ड जो अमृत के से जल से भरा और स्नपनीय जिन-प्रतिमाओं का स्नपन कराने में समर्थ है—भूषित कर रहा है। यहां वस्तुपाल द्वारा कारित शत्रुञ्ज्यावतार-विहार में भगवान् ऋषभदेव, गणधर पुण्डरीक स्वामी, अष्टापद चैत्य तथा नन्दीश्वर चैत्य यात्रियों के लिए दर्शनीय चीज हैं। इस पर्वत पर सुवर्ण की सी कान्तिवाली सिंहवाहन पर आरूढ सिद्ध-बुद्ध नामक अपने पूर्व भविक दो पुत्रों को साथ लिए कमनीय आम की लुम्ब जिसके हाथ में है ऐसी अम्बादेवी यहां रही हुई संघ के विघ्नों का विनाश करती है।'

उज्जयन्त तीर्थ सम्बन्धी उक्त प्रकार के पौराणिक तथा ऐतिहासिक वृत्तान्त बहुतेरे मिलते हैं, परन्तु उनके विवेचन का यह योग्य स्थल नहीं, हम इसका विवेचन यहीं समाप्त करते हैं।

(३) गजाग्रपद तीर्थ

गजाग्रपद भी आचाराङ्ग निर्युक्ति-निर्दिष्ट तीर्थों में से एक है, परन्तु वर्तमान काल में यह व्यवच्छिन्न हो चुका है, इसकी अवस्थिति सूत्रों में **दशार्णपुर नगर के समीपवर्ती दशार्णकूट** पर्वत पर बताई है। **आवश्यक चूर्णि** में भी इस तीर्थ को **दशार्ण** देश के **मुख्य नगर दशार्णपुर** के समीपवर्ती पहाड़ी तीर्थ लिखा है और इसकी उत्पत्ति का वर्णन भी दिया है, जिसका संक्षिप्त-सार नीचे दिया जाता है—

एक समय श्रमण भगवान् महावीर दशार्ण देश में विचरते हुए अपने श्रमण संघ के साथ दशार्णपुर के समीपवर्ती एक उपवन में पधारे, राजा दशार्ण भद्र को उद्यान पालक ने भगवान् के पधारने की वधाई दी।

भगवन्त का आगमन जानकर राजा बहुत ही हर्षित हुआ, उसने सोचा कल ऐसी तैय्यारी के साथ भगवन्त को वन्दन करने जाऊँगा और वैसे ठाट से वन्दन करूंगा जैसे ठाट से न पहले किसी ने किया हो, न भविष्य में करेगा। उसने सारे नगर में सूचित करवा दिया कि कल अमुक समय में राजा अपने सर्व परिवार के साथ भगवान् महावीर को वन्दन करने जायेंगे और नागरिक गण को भी उनका अनुगमन करना होगा।

राज कर्मचारी गण उसी समय से नगर की सजावट, चतुरंगिनी सेना के सज्ज करने, तथा अन्यान्य समयोचित तैयारियां करने के कामों में जुट गए, नागरिक जन भी अपने अपने घर, हाट सजाने, रथ-यान पालकियों को सज्ज करने लगे।

दूसरे दिन प्रयाण का समय आने के पहले ही सारा नगर ध्वजाओं, तोरणों, पुष्पमालाओं से सुशोभित था, मुख्य मार्गों में जल छिडकाव कर फूल बिखेरे गए थे, राजा दशार्ण भद्र, इसका सम्पूर्ण अन्तःपुर और दास-दासी गण अपने योग्य यानों, वाहनों से भगवान् के वन्दनार्थ रवाना हुए, उनके पीछे नागरिक भी रथों, पालकियों आदि में बैठकर राज कुटुम्ब के पीछे उमड़ पड़े।

महावीर की धर्म सभा की तरफ जाते हुए राजा के मन में सगर्व हर्ष था, वह अपने को भगवान् महावीर का सर्वोच्च शक्तिशाली भक्त मानता था, ठीक इसी समय स्वर्ग के इन्द्र ने भगवान् महावीर के विहार क्षेत्र को लक्ष्य करके अवधि-ज्ञान का उपयोग दिया और देखा कि भगवान् दशार्ण कूट पहाड़ी के निकटस्थ उद्यान में विराजमान हैं, राजा दशार्ण-भद्र अद्वितीय सजधज के साथ उन्हें वन्दन करने जारहा है। इन्द्र ने भी इस प्रसंग से लाभ उठाना

चाहा, वह अपने ऐरावण हाथी पर आरूढ होकर दिव्य परिवार के साथ भगवान् के पास क्षण भर में आ पहुंचा, उसने तीन प्रदक्षिणा देकर दशार्ण कूट पर्वत की एक लम्बी चौड़ी चट्टान पर अपना वाहन ऐरावण हाथी उतारा, दिव्य शक्ति से इन्द्र ने हाथी के अनेक दांतों पर अनेक-अनेक बावडियां, बावडियों में अनेक कमल और कमलों की कर्णिकाओं पर देव-प्रासाद और उनमें होने वाले बत्तीस पात्र बद्ध नाटकों के अद्भुत दृश्य दिखलाकर राजा की शक्ति और सजावट को निस्तेज बनाकर उसके अभिमान को नष्ट कर दिया, राजा ने देखा इन्द्र की शक्ति के सामने मेरी शक्ति नगण्य है, भला, सूर्य के प्रकाश के सामने छोटा सा सितारा कैसे चमक सकता है ? उसने अपने पूर्व भव के धर्म कृत्यों की न्यूनता जानी और भगवान् महावीर का वैराग्यमय उपदेशामृत पान कर संसार का मोह छोड श्रमण धर्म में दीक्षित हो गया।

दशार्णकूट की जिस विशाल शिला पर इन्द्रका ऐरावण खड़ा था, उस शिला में उसके अगले पगों के चिन्ह सदा के लिए बन गये, बाद में भक्त जनों ने उन चिन्हों पर एक बड़ा जिन चैत्य बनाकर उसमें भगवान महावीर की मूर्ति प्रतिष्ठित करवाई, तब से इस स्थान का नाम "**गजाग्रपद**" तीर्थ सदा के लिए अमर हो गया।

आज यह **गजाग्रपद तीर्थ** भूला जा चुका है, यह स्थान भारत भूमि के अमुक प्रदेश में था, यह भी निश्चित रूप से कहना कठिन है, फिर भी हमारे अनुमान के अनुसार मालवा के पूर्व में और आधुनिक बुंदेल खण्ड के प्रदेश में कहीं होना संभवित है।

४. धर्मचक्र तीर्थ—

आचाराङ्ग निर्युक्ति सूचित चौथा तीर्थ धर्मचक्र है। धर्मचक्र तीर्थ की उत्पत्ति का विवरण आवश्यक निर्युक्ति तथा उसकी प्राचीन प्राकृत टीका में नीचे लिखे अनुसार मिलता है—

"कल्लं सव्विड्ढीए, पूएमहऽदट्ठु धम्मचक्कं तु।
विहरइ सहस्समेगं, छउमत्थो भारहे वासे ॥३३५॥"

अर्थात्—'भगवान् ऋषभदेव हस्तिनापुर से विहार करते हुए पश्चिम में वहली देश की राजधानी [1]तक्षशिला के उद्यान में पधारे वनपालक ने राजा वाहुवली को भगवान के आगमन की वधाई दी। राजा ने सोचा, कल सर्व ऋद्धि विस्तार के साथ भगवान् की पूजा करूंगा। राजा वाहुवली दूसरे दिन वड़े ठाट-वाट से भगवान् की तरफ गया, परन्तु उसके जाने के पूर्व ही भगवान वहां से विहार कर चुके थे। अपने पूज्य पिता ऋषभ को निवेदित स्थान तथा उसके आसपास न देखकर वाहुवली वहुत ही खिन्न हुआ और वापिस लौट कर भगवान् रात भर जहां ठहरे थे, उस स्थान पर एक वड़ा गोल चक्राकार स्तूप वनवाया और उसका नाम "धर्मचक्र" दिया। भगवान् ऋषभदेव छद्मस्थावस्था में एक हजार वर्ष तक विचरे।'

आवश्यक निर्युक्ति की उपर्युक्त गाथा के विवरण में चूर्णिकार ने धर्मचक्र के सम्वन्ध में जो विशेषता वताई है, वह निम्नलिखित है—

'जहां भगवान् ठहरे थे, उस स्थान पर सर्वरत्नमय एक योजन परिधिवाला, जिस पर पाँच योजन ऊंचा ध्वज दंड खड़ा है, धर्मचक्र का चिन्ह वनवाया।'

"वहली अडंवइल्ला, जोणगविसओ सुवण्णभूमी अ।
आहिंडिआ भगवया, उसभेण तवं चरंतेणं ॥३३६॥
वहली अ जोणगा पल्हगा य जे भगवया समणुसिट्ठा।
अन्ने य मिच्छजाई, ते तइआ भद्दया जाया ॥३३७॥
तित्थयराणं पढमो, उसभरिसी विहरिओ निरुवसग्गो।
अट्ठावओ णगवरो, अग्ग (य) भूमी जिणवरस्स ॥३३८॥
छउमत्थपरिआओ, वाससहस्सं तओ पुरिमताले।
णग्गोहस्स य हेट्ठा, उप्पण्णं केवलं नाणं ॥३३९॥

---

[1]आधुनिक पश्चिमी पंजाव के रावलपिंडी जिले में 'शाह की ढेरी' नाम से जो स्थल प्रसिद्ध हैं वही प्राचीन तक्षशिला थी, ऐसा शोधकों का निर्णय है।

फग्गुणबहुले एक्कारसीइ, अह अट्ठमेण भत्तेणं।
उप्पण्णंमि अणंते, महव्वया पंच पण्णवए ॥३४०॥"

अर्थात्—'बहली (बल्ख-बाख्तरिया) अडंबइल्ला (अटक-प्रदेश) यवन (यूनान) देश और सुवर्णभूमि इन देशों में भगवान् ऋषभ ने तपस्वी जीवन में भ्रमण किया। बल्ख यवन, पल्हव देशवासी भगवान् के अनुशासन से क्रौर्य्य का त्याग कर भद्र परिणामी बने। तीर्थंकरों में आदि तीर्थंकर ऋषभ मुनि सर्वत्र निरुपसर्गता से विचरे। आदि जिन की अग्रविहार भूमि अष्टापद तीर्थ बना रहा, अर्थात् पूर्व-पश्चिमी भारत के देशों में घूमकर, मध्य-उत्तर भारत में आते तब बहुधा अष्टापद पर्वत पर ही ठहरते। भगवान् ऋषभ जिनका छद्मस्थ पर्याय (तपस्वी जीवन) हज़ार वर्ष तक बना रहा। बाद में आपको पुरिमताल नगर के बाहर वटवृक्ष के नीचे ध्यान करते हुए केवल ज्ञान प्रकट हुआ। उस समय आपने निर्जल तीन उपवास किये थे, फाल्गुन वदी एकादशी का दिन था, इन संजोगों में अनन्त केवल ज्ञान प्रकट हुआ और आपने श्रमण धर्म के पंच महाव्रतों का उपदेश किया।

धर्मचक्र को बाहुबली ने ऋषभदेव के स्मारक के रूप में बनवाया था, परन्तु कालान्तर में उस स्थान पर जिनचैत्य बन कर जिन प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हुईं और इस स्मारक ने एक महातीर्थ का रूप धारण किया। प्रतिष्ठत जिनचैत्यों में चन्द्रप्रभ नामक आठवें तीर्थंकर का चैत्य (प्रतिमा) प्रधान था। इस कारण से इस तीर्थ के साथ चन्द्रप्रभ का नाम जोड़ दिया गया और दीर्घकाल तक वह इसी नाम से प्रसिद्ध रहा। महानिशीथ नामक जैन सूत्र में इसका वृत्तान्त मिलता है, जिसमें से थोड़ा सा अवतरण यहां देना योग्य समझते हैं—

"अहन्नया गोयमा ते साहुणो तं आयरियं भणंति जहा णं जइ भयवं तुमं आणवेहि ता णं अम्हेहिं तित्थयत्तं करि (र) या

चंदप्पहसामियं वंदिया धम्मचक्कं गंतूणमागच्छामो, ताहे गोयमा अदीणमणसा अणुत्तालगंभीरमहुराए भारतीए भणियं तेणायरियेणं, जहा-इच्छायारेणं न कप्पइ तित्थयत्तं गंतुं सुविहियाणं, ता जाव णं वोलेइ जत्तं ताव णं अहं तुम्हे चंदप्पहं वंदावेहामि। अन्नं च जत्ताए गएहिं असंजमे पडिज्जइ, एएणं कारणेणं तित्थयत्ता पडिसेहिज्जइ।"

अर्थात्—भगवान महावीर कहते हैं, हे गौतम ! अन्य समय वे साधु उस आचार्य को कहते हैं, हे भगवन् ! यदि आप आज्ञा करें तो हम तीर्थ यात्रा करने तथा चन्द्रप्रभ स्वामि को वंदन करने धर्मचक्र जाकर आजायें, तब हे गौतम ! उस आचार्य ने दृढ़ता से सोच कर गंभीरवाणि से कहा—'इच्छाकार से सुविहित साधुओं को तीर्थयात्रा को जाना नहीं कलपता, इसलिए जब यात्रा वीत जायेगी तब मैं तुम्हें चन्द्रप्रभ का वंदन करा दूंगा। दूसरा कारण यह भी है कि तीर्थ यात्राओं के प्रसंगों पर साधुओं को तीर्थों पर जाने से असंयम मार्ग में पड़ना पडता है। इसी कारण से साधुओं के लिए यात्रा निषिद्ध की गई है।*

महानिशीथ में ही नहीं, अन्य सूत्रों में भी जैन श्रमणों को तीर्थ यात्रा के लिए भ्रमण करना वर्जित किया है, निशीथ सूत्र की चूर्णि में लिखा है—

"उत्तरावहे धम्मचक्के, मधुराए देवणिम्मिओ थूभो। कोसलाए वा जियंतपडिमा तित्थकराण वा जम्मभूमीओ एवमादि कारणेहिं गच्छन्तो णिक्कारणितो (२४३-२ नि. चू.)।

अर्थात्—उत्तरापथ में धर्मचक्र, मथुरा में देव निर्मित स्तूप, अयोध्या में जीवंतस्वामि प्रतिमा, अथवा तीर्थंकरों की जन्मभूमियां इत्यादि कारणों से देशभ्रमण करने वाले साधु का विहार निष्कारणिक

---

* यहां यात्रा शब्द तीर्थ पर होने वाले मेले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

कहलाता है। उक्त महानिशीथ के प्रमाण से मेले के प्रसंग पर तीर्थ पर साधु के लिए जाना वर्जित किया ही है, परन्तु निशीथ आदि आगमों के प्रमाणों से केवल तीर्थदर्शनार्थ भ्रमण करना भी जैन श्रमण के लिए निषिद्ध बताया है। जैन श्रमण के लिए सकारण देश भ्रमण करना विहित है और उस भ्रमण में आने वाली तीर्थ भूमियों का दर्शन-वन्दन करना आगम विहित है। तीर्थ वन्दन के नाम से भड़कने वाले तथा केवल तीर्थ वन्दन के लिए भटकने वाले हमारे वर्त्तमानकालीन जैन श्रमणों को इन शास्त्रीय वर्णनों से वोध लेना चाहिए।

तक्षशिला का धर्मचक्र बहुत काल पहिले से ही जैनों के हाथ से चला गया था, इसके दो कारण थे--१. विक्रम की दूसरी तथा तीसरी शताब्दी में बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार हो चुका था, यही नहीं, तक्षशिला-विश्वविद्यालय में हजारों बौद्ध भिक्षु तथा उनके अनुयायी छात्रगण विद्याध्ययन करते थे। इस कारण तक्षशिला के तथा पुरुषपुर (पेशावर) के प्रदेशों में हजारों की संख्या में बौद्ध-उपदेशक घूम रहे थे। इसके अतिरिक्त २--शशेनियन लोगों के भारत पर होने वाले आक्रमण की जैन संघ को आक्रमण के पहिले ही सूचना मिल चुकी थी, कि आज से तीसरे वर्ष में तक्षशिला का भंग होने वाला है, इससे जैन संघ धीरे धीरे तक्षशिला से पंजाब की तरफ आगया था। कुछ लोग दक्षिण की तरफ पहुंच कर जल मार्ग से कच्छ तथा सौराष्ट्र तक चले गए। जाने वाले अपनी धन संपत्ति को ही नहीं, अपनी पूज्य देव मूर्त्तियों तक को वहां से हटा ले गए थे। इस दशा में अरक्षित जैन स्मारकों तथा मन्दिरों पर बौद्ध धर्मियों ने अपना अधिकार कर लिया था। तक्षशिला का धर्मचक्र जो चन्द्रप्रभ का तीर्थ माना जाता था, उसको भी बौद्धों ने अपना लिया और उसे बौधिसत्व चन्द्रप्रभ का प्राचीन स्मारक होना उद्‌घोषित किया। बौद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग जो कि विक्रम की षष्ठी शताब्दी में भारत में आया था, अपने भारत-यात्रा विवरण में लिखता है--

"यहां पर पूर्वकाल में बोधिसत्व चन्द्रप्रभ ने अपना मांस प्रदान किया था, जिसके उपलक्ष्य में मौर्य सम्राट् अशोक ने उसका यह स्मारक बनवाया है।"

उक्त चीनी यात्री के उल्लेख से यह तो निश्चित हो जाता है कि धर्मचक्र विक्रमीय छठी शदी के पहले ही जैनों के हाथ से चला गया था। निश्चित रूप से तो कहा नहीं जा सकता, फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि शशेनियन लोग जो ईसा की तीसरी शताब्दी में आक्रामक बनकर तक्षशिला के मार्ग से भारत में आए थे, उसके लगभग काल में ही धर्मचक्र बौद्धों का स्मारक बन चुका होगा।

५. अहिच्छत्रा-पार्श्वनाथ

आचारांग निर्युक्ति सूचित पार्श्व-अहिच्छत्रा नगरी स्थित पार्श्वनाथ हैं। भगवान् पार्श्वनाथ प्रव्रजित होकर तपस्या करते हुए एक समय कुरुजांगल देश में पधारे। वहां संखावत्ती नगरी के समीपवर्ती एक निर्जन स्थान में आप ध्यान निमग्न खड़े थे, तब उनके पूर्वभव के विरोधी कमठ नामक असुर ने आकाश से घनघोर जल बरसाना शुरू किया। बड़े जोरों की वृष्टि हो रही थी। कमठ की इच्छा यह थी कि पार्श्वनाथ को जलमग्न करके इनका ध्यान भंग किया जाय। ठीक उसी समय धरणेन्द्र नागराज भगवान् को वंदन करने आया, उसने भगवान पर मुसलधार वृष्टि होती देखी, धरणेन्द्र ने भगवान् के ऊपर फणछत्र किया और इस अकाल वृष्टि करने वाले कमठ का पता लगाया। यहीं नहीं, उसे ऐसे जोरों से धमकाया कि तुरन्त उसने अपने दुष्कृत्य को बंद किया और भगवान् पार्श्वनाथ के चरणों में शीश नवांकर धरणेन्द्र से माफ़ी मांगी। जलोपद्रव के शान्त हो जाने के बाद नागराज धरणेन्द्र ने अपनी दिव्य शक्ति के प्रदर्शन द्वारा भगवान् की बहुत महिमा की उस स्थान पर कालान्तर में भक्त लोगों ने एक बड़ा जिन प्रासाद

बनवा कर उसमें पार्श्वनाथ की नागफणछत्रालंकृत प्रतिमा प्रतिष्ठित की। जिस नगरी के समीप उपर्युक्त घटना घटी थी वह नगरी भी "अहिच्छत्रा नगरी" इस नाम से प्रसिद्ध हो गई।

अहिच्छत्रा विषयक विशेष वर्णन सूत्रों में उपलब्ध नहीं होता परन्तु जिनप्रभसूरि ने "अहिच्छत्रानगरी कल्प" में इस तीर्थ के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें कही हैं जिनमें से कुछ नीचे दी जाती हैं–

'अहिच्छत्रा पार्श्वजिन चैत्य के पूर्व दिशा भाग में सात मधुर जल से भरे कुण्ड अब भी विद्यमान हैं। उन कुण्डों के जल में स्नान करने वाली मृतवत्सा स्त्रियों की प्रजा [1]स्थिर रहती है। उन कुण्डों की मिट्टी से धातुवादी लोग सुवर्ण सिद्धि होना बताते हैं।

यहां एक सिद्धरस कूपिका भी दृष्टिगोचर होती है जिसका मुख पाषाण शिला से ढका हुआ है। इस मुख को खोलने के लिए एक म्लेच्छ राजा ने बहुत कोशिश की, यहां तक कि रखी हुई शिला पर बहुत तीव्र आग जला कर उसे तोड़ना चाहा परन्तु वह अपने सभी प्रयत्नों में निष्फल हुआ।

पार्श्वनाथ की यात्रा करने आये हुए यात्री-गण अब भी जब भगवान का स्नपन महोत्सव करते हैं, उस समय कमठ दैत्य प्रचण्ड पवन बादलों द्वारा यहां पर दुर्दिन कर देता है।

मूलचैत्य से थोड़ी दूरी पर सिद्धक्षेत्र में धरणेन्द्र-पद्मावती सेवित पार्श्वनाथ का मन्दिर बना हुआ है।

नगर के दुर्ग के समीप नेमिनाथ की मूर्ति से सुशोभित सिद्ध-बुद्ध नामक दो बालक रूपकों से समन्वित, हाथ में आम्रफलों की डाली लिए सिंह पर आरूढ अंबा देवी की मूर्ति प्रतिष्ठित है।

---

[1]जीवित

यहां उत्तरा नामक एक निर्मल जल से भरी वावड़ी है जिसके जल में नहाने तथा उसकी मिट्टी के लेप करने से कोढियों के कोढ रोग शान्त हो जाते हैं।

यहां रहे हुए धन्वन्तरी नामक कुए की पीली मिट्टी से आम्नायवेदियों के आदेशानुसार प्रयोग करने से सोना वनता है।

यहां के ब्रह्मकुण्ड के किनारे मण्डूक पर्णी ब्राह्मी के पत्तों का चूर्ण एक वर्णी गाय के दूध के साथ सेवन करने से मनुष्य की बुद्धि और नीरोगता बढ़ती है और उसका स्वर गन्धर्व का सा मधुर बन जाता है।

बहुधा अहिच्छत्रा के उपवनों में सभी वृक्षों पर वन्दाक उगे हुए मिलते हैं। जो अमुक-अमुक कार्य साधक होते हैं। यही नहीं यहां के उपवनों में जयंती, नागदमनी, सहदेवी, अपराजिता, लक्ष्मणा, त्रिपर्णी, नकुली, सकुली, सर्पाक्षी, सुवर्णशिला, मोहनी, श्यामा, रविभक्ता (सूर्यमुखी), निर्विषी, मयूर-शिखा, शल्या, विशल्यादि अनेक महौषधियां यहां मिला करती हैं।

अहिच्छत्रा में विष्णु, शिव, ब्रह्मा, चण्डिकादि के मन्दिर तथा ब्रह्मकुण्ड आदि अनेक लौकिक तीर्थ स्थान भी बने हुए हैं। यह नगरी सुगृहीत नामधेय "कण्व ऋषि" की जन्मभूमि मानी जाती है।

उपर्युक्त अहिच्छत्रा तीर्थ स्थान वर्तमान में कुरुदेश के किसी भूमि भाग में खण्ड़हरों के रूप में भी विद्यमान है या नहीं इसका विद्वानों को पता लगाना चाहिए।

६. रथावर्त (पर्वत) तीर्थ—

प्राचीन जैन तीर्थों में रथावर्त पर्वत को निर्युक्तिकार ने षष्ठ नम्बर में रखा है। यह पर्वत आचारांग के टीकाकार आचार्य शीलाङ्क सूरि के कथनानुसार अन्तिम दश पूर्वधर आर्य वज्रस्वामी के स्वर्ग-वास का स्थान था। पिछले कतिपय लेखकों का मन्तव्य है कि

वज्रस्वामि के अनशन काल में इन्द्र ने आकर इस पर्वत की रथ में बैठकर प्रदक्षिणा की थी जिससे इसका नाम "**रथावर्त**" पड़ा था। परन्तु यह मन्तव्य हमारी राय में प्रमाणिक नहीं है, क्योंकि आर्य वज्रस्वामी के अनशन का समय विक्रम की प्रथम शताब्दी का अन्तिम भाग है, जब कि आचाराङ्ग निर्युक्तिकार श्रुतधर भद्रबाहुस्वामी आर्यवज्र से सैकड़ों वर्ष पहले हो गए हैं, इस से पर्वत का रथावर्त, यह नाम भद्रबाहुस्वामी के पूर्वकाल का है, इसमें शंका को स्थान नहीं।

रथावर्त पर्वत किस प्रदेश में था, इस बात का विचार करते समय हमें आर्य वज्रस्वामी के अन्तिम समय के विहार क्षेत्र पर विचार करना होगा। आचार्य वज्रस्वामी अपनी स्थविर अवस्था में सपरिवार मालव देश में विचरते थे ऐसा जैन ग्रन्थों के उल्लेखों से जाना जाता है। उस समय भारत में बड़ा भारी द्वादश वार्षिक दुर्भिक्ष प्रारम्भ हो चुका था। साधुओं को भिक्षा मिलना तक कठिन हो गया था। एक दिन तो स्थविर वज्रस्वामि ने अपने विद्यावल से आहार मंगवा कर साधुओं को दिया और कहा—"बारह वर्ष तक इसी प्रकार विद्यापिण्ड से शरीर निर्वाह करना होगा।" इस प्रकार जीवन निर्वाह करने में लाभ मानते हो तो वैसा करें अन्यथा अनशन द्वारा जीवन का अन्त कर दें। श्रमणों ने एक मत से अपनी राय दी कि इस प्रकार दूषित आहार द्वारा जीवन निर्वाह करने से तो अनशन से देह त्याग करना ही अच्छा है। इस पर विचार करके आर्य वज्रस्वामि ने अपने एक शिष्य वज्रसेन मुनि को थोड़े से साधुओं के साथ कोंकण प्रदेश में विहार करने की आज्ञा दी और कहा—"जिस दिन तुमको एक लक्ष सुवर्ण से निष्पन्न भोजन मिले तब जानना कि दुर्भिक्ष का अन्तिम दिन है। उसके दूसरे ही दिन से अन्न संकट हलका होने लगेगा।" अपनें गुरुदेव की आज्ञा सिर चढा कर वज्रसेन मुनि ने कोंकण देश की तरफ विहार किया और वज्रस्वामि ने पांच सौ मुनियों के साथ रथावर्त पर्वत पर जाकर अनशन धारण किया।

वज्रस्वामी के उपर्युक्त वर्णन से जाना जा सकता है कि वज्रसेन के विहार करने पर तुरंत आप वहां से अनशन के लिए रवाना हो गए थे और निकट प्रदेश में ही रहे हुए **रथावर्त पर्वत पर अनशन किया था**। प्राचीन विदिशा नगरी (आज का भिलसा) के समीप पूर्वकाल में "कुंजरावर्त" तथा "रथावर्त" नामक दो पहाड़ियाँ थीं। वज्रस्वामी ने इसी रथावर्त नामक पर्वत पर अनशन किया होगा और यही "रथावर्त" पर्वत जैनों का प्राचीन तीर्थ होगा, ऐसा हमारा मानना है।

७. चमरोत्पात—

भगवान् महावीर छद्मस्थावस्था के बारहवें वर्ष में वैशाली की तरफ से विहार करते हुए सुंसुमारपुर नामक स्थान के निकटवर्ती उपवन में अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ थे, तव चमरेन्द्र नामक असुरेन्द्र वहां आया और महावीर की शरण लेकर स्वर्ग के इन्द्र शक्र पर चढ़ाई कर गया। सुधर्मा सभा के द्वार तक पहुंच कर शक्र को डराने धमकाने लगा। शक्रेन्द्र ने भी चमरेन्द्र को मार हटाने के लिए अपना वज्रायुध उसकी तरफ फेंका। आग की चिनगारियाँ उगलते हुए वज्र को देखकर चमर आया उसी रास्ते भागा। शक्र ने सोचा—"**चमरेन्द्र यहा तक किसी भी महर्षि तपस्वी की शरण लिए बिना नहीं आ सकता। देखें! यह किसकी शरण लेकर आया है?**" इन्द्र ने अवधि ज्ञान से जाना कि चमर महावीर का शरणागत बन कर आया है और वहीं जा रहा है, वह तुरन्त वज्र को पकड़ने दौड़ा। चमरेन्द्र अपना शरीर सूक्ष्म बनाकर भगवान् महावीर के चरणों के बीच घुसा। वज्रप्रहार उस पर होने के पहिले ही इन्द्र ने वज्र को पकड़ लिया। इस घटना से सुंसुमारपुर और उसके आस पास के गाँवों में सनसनी फैल गई। लोगों के झुंड के झुंड घटना स्थल पर आये और घटना की वस्तुस्थिति को जान कर भगवान् महावीर के चरणों में झुक पड़े। भगवान् महावीर तो वहाँ से विहार कर गए, परन्तु लोगों के हृदय में उनके शरणागत रक्षकत्व

की छाप सदा के लिए रह गई और घटनास्थल पर एक स्मारक बनवा कर, शरणागत वत्सल भगवान् महावीर की मूर्ति प्रतिष्ठित की। उस प्रदेश के श्रद्धालू लोग उसे बड़ी श्रद्धा से पूजते, तथा कार्यार्थी यत्रिगण सार्थवाह आदि अपनी यात्रा की निर्विघ्नता के लिए भगवान् की शरण लेकर आगे वढ़ते थे। यही भगवान् महावीर का स्मारक मंदिर आगे जाकर जैनों का "**चमरोत्पात**"* नामक तीर्थ बन गया जिसका श्रुत केवली भद्रबाहु स्वामि ने आचाराङ्ग निर्युक्ति में स्मरण-वन्दन किया है।

चमरोत्पात तीर्थ आज हमारे विच्छिन्न (भूले हुए) तीर्थों में से एक है। यह स्थान आधुनिक मिर्जापुर जिले के एक पहाड़ी प्रदेश में था, ऐसा हमारा अनुमान है।

८. शत्रुञ्जय-पर्वत—

शत्रुञ्जय आज हमारा सर्वोत्तम तीर्थ माना जाता है। इसका माहात्म्य गाने में शत्रुञ्जय माहात्म्यकार ने कोई उठा नहीं रखा। यह पर्वत भगवान् ऋषभदेव का मुख्य विहार क्षेत्र और भरत चक्रवर्ती का सुवर्णमय चैत्य निर्माण का स्थान माना गया है।

कुछ संस्कृत और प्राकृत कल्पकारों ने भी शत्रुञ्जय के संबंध में दिल खोल कर महिमा गान किया है।

शत्रुञ्जय तीर्थ के गुण गान करने वालों में मुख्यतया श्री धनेश्वरसूरि तथा श्री जिनप्रभसूरि का नाम लिया जा सकता है। धनेश्वरसूरिजी ने तो माहात्म्य के उपक्रम में ही अपना परिचय दे डाला है, वे कहते हैं—'वल्लभी नगरी के राजा शीलादित्य की

---

* चमरेन्द्र के शक्रेन्द्र पर चढ़ाई करने के विषय पर भगवती सूत्र में विस्तृत वर्णन मिलता है, परन्तु उसमें चमरोत्पात के स्थल पर स्मारक वनने और तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध होने की सूचना नहीं है। मालूम होता है, भगवान् महावीर के प्रवचन के व्यवस्थित होने के समय तक वह स्थान जैन तीर्थ के रूप में प्रसि[illegible] नहीं हुआ था।

प्रार्थना से विक्रम संवत् ७७७ (सात सौ सतहत्तर) में यह शत्रुञ्जय-माहात्म्य मैंने बनाया है। वे स्वयं अपने आप को 'राजगच्छ' का मण्डन बताते हैं। शत्रुंजय तीर्थ के संस्कृत कल्प-लेखक श्री जिन-प्रभसूरिजी विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् हैं, इसमें तो कोई शंका नहीं। इन्होंने वि० सं० १३८५ में यह कल्प लिखा है। इस कल्प की और शत्रुंजय-माहात्म्य की मौलिक वातें एक दूसरे का आदान-प्रदान रूप मालूम होती हैं, परन्तु धनेश्वरसूरिजी का अस्तित्व अष्टमी शताब्दी में होने का उनकी यह कृति ही अपवाद करती है। इस माहात्म्य में शीलादित्य का तो क्या चौदहवीं शदी के जीर्णोद्धारक समरसिंह तक का नाम लिखा मिलता है। इस स्थिति में इस ग्रन्थ को शीलादित्य कालीन धनेश्वरसूरि कृत मानना युक्ति संगत नहीं है। हमने पाटन गुजरात के एक प्राचीन ग्रन्थ भण्डागार में एक ताडपत्रों पर लिखी हुई प्राचीन ग्रन्थ सूची देखी थी जिसमें विक्रम की तेरहवीं शताब्दी तक में वने हुए सैंकड़ों जैन जैनेतर ग्रन्थों के नाम मिलते हैं परन्तु उसमें 'शत्रुंजय माहात्म्य' का तथा 'शत्रुञ्जय कल्प' का नामोल्लेख नहीं है। वृहट्टिप्पणिका नामक भारतीय जैन ग्रन्थों की एक वड़ी सूची जो सोलहवीं शताब्दी में किसी विद्वान् जैन श्रमण ने लिखी है, उसमें शत्रुंजय माहात्म्य का नाम अवश्य मिलता है, परन्तु टिप्पणि-लेखक ने इस ग्रन्थ के नाम के आगे "**कूट ग्रन्थ**" ऐसा अपना अभिप्राय भी व्यक्त कर दिया है। अष्टम शताब्दी से लगाकर चौदहवीं शताब्दी तक के किसी भी ग्रंथ में "**शत्रुञ्जय माहात्म्य**" ग्रंथ अथवा इसके कर्त्ता धनेश्वर सूरि का नामोल्लेख नहीं मिलता। इन सव वातों को ध्यान में रखते हुए हमें यही कहना पड़ता है कि "**शत्रुंजय माहात्म्य**" एक अर्वाचीन ग्रंथ है और इसमें लिखी हुई अधिकांश वातें अनागमिक हैं।

दृष्टान्त के रूप में हम एक ही वात का उल्लेख करेंगे। माहात्म्य ग्रन्थों में लिखा है कि "शत्रुंजय पर्वत" का विस्तार प्रथम आरे में ८०, द्वितीय आरे में ७०, तृतीय आरे में ६०, चतुर्थ आरे

में ५०, पंचम आरे में १२ योजन का होगा तब षष्ठ आरे में केवल ७ हाथ का ही रहेगा।" जैन आगमों का ही नहीं भूगर्भ वेत्ताओं का भी यह सिद्धान्त है कि पर्वत भूमि का हि एक भाग है। भूमि की ही तरह पर्वत भी धीरे-धीरे ऊपर उठता है। लाखों और करोडों वर्षो के बाद वह अपने प्रारंभिक रूप से बहुत बड़ा हो जाता है। तब हमारे इन शत्रुंजय माहात्म्यकारों की गंगा उल्टी बहती मालूम होती है, इस-लिए इस पर्वत के प्रारम्भ में अस्सी योजन का होकर अंत में बहुत छोटा होने का भविष्य कथन करते हैं। इसीसे इन कल्पों की कल्पितता बताने के लिए लिखना बेकार होगा, वास्तव में पीतल अपने स्वरूप से ही पीतल होता है, युक्ति प्रयोगों से वह सोना सिद्ध नहीं हो सकता।

हमारे प्राचीन साहित्य सूत्रादि में इसका विशेष विवरण भी नहीं मिलता ज्ञाता धर्म कथांग के सोलहवें अध्ययन में पांच पाण्डवों के शत्रुँजय पर्वत पर अनशन कर निर्वाण प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है इसके अतिरिक्त अंतकृद्दशाङ्ग सूत्र में भगवान् नेमिनाथजी के अनेकों साधुओं के शत्रुंजय पर्वत पर तपस्या द्वारा मुक्ति पाने का वर्णन मिलता है, इससे इतना तो सिद्ध है कि शत्रुंजय पर्वत हजारों वर्षो से जैनों का सिद्ध क्षेत्र बना हुआ है, यह स्थान भगवान् ऋषभदेव का विहार स्थल न मानकर, नेमिनाथ का तथा उनके श्रमणों का विहार स्थल मानना विशेष उपयुक्त होगा।

आवश्यक निर्युक्ति भाष्य, चूर्णि आदि से यह प्रमाणित होता है कि भगवान् ऋषभदेव उत्तर पूर्व और पश्चिम भारत के देशों में ही विचरे थे, दक्षिण भारत में अथवा सौराष्ट्र भूमि में वे कभी नहीं पधारे। जैन शास्त्रोक्त भारतवर्ष के नक्शे के अनुसार आज का सौराष्ट्र देश ऋषभदेव के समय में जल मग्न होगा अथवा तो एक अन्तरीप होगा, इसके विपरीत नेमिनाथ के समय में यह सौराष्ट्र भूमि समुद्र के बीच होते हुए भी मनुष्यों के बसने योग्य हो चुकी थी, इसी कारण से जरासन्ध के आतंक से बचने के लिए यादवों ने इस प्रदेश का

आश्रय लिया था, तथा इन्द्र के आदेश से उनके लिए कुवेर ने यहां द्वारिका नगरी का निवेश किया था, भगवान नेमिनाथ ने इसी द्वारिका के वाहर रैवतक पर्वत के समीप प्रव्रज्या ली थी और वहुधा इसी प्रदेश में विचरे थे, इस वास्तविक स्थिति को दृष्टि में रखते हुए, सौराष्ट्र प्रदेश तथा उज्जयन्त (गिरनार) और शत्रुंजय पर्वत भगवान् नेमिनाथ के विहार क्षेत्र मानेंगे तो, हम वास्तविकता के अधिक समीप रहेंगे।

६. मथुरा का देव निर्मित स्तूप—

मथुरा के देव निर्मित स्तूप का यद्यपि मूल आगमों में उल्लेख नहीं मिलता तथापि छेद सूत्रों के भाष्य चूर्णि आदि में इसके उल्लेख मिलते हैं, इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

"**मथुरा नगरी के वाहर वन में एक क्षपक (तपस्वी जैन साधु) तपस्या कर रहा था,** उसकी तपस्या और संतोषवृत्ति से वहाँ की वन-देवता तपस्वी साधु की तरफ भक्ति विनम्र हो गई थी, प्रतिदिन वह साधु को वन्दना करती और कहती—"मेरे योग्य कार्य-सेवा फरमाना," क्षपक कहता "मुझे तुम जैसी अविरत देवी से कुछ कार्य नहीं।" देवी जव भी क्षपक को कार्य सेवा के लिए उक्त वाक्य दोहराती, क्षपक भी अपनी तरफ से वही उत्तर दिया करता था, एक समय देवी के मन में आया, तपस्वी वार-वार मुझे कोई कार्य न होने का कहा करते हैं तो अव ऐसा कोई उपाय करूँ ताकि ये मेरी सहायता पाने के इच्छुक वनें। उसने मथुरा के निकट एक वड़े विशाल चौक में रात भर में एक वड़ा स्तूप खड़ा कर दिया दूसरे दिन उस स्तूप को जैन तथा वौद्ध धर्म के अनुयायी अपना-अपना मान कर उसका कब्जा करने के लिए तत्पर हुए। जैन स्तूप को अपना वताते थे, तव वौद्ध अपना, स्तूप में लेख अथवा किसी संप्रदाय की देवमूर्ति न होने के कारण, उसने जैन वौद्धों के वीच झगड़ा खड़ा कर दिया, परिणाम स्वरूप दोनों संप्रदायों के नेता न्याय के लिए राजा के पास पहुंचे और स्तूप का कब्जा दिलाने

की प्रार्थनाएँ की, राजा तथा उनका न्याय विभाग स्तूप जैनों का है अथवा बौद्धों का इसका कोई निर्णय नहीं दे सके।

जैन संघ ने अपने स्थान में मिलकर विचार किया, कि यह स्तूप दिव्य शक्ति से बना है, और देव साहाय्य से ही किसी संप्रदाय का कायम हो सकेगा। संघ में देव सहायता किस प्रकार प्राप्त की जाय इस वात पर विचार करते समय जानने वालों ने कहा, वन में अमुक क्षपक के पास वन-देवता आया करती है, अतः क्षपक द्वारा उस देवता से स्तूप प्राप्ति का उपाय पूछना चाहिए। संघ में सर्व सम्मति से यह निर्णय हुआ कि दो साधु क्षपक मुनि के पास भेजकर उनके द्वारा वन देवता की इस विषय में सहायता मांगी जाय।

प्रस्ताव के अनुसार श्रमण-युगल क्षपक मुनि के पास गया, और क्षपक जी को संघ के प्रस्ताव से वाकिफ किया, क्षपक ने भी यथाशक्ति संघ का कार्य सम्पन्न करने का आश्वासन देकर आए हुए मुनियों को वापस विदा किया।

नित्य नियमानुसार वन देवता क्षपक के पास आई, और वन्दन पूर्वक कार्य सेवा सम्बन्धी नित्य की प्रार्थना दोहराई, क्षपक ने पूछा, एक कार्य के लिए तुम्हारी सलाह आवश्यक है, देवता ने कहा—कहिये वह कार्य क्या है? क्षपक बोले—महीनों से मथुरा के स्तूप के सम्बन्ध में जैन बौद्धों के बीच झगड़ा चल रहा है, राजा न्यायाधिकरण भी परेशान हो रहे हैं, पर इसका निर्णय नहीं होता, मैं चाहता हूँ तुम कोई ऐसा उपाय बताओ और साहाय्य करो कि यह स्तूप संबन्धी झगड़ा तुरन्त मिटे और स्तूप जैनसम्प्रदाय का प्रमाणित हो।

वन देवता ने कहा—तपस्वीजी महाराज? आज मेरी सेवा की आवश्यकता हुई न? तपस्वीजी बोले—अवश्य यह कार्य तो तुम्हारी सहानुभूति से ही सिद्ध हो सकेगा।

देवी ने कहा—आप अपने संघ से सूचित करें कि वह आयन्दा राजसभा में यह प्रस्ताव उपस्थित करें—

"यदि स्तूप पर स्वयं श्वेत ध्वज फरकने लगे तो स्तूप जैनों का समझा जाय और लाल ध्वज फरकने पर बौद्धों का।"

क्षपक ने मथुरा जैन संघ के नेताओं को अपने पास बुलाकर वन देवतोक्त प्रस्ताव की सूचना की, संघ नायकों ने न्यायाधिकरण के सामने वैसा ही प्रस्ताव उपस्थित किया, राजा तथा न्यायाधिकारियों को प्रस्ताव पसन्द आया और बौद्ध नेताओं से इस विषय में पूछा, बौद्धों ने भी प्रस्ताव को मंजूर किया।

राजा ने स्तूप के चारों ओर रक्षक नियुक्त कर दिये, कोई भी व्यक्ति स्तूप के निकट तक न जाए, इसका पूरा पूरा बन्दोबस्त किया इस व्यवस्था और प्रस्ताव से नगर भर में एक प्रकार का कौतुकमय अद्भुत रस फैल गया, दोनों सम्प्रदाय के भक्तजन अपने अपने इष्ट देव का स्मरण कर रहे थे, तब निरपेक्ष नगर जन कब रात बीते और स्तूप पर फहराती हुई ध्वजा देखें, इस चिन्ता से भगवान भास्कर से जल्दी उदित होने की प्रार्थनाएं कर रहे थे।

सूर्योदय होने के पूर्व ही मथुरा के नागरिक हजारों की संख्या में स्तूप के इर्द-गिर्द स्तूप की ध्वजा देखने के लिये एकत्रित हो गये। सूर्य के पहले ही उसके सारथि ने स्तूप के शिखर पर दंड तथा ध्वज पर प्रकाश फेंका, जनता को अरुण प्रकाश में सफेद वस्त्र सा दिखाई दिया, जैन जनता के हृदय में आशा की तरंग बहने लगी! इसके विपरीत बौद्ध धर्मियों के दिल निराशा का अनुभव करने लगे। सूर्य देव ने उदयाचल के शिखर से अपने किरण फेंककर सब को निश्चय करा दिया कि स्तूप के शिखर पर श्वेत ध्वज फरक रहा है, जैन धर्मियों के मुखों से एक साथ **"जैनं जयति शासनम्"** की ध्वनि निकल पड़ी, और मथुरा के देव निर्मित स्तूप का स्वामित्व जैन संघ के हाथों में सौंप दिया गया।

मथुरा स्थित देव निर्मित स्तूप की उत्पत्ति का उक्त इतिहास हमनें सूत्रों के भाष्यों, चूर्णियों और टीकाओं के भिन्न-भिन्न वर्णनों को व्यवस्थित करके लिखा है, आचार्य जिनप्रभ सूरि कृत मथुरा कल्प में पौराणिक ढंग से इस स्तूप का विशेष वर्णन दिया है, जिसका संक्षिप्त सार पाठकगण के अवलोकनार्थ नीचे दिया जाता है।

श्री सुपार्श्वनाथ जिनके तीर्थवर्ती धर्मघोष और धर्मरुचि नामक दो तपस्वी मुनि एक समय विहार करते हुए मथुरा पहुंचे, उस समय मथुरा की लंबाई बारह योजन तथा विस्तार नव योजन परिमित था, उसके चारों तरफ दुर्ग बना हुआ था और पास में दुर्ग को नहलाती हुई यमुना नदी बह रही थी, मथुरा के भीतर तथा वाहर अनेक कूप वावड़ियां वनी हुई थीं, नगरी गृहपंक्तियों, हाटबाजारों और देव मन्दिरों से सुशोभित थी, इसका वाह्य भूमि भाग अनेक वनों, उद्यानों से घिरा हुआ था। तपस्वी धर्मघोष, धर्मरुचि मुनियुगल ने मथुरा के "**भूतरमण**" नामक उद्यान में चातुर्मासिक तप के साथ वर्षा चातुर्मास्य की स्थिरता की, मुनियों के तप, ध्यान, शान्ति आदि गुणों से आर्कषित होकर उपवन की अधिष्ठात्री "कुबेरा" नामक देवी उनके पास रात्रि के समय जाकर कहने लगी—मैं आपके गुणों से वहुत ही संतुष्ट हूँ, मुझसे वरदान मांगिये, मुनियों ने कहा हम निःसंग श्रमण हैं, हमें किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं यह कहकर उन्होंने 'कुबेरा' को धर्म का उपदेश देकर जैन धर्म की श्रद्धा कराई।

चातुर्मास्य की समाप्ति के लगभग कार्तिक सुदि अष्टमी को तपस्वियों ने अपने निवासस्थान की स्वामिनी जानकर कुबेरा को कहा—श्राविके! चातुर्मास्य पूरा होने आया है, हम यहाँ से चातुर्मास्य की समाप्ति होते ही विहार करेंगे, तुम जिन देव की पूजा-भक्ति तथा जैन धर्म की उन्नति में सहयोग देते रहना, देवी ने तपस्वियों को वहीं ठहरने की प्रार्थना की, परन्तु साधुओं का एक स्थान पर रहना, आचार-विरुद्ध बता कर उसकी प्रार्थना को अस्वीकृत कर दिया। कुबेरा ने कहा—यदि आपका यही निश्चय है, तो मेरे योग्य

धर्म कार्य का आदेश फरमाइये, क्योंकि देव दर्शन अमोघ होता है। साधुओं ने कहा मथुरा के जैन संघ के साथ हमें मेरु पर्वत पर लेजा, देवी ने कहा—आप दो को मैं वहाँ ले जा सकती हूँ, मथुरा का संघ साथ में होगा तो मुझे भय है कि मिथ्यादृष्टि देव मेरे गमन में विघ्न करेंगे। साधु बोले-यदि संघ को वहाँ लेजाने की तेरी शक्ति नहीं है, तो हम दोनों को वहां जाना उचित नहीं है, हम शास्त्र बल से ही मेरुस्थित जिन चैत्यों का दर्शन वन्दन कर लेंगे। तपस्वियों के इस कथन को सुनकर, लज्जित सी हो कुवेरा बोली,-भगवन् यदि ऐसा है तो मैं स्वयं जिन प्रतिमाओं से शोभित मेरु पर्वत का आकार यहां बना देती हूं। वहाँ पर संघ के साथ आप देव वन्दन कर लें, साधुओं ने देवी की बात को स्वीकार किया, तब देवी ने सुवर्णमय नाना रत्न शोभित अनेक देव परिवारित, तोरण ध्वज मालाओं से अलंकृत, जिसका शिखर छत्र त्रय से सुशोभित है ऐसा रात भर में स्तूप निर्माण किया, जो मेरु पर्वत की तरह तीन मेखलाओं से सुशोभित था। प्रत्येक मेखला में प्रति दिक् सम्मुख पंचवर्ण रत्नमय प्रतिमाएँ सुशोभित थीं, मूल नायक के स्थान पर भगवान सुपार्श्वनाथ का बिंब प्रतिष्ठित था।

प्रभात होते ही लोग स्तूप के पास एकत्र हुए और आपस में विवाद करने लगे, कोई कहता था—वासुकि नाग के लंछन वाला स्वयंम्भू देव है, तब दूसरे कहते थे—शेषशायी भगवान् नारायण है, इसी प्रकार कोई ब्रह्मा, कोई धरणेन्द्र (नागराज), कोई सूर्य, तो कोई चन्द्रमा कहकर अपनी जानकारी बता रहे थे। बौद्ध कहते थे-यह स्तूप नहीं, किन्तु 'बुद्धाण्डक' है, इस विवाद को सुन कर मध्यस्थ पुरुष कहते थे—यह दिव्य शक्ति से बना है और दिव्य शक्ति से ही इसका निर्णय होगा, तुम आपस में क्यों लड़ते हो, अपने अपने इष्ट देव को वस्त्र पट पर चित्रित करवा कर निज निज मण्डली के साथ ठहरो, जिसका स्तूप स्थित देव होगा, उसी का चित्रपट रहेगा, शेष व्यक्तियों के पट्ट स्थित देव भाग जायेंगे। जैन संघ ने भी सुपार्श्वनाथ का चित्रपट बनवाया, बाद में अपनी अपनी

मण्डलियों के साथ चित्रित चित्रपटों की पूजा करके सब धार्मिक सम्प्रदाय वाले उनकी भक्ति करने लगे। अपने-अपने पट सामने रखकर, भक्तजन अपने अपने ध्येय देव के गुण गान कर रहे थे। नवम दिन की रात्रि का समय था, बराबर अर्धरात्रि व्यतीत हुई, तब प्रचण्ड पवन प्रारम्भ हुआ, पवन से तृण रेती उड़े इसमें तो बड़ी बात नहीं थी, परन्तु उसकी प्रचण्डता यहां तक बढ़ चली, कि उसमें पत्थर-कंकर तक उड़ने लगे, तब लोगों का धैर्य टूटा, वे प्राण बचाने की चिन्ता से वहां से भागे, लोगों ने अपने अपने सामने जो देव पूजा पट्ट रखे थे, वे लगभग सब के सब प्रचण्ड पवन में विलीन हो गये, केवल सुपार्श्वनाथ का एक पट्ट वहाँ रह गया, हवा का बवण्डर शान्त हुआ, लोग फिर एकत्रित हुए और सुपार्श्वनाथ का पट्ट देखकर बोले, यह अरिहन्त देव हैं और यह स्तूप भी इसी देव की मूर्तियों से अलंकृत है, लोग उस पट्ट को लेकर सारे मथुरा नगर में घूमे, और तब से 'पट्ट यात्रा' प्रवृत्त हुई।

इस प्रकार धर्मघोष तथा धर्मरुचि मुनि मेरुपर्वताकार देव निर्मित स्तूप में देववन्दन कर नया तीर्थ प्रकाश में लाकर, जैन संघ को आनन्दित कर मथुरा से विहार कर गए, और क्रमशः कर्म क्षय कर संसार से मुक्त हुए।

'कुबेरादेवी स्तूप की तब तक रक्षा करती रही, जब कि पार्श्वनाथ का शासन प्रचलित हुआ।'

'एक समय भगवान् पार्श्वनाथ विहार क्रम से मथुरा पधारे और धर्मोपदेश करते हुए भावि दुष्षमा काल के भावों का निरूपण किया, पार्श्वनाथ के वहां से विहार करने के वाद कुबेरा ने संघ को बुलाकर कहा—भविष्य में समय कनिष्ठ आने वाला है, कालानुभाव से राजादि शासक लोभग्रस्त बनेंगे, और इस सुवर्णमय स्तूप को नुकसान पहुंचायेंगे, अतः स्तूप भीतर को इंटों के परदे से ढ़ांक दिया जाय, भीतर की मूर्तियों की पूजा में अथवा मेरे बाद जो नयी कुवेरा उत्पन्न होगी वह करेगी, संघ इष्टकामय स्तूप में भगवान्

पार्श्वनाथ की प्रस्तरमय मूर्ति प्रतिष्ठित करके पूजा किया करे, देवी की वात भविष्य में लाभदायक जानकार संघ ने मान्य की और देवी ने विचारित योजनानुसार मूल स्तूप को ईंटों के स्तूप से ढाँप दिया।

वीर निर्वाण की चौदहवीं शताब्दी में आचार्य वप्पभट्टि हुए, उन्होंने भी इस तीर्थ का उद्धार करवाया, पार्श्वनाथ की पूजा करवाई, नित्य पूजा होती रहे इसके लिए व्यवस्था करवाई।

इष्टकामय स्तूप पुराना हो जाने से उसमें से इंटें निकलने लगी थीं, इसलिए संघ ने पुराने स्तूप को हटाकर नया पाषाणमय स्तूप वनवाने का निर्णय किया, परन्तु कुवेराने स्वप्न में कहा—इष्टकामय स्तूप को अपने स्थान से न हटाइये, इसको मजवूत करना हो तो ऊपर पत्थर का खोल चढ़वा दो, संघ ने वैसा ही किया, आज भी देवनिर्मितस्तूप को अदृश्य रूप से देव पूजते हैं, तथा इसकी रक्षा करते हैं, हजारों प्रतिमाओं से युक्त देवलों, रहने के स्थानों, सुन्दर गन्ध कुटियों तथा चेलनिका, अंवा, अनेक क्षेत्रपाल आदि के निवासों से यह स्तूप सुशोभित है।

'पूर्वोक्त वप्पभट्टिसूरि ने जो कि ग्वालियर के राजा आम के धर्मगुरु थे, मथुरा में वि० सं० ८२६ में भगवान् महावीर का विम्ब प्रतिष्ठित किया।'

मथुरा के देवनिर्मित स्तूप की उत्पत्ति का निरूपण शास्त्रीय प्रतीकों तथा मथुराकल्प के आधार से ऊपर दिया गया है, कल्पोक्त वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण हो सकता है, परन्तु एक वात तो निश्चित है कि यह स्तूप है अति प्राचीन और भारत में विदेशियों के आने के समय यह स्तूप जैनों का एक महिमास्पद तीर्थ बना हुआ था। वर्ष के अमुकसमय में यहां स्नानमहोत्सव होता और उस प्रसंग पर भारतवर्ष के कोने-कोने से तीर्थ-यात्रिक यहाँ एकत्र होते थे, ऐसा प्राचीन जैन साहित्य के उल्लेखों से सिद्ध होता है। इस बात के समर्थन में निशीथ भाषा की एक गाथा तथा उसकी चूर्णिका उद्धरण नीचे देते हैं—

"थूभमह सढ्ढि-समणि, बोहियहरणं च निवसुयातावे ।
मग्गेण य अक्कंदे, कयंमि युद्धेण मोएंति ॥"

अर्थात्—'मथुरा के स्तूप महोत्सव पर जैन श्राविकाएं तथा जैन साध्वियां जा रही थीं, मार्ग में "बोधिक लोग" उन्हें घेरकर अपने साथ ले चले, आगे जाते मार्ग के निकट आतापना करते हुए, एक राजपुत्र प्रव्रजित जैन-मुनि को देखा, उन्हें देखते ही यात्रार्थिनियों ने आक्रन्दन (शोर) किया, जिसे सुनकर मुनि उनकी तरफ आए और बोधिकों से युद्ध कर श्राविकाओं तथा साध्वियों को उनके पंजे से छुड़ाया ।

उक्तगाथा की विशेष चूर्णि नीचे लिखे अनुसार है—

"महुराए नयरीए थूभो देवनिम्मिओ तस्स महिमानिमित्तं सढ्ढी तो समणीहिं समं निग्गयातो, रायपुत्तो तत्थ अदूरे आयावंतो चिट्ठइ। ता सढ्ढीसमणीतो बोहियेहिं गहियातो तेणंतेणं आणियातो ता ताहिं तं साहूँ दढ्दूणं अक्कंदो कओ ततो रायपुत्तेण साहुणा युद्धं दाऊण मोइयातो । बोधिका अनार्यम्लेच्छाः" (नि.वि.चू. २६ = २)

अर्थात्—चूर्णिका भावार्थ गाथा के नीचे दिये हुए अर्थ में आ चुका है, इसलिये चूर्णि का अर्थ न लिखकर चूर्णिकार के अन्तिम शब्द 'बोधिक' शब्द पर ही थोड़ा ऊहापोह करेंगे ।

जैन सूत्रों के भाष्यादि में 'बोहिय' यह शब्द बार-बार आया करता है, प्राचीन संस्कृत टीकाकार 'बोहिय' शब्द का संस्कृत 'बोधिक' शब्द बनाकर कहते हैं, 'बोधिक' पश्चिम दिशा के म्लेच्छों को कहते हैं । प्राकृत टीकाकार कहते हैं—मनुष्य का अपहरण करने वाले, म्लेच्छ 'बोहिय' कहलाते हैं, हमारा अनुमान है कि 'बोधिक' अथवा 'बोहिय' कहलाने वाले लोग 'बोहीमिया के रहने वाले विदेशी थे, वे यूनानियों के भारत पर के आक्रमण के समय भारत की पश्चिम सरहद पर इधर-उधर पहाड़ी प्रदेशों में फैल गए थे,

मौर्य चन्द्रगुप्त के शासन काल में भारत के पश्चिम तथा उत्तर प्रदेशों में घुसकर ये मनुष्यों को पकड़-पकड़ कर ले जाते और विदेशों में पहुंचाकर, गुलाम खरीददारों के हाथ बेच दिया करते थे, उपर्युक्त हमारा अनुमान ठीक हो तो इसका अर्थ यही हो सकता है कि मथुरा का स्तूप मौर्य राज्यकाल का होना चाहिये।

मथुरा का देव निर्मित स्तूप आज भी मथुरा के कंकाली टीला के रूप में भग्न अवस्था में खड़ा है। इसमें से मिली हुई कुषाण कालीन जैन-मूर्तियां, आयाग-पट जैनसाधुओं की मूर्तियां आदि ऐतिहासिक साधन आज भी मथुरा तथा लखनऊ के सरकारी संग्रहालयों में सुरक्षित हैं, उन पर राजा कनिष्ठ, हुविष्क, वासुदेव के राज्य काल के लेख भी उत्कीर्ण हैं, इससे ज्ञात होता है कि यह तीर्थ विक्रम की दूसरी शताब्दी तक उन्नत दशा में था। उत्तर भारत में विदेशियों के आक्रमण से खास कर श्वेतहूणों के समय में जैन श्रमण तथा जैन गृहस्थ सामूहिक रूप से दक्षिण भारत की तरफ राजस्थान, मेवाड़, मालवा आदि में चले गये और उत्तर भारत के अनेक जैन तीर्थ रक्षण के अभाव से वीरान हो गए थे, जिनमें मथुरा का देव निर्मित स्तूप भी एक है।

(१०) सम्मेतशिखर (तीर्थ)

सूत्रोक्त जैन तीर्थों में सम्मेत शिखर (पारसनाथ-हिल) का नाम भी परिगणित है, आवश्यक-निर्युक्तिकार कहते हैं—ऋषभदेव वासुपूज्य, नेमिनाथ और वर्धमान (महावीर) इन चार तीर्थंकरों को छोड़, शेष इस अवसर्पिणी समा के वीस तीर्थङ्कर सम्मेत शिखर पर निर्वाण हुए थे, इस दशा में सम्मेतशिखर को तीर्थंकर की निर्वाण भूमि होने के कारण तीर्थ कहते हैं।

पन्द्रहवीं शताब्दी में निगम गच्छ के प्रादुर्भावक आचार्य इन्द्रनन्दी के बनाये हुए "**निगमों**" में एक निगम "**सम्मेत शिखर**" के वर्णन में लिखा गया है, जिसमें इस तीर्थ का बहुत ही अद्भुत वर्णन

किया है, आज से ४० वर्ष पहले ये निगम कोड़ाय (कच्छ) के भण्डार में से मँगवा कर हमने पढ़े थे ।

ऊपर लिखे सूत्रोक्त दश प्राचीन तीर्थों के अतिरिक्त वैभारगिरि, विपुलाचल, कोशला की जीवित स्वामि प्रतिमा, अवन्ति की जीवित स्वामि प्रतिमा आदि अनेक प्राचीन पवित्रतीर्थों के उल्लेख सूत्रों के भाष्य आदि में मिलते हैं, परन्तु इन सबका एक प्रबन्ध में निरूपण करना अशक्य जानकर उन्हें छोड़ देते हैं ।

शारीरिक स्वास्थ्य ठीक न होने की दशा में भी प्राचीन तीर्थों के विषय में कुछ पृष्ठ लिखने का साहस किया है, इस दशा में इस लेख में रही हुई त्रुटियों को पाठक गण क्षन्तव्य गणेंगे । इस आशा के साथ तीर्थ विषयक लेख यहां पूरा किया जाता है ।

(२) आबू तीर्थ की यात्राओं के संस्मरण—

आज हमने १४ वर्ष के बाद ता० ११-५-१६४१ को आबू तीर्थराज के दर्शन किये, अर्बुदगिरि की शीतल हवाने तन को और तीर्थंकर देवों की प्रशान्त मुद्रा धारिणी मूर्तियों के दर्शन ने मन को जो शान्ति प्रदान की उसका वर्णन होना कठिन है ।

आज तक हम चार बार आबू पर चढे और यात्राएँ की, पहली बार सं. १६६५ के वैशाख में, दूसरी बार १६८२ के वैशाख में तीसरी बार १६८३ के चैत्र में और चौथी बार १६६८ के वैशाख में, इन चारों ही यात्राओं के समय क्रमशः ४-२०-४७ और १० दिन आबू पर ठहरे थे ।

पहली बार दर्शन करके उतर गये थे, दूसरी बार देलवाड़ा तथा अचलगढ़ के मन्दिरों के लेख पढ़े और लिखे गये, तीसरी बार अवशिष्ट लेखों को उतारा और अन्यान्य स्थानों का अवलोकन किया, चौथी बार की यात्रा का उद्देश्य केवल तीर्थ दर्शन करने का था, फिर भी प्रसंगवश कई बातों का अवलोकन और अनुभव हो ही गया ।

प्रकृति-परिवर्तन

सं. १९६५ की यात्रा में आबू पर वनस्पति जल और शीतलता आदि प्राकृतिक पदार्थों का जो आधिक्य दृष्टिगोचर हुआ था, वह वाद की यात्राओं में नहीं देखा गया और दूसरी, तीसरी, यात्रा के समय जो प्राकृतिक सौन्दर्य देखा गया था, उसमें अव की वार पर्याप्त ह्रास नजर आया।

पहली यात्राओं के समय में हम कई वार आहार पानी करके दुपहर को अन्यान्य स्थानों का अवलोकन करने जाते थे, पर कड़ी धूप और मार्ग में कड़ी गर्मी का कभी अनुभव नहीं होता था, परन्तु अव वह वात नहीं रही, अव तो दुपहर को नंगे पैरों भ्रमण करना लगभग अशक्य हो गया है, इस प्राकृतिक परिवर्तन का मुख्य कारण वृष्टि और वनस्पति का कम होना है, आबू की वृष्टि का औसत ६१ इन्च के ऊपर का है, पर बहुधा अव यह देखा जाता है कि ३० इंच से अधिक शायद ही आबू ऊपर पानी पड़ता हो। वृष्टि की कमी से वनस्पति भी काफी कम हो गई है। अगर कुदरत की रफ्तार यही रही तो भय है कि आबू भी कालान्तर में अन्य सामान्य पर्वतों की कोटि में आकर रह जायगा।

यात्रियों की आमद रफ्त—

सं० १९६५ की यात्रा के समय आबू पर यात्रियों की आमद रफ्त अधिक नहीं थी, पांच दस यात्री प्रतिदिन आते और जाते, धर्मशाला का अधिक भाग खाली पड़ा रहता था, परन्तु बाद में स्थिति ने पलटा खाया, सं० १९८२-८३ में और आज भी यात्रिक पर्याप्त संख्या में आते जाते हैं, धर्मशालाएं बहुधा भरी रहती हैं, प्रतिदिन ४०-५० यात्रिक आते जाते रहते हैं, तीर्थ व्यवस्थापक पीढ़ी में भी काफ़ी चहल पहल रहती हैं, यह सब होते हुए भी एक वात खटकने वाली ज्ञात हुई है, वह यह है कि आजकल यात्रिकों से उतनी आमदनी नहीं होती जितनी १५ वर्ष पहले होती थी, मुनीमजी के कहने मुजब तो आजकल आमदनी से खर्चा भी पूरा नहीं होता।

हमारी समझ मुजब इसके तीन कारण हो सकते हैं, एक ता जैन धार्मिक भावना का ह्रास, दूसरा समाज की आर्थिक स्थिति की कमजोरी और तीसरा व्यवस्थापक मैनेजर की अयोग्यता। पेढी के अधिकारियों को इन कारणों की जांच करना चाहिए।

दूसरी यात्रा के दिनों का उपयोगः—

हमारी सं० १६८२ की यात्रा के २० दिन खासकर मन्दिरों के शिलालेखों को उतारने में लगे थे, इन बीस दिनों में हमने देलवाड़ा और अचलगढ़ के जैन मन्दिरों के बहुत से शिलालेख उतार लिये थे, यद्यपि शिलालेखों का कार्य कुछ अधूरा था, फिर भी गांव सिन्दरिया के उद्यापन पर जाना जरूरी होने से आबू से उतर गये थे।

तीसरी यात्रा के समय का उपयोग

सं० १६८३ की यात्रा का काल बड़ा लम्बा रहा, इस साल हम चैत्र सुदि में ही ऊपर चढ़ गये थे, जो ज्येष्ठ सुदि में वहां से उतरे।

इस साल विजयेन्द्रसूरिजी, उपा० मंगलविजयजी, मुनि श्री जयन्तविजयजी, विशालविजयजी भी आबू पर थे और बहुत दिन ठहरे थे, इन्द्रसूरिजी का अधिक समय भ्रमण और अन्यान्य विशिष्ट व्यक्तियों की मुलाकातों में पूरा होता था। उपा० मंगलविजयजी आदि भी कभी कभी फिरने जाया करते थे, परन्तु मुनि जयन्तविजयजी का लक्ष्य मन्दिरों के शिलालेखों के पढ़ने और समझने में लगा हुआ था। वे बहुधा हमारे साथ मन्दिरों में आते, लेख पढ़ते और मन्दिरों के गुम्बजों में खुदे हुए चरित्रचित्रों को समझने का यत्न करते थे, उस वक्त इनका विचार केवल "आबू गाइड़" लिखने का था, शिलालेखसंग्रह इन्होंने बाद में किया।

प्रस्तुत वर्ष में भगवान् महावीर का जन्म कल्याणकोत्सव देलवाडा की धर्मशाला में मनाया था, नींबडी दरबार सर दौलतसिंह

जी और मिस् शार्प वगैरह सभा में उपस्थित थे।

इस यात्रा के समय हमारे आबू चढ़ने के बाद पन्द्रह दिनों में योगी श्री शान्तिविजयजी भी आबू ऊपर आ गए थे। वे हमें प्रतिदिन मिलते थे, उनका रवैया प्रत्येक व्यक्ति को अपना 'मित्र' बनाने का रहता था, हमारे और इनके आपस में ठीक पटती थी, पर इन्द्रसूरिजी के और इनके नहीं बनती थी, आज भी इनके पास आने वालों की भीड़ ठीक रहती है, पर पहले की और अब की इनकी वृत्तियों में विशेष अन्तर पड़ गया है।

सं० १९८३ की यात्रा में वसिष्ठाश्रम, ट्रेवरताल, अर्बुदादेवी और आबू की कुछ गुफायें देखी थीं, जहां स्वामी कैवल्यानन्द, अमरनाथ आदि विद्वान् सन्यासियों से मुलाकातें हुई थीं।

चौथी यात्रा

सं० १९८२ और १९८३ की यात्राओं में प्राकृतिक और कृत्रिम सौन्दर्य के अवलोकन से जो आनन्द मिला था, उसी के संस्मरणों ने वर्तमान वर्ष की यात्रा के लिए हमें प्रोत्साहित किया और सं० १८९८ के वैसाख सुदि १ को पाडीव से खास आबू के लिये प्रयाण किया और वैशाख सुदि ६ को हनादरे की नाल से आबू ऊपर चढ़े।

यद्यपि लोग इस रास्ते को सड़क कहते हैं पर मैंने इस मार्ग के लिए 'नाल' शब्द का प्रयोग किया है, जो सहेतुक है, बीसवीं सदी के प्रथम चरण तक जब कि अंग्रेज इस रास्ते से चढ़ते उतरते थे, यही सड़क होगी ऐसा वहां लगे हुए माइल के अंक सूचक पत्थरों से ज्ञात होता है। जब हम १९६५ में यहाँ से चढ़े थे तब तलहटी से २ फर्लांग ऊपर तक सड़क दिखती थी, पर बाद में वह भी गायब हो गई, इस समय सिवा माइलेज के पत्थरों के नीचे से ऊपर तक सड़क की कोई निशानी नहीं है, हाँ चढ़ाव पूरा होकर जहाँ समतल भूमि आती है और आबू के केम्प के रहने वाले टहलने

आया करते हैं, वहां से फिर सड़क अपने रूप से दीखने लगती है।

इस विकट नाल से चढ़ने उतरने में यात्रियों को जो कष्ट होता है उसको वे ही समझ सकते हैं जो यहां से चढ़ते उतरते हैं। यहाँ से चढ़ते हुए टट्टुओं को देखकर तो हमारा हृदय कांप ही उठा, बेचारे चढ़ते क्या थे गिन गिन कर पैर रखते थे, जिन्हें देखकर कसाई को भी दया आती थी। बेरहमी के साथ मुंडका वसूल करने वाले सिरोही दरबार और उनके प्रधान मंत्री एक बार इस रास्ते से चढ़ उतर कर देखें और फिर सोचें कि इस विषय में उनका कोई कर्त्तव्य भी है या नहीं ?

खटमलों का उत्पात

हमारी इस यात्रा का कुछ मजा तो मार्ग की खराबी ने किर-किरा कर दिया था, और बाकी खटमलों ने। पहले की किसी भी यात्रा में हमने आबू पर खटमलों का त्रास नहीं देखा था, पर इस वर्ष यह नई बला गले पड़ी, उपाश्रय काफी बड़ा था पर खटमल इतने कि कम से कम मुझे तो रातभर निद्रा नहीं आई। दूसरे दिन मुनीमजी से कह सुनकर धर्मशाला की एक कोठरी खुलवाई पर वहां भी वही बात ! गभराकर तीसरे दिन अचलगढ़ चले गये।

अचलगढ़ में पांच दिन

अचलगढ़ में स्थान की तंगी का अनुभव हुआ, बड़ी देर के बाद ऊपर के भाग में एक छोटी सी कोठरी मिली, खटमलों की शंका तो वहां भी बनी रही, फिर भी पहली रात कुछ शांति से बीती, पर दूसरी रात को हमारे निवास का पता खटमलों को लग ही गया और सामने सोते हुए यात्रियों की पथारियों से वे हमारी कोठरी में आ धमके और सारी रात रात्रि जागरण कराया।

तीसरे दिन कोठरी के पास वाले तिलक वृक्ष के नीचे प्रति-लेखना प्रमार्जनाकर रक्खी और प्रतिक्रमण के अनन्तर वहाँ जाकर

आसन जमाया, यद्यपि खटमलों से छुटकारा मिल गया पर हवा इतनी तेज कि वहां सोना कठिन हो गया, फिर भी कंबल में छिप कर किसी तरह सोता तो पवन के झपाटों से डोलती और आपस में लिपटती छूटती डालियों के नीचे नींद कहाँ ?

चौथे दिन बड़े मन्दिर के सोपान मार्ग के पास एक प्रस्तर शिला की प्रतिलेखना की और प्रतिक्रमण के बाद बैठने सोने का वहां रक्खा, दो रातें यहां बिताई और अचलगढ़ का पाँच दिन का प्रोग्राम पूरा किया।

गुरु शिखर का अवलोकन

आबू अचलगढ़ के बहुत से दर्शनीय स्थान पूर्वयात्राओं में देख लिये थे; सिर्फ गुरुशिखर देखना रह गया था, वह इस वक्त देख लिया। वै. सु. ११ को प्रातःकाल, मैं और मुनि सौभाग्य विजयजी दोनों अचलगढ़ से ओरिसा होकर गुरुशिखर पर चढ़े और वहां के दर्शनीय स्थानों को देखकर सवा दस वजे वापस अचलगढ़ आ गये।

योगी श्री शांतिविजयजी की मुलाकात

आजकल योगी श्री शांतिविजयजी का मुकाम अचलगढ़ में है, हम गये तब आप कारखाने के पास वाले मकान में थे, हम आहार पानी से निपट चुके थे कि योगीराज के अनुचर साधु ने आकर कहा---'गुरुदेव आपसे मिलने के लिए बहुत उत्कण्ठित हैं' पर मेरी तबीयत अस्वस्थ थी, उन्निद्रता के कारण सिर में दर्द हो रहा था, अतः चार पांच वार आमन्त्रण आने पर भी उस दिन मैं उनसे मिल नहीं सका, दूसरे दिन तीन वजे योगीराज का आमन्त्रण स्वीकार कर हम उनके स्थान पर गए, लगभग १४ वर्ष के बाद उनसे एक वार फिर मिले।

१९८३ के और १९९८ के शांति विजयजी में मैंने बहुत कम

अन्तर पाया, हां, अवस्था में और ठाट में कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ था। १९८३ के शांति विजयजी प्रौढ़ दीखते थे, अब कुछ वृद्ध, तब इनके वाल काले कम वढ़े हुए थे और अब श्वेत डाढ़ी मूंछें काफी बढ़ी हुई थीं, तव ये जमीन पर सादे कम्बल के आसन पर बैठते थे और अव विना पाये के पट्ट पर विछी हुई गद्दी पर बैठते हैं, कुछ इंग्लिश वाक्य भी बोल दिया करते हैं और इस वक्त तो दो पांच टूटे फूटे संस्कृत वाक्य भी इनके मुख से सुने गये थे। यह सब होते हुए भी सामान्य रूप से यही कहना पड़ता है कि ये किसी भी भाषा के अच्छे जानकार नहीं हैं।

१९८३ में योगीराज के पास अनेक मनुष्य आते थे और आज भी आते हैं, पर उस समय कोई स्थायी नहीं रहता था, आज कुछेक मनुष्य स्थायी जसे रहते हैं, उस समय इनके पास साधु साध्वी कोई नहीं था, आज दो एक साधु और कुछ साध्वियां रहा करती हैं, योगिजी का यह चतुर्विध संघ प्रति प्रातःकाल इनकी वासक्षेप से नवांग पूजा करता है और शाम को आरती तथा भजन गाता है।

भक्त मण्डल का जमघट

दिन भर इनके पास या बाहर के भाग में इनकी भक्त मण्डली वैठी ही रहती है, प्रतिदिन जो नये तीर्थ यात्रिक आते हैं वे भी दर्शन तो कर जाते हैं परन्तु ठहरते कम हैं, जो खास इनके भाविक होते हैं या नये भाविक वनते हैं, वे ठहर जाते हैं और फिर वे योगिजी के हुकम बिना वहां से जाने नहीं पाते।

हमने यह देखा कि वहां का वातावरण ही ऐसा वना दिया गया है कि इन पर विश्वास रखने वालों के दिल में बहुत जल्दी यह बैठ जाता है कि गुरुदेव के हुकम बिना यहां से चले जाना मानो खतरा मोल लेना है। अक्सर वहां के स्थायी रहने वाले भक्त लोग नजीरियां दिया करते हैं कि **"अमुक सेठ गुरुदेव के हुक्म बिना गया तो रास्ते में मोटर एक्सीडेंट होकर वह मर गया, अमुक**

मनुष्य हुक्म विना गया और रास्ता भूलकर जंगल में भटक पड़ा और लू लगकर मर गया।" ऐसी ऐसी अनेक गल्त नजीरियां देकर मुंजावर लोग वातावरण ऐसा बनाये रखते हैं कि कमजोर दिल वालों को वहां से हुक्म के विना जाना कठिन हो जाता है। पहर दो पहर ठहरने का विचार करके जाने वाले मनुष्य हफ्तों तक वहां से निकलने नहीं पाते। "उनसे पूछा जाय कि आप जल्दी लौटने का कहते थे और अब तक यहीं हैं! तो उत्तर यही मिलेगा कि गुरुदेव का हुक्म नहीं मिलता। छः छः महिनों से जो साध्वियां यहां बैठी हुई हैं, उनसे पूछा गया कि तुमको आये तो बहुत दिन हो गये हैं? उत्तर मिला हां, क्योंकि गुरुदेव को विहार के लिए आज्ञा नहीं मिलती।"

ऊपर की सब बातें ठीक हैं, इनमें सन्देह की गुन्जाइश नहीं, फिर भी शान्तिविजयजी कम होशियार आदमी नहीं हैं, ये सभी को सदाकाल रुकने को भी नहीं कहते, सामान्य रूप से सबको ठहरने के लिए कहने की इनकी सामान्य आदत है, पर जब ये जान लेते हैं कि यह मनुष्य अपने प्रभाव नीचे नहीं है और रोकने पर भी नहीं रुकेगा, उसे रोकने का आग्रह नहीं करते, आशीर्वाद और जाने का हुक्म जल्दी दे देते हैं। इसके विपरीत जिन मनुष्यों पर पूरा या थोड़ा बहुत भी इनका प्रभाव पड़ जाता है, उनको जाने के लिए हुक्म देना इनकी मरजी पर रहता है, मैं ऐसे कई मनुष्यों को जानता हूं, जो इनके पास वर्षों तक रह आये हैं, इनमें से अधिकांश धनार्थी थे, जिन्होंने किसी भी अंश तक अपनी इच्छा सफल होने पर ही इनका पीछा छोड़ा है।

जन समवाय बनाये रखने का प्रयोजन

भक्तों को जाने के लिए जल्दी रजा न देने के कारणों की खोज में मैंने जो कुछ पाया उसका सार यह है—एक तो इनको धूम धाम से अधिक प्रेम है, इस प्रसिद्ध जीवन के पहले भी ये जिन जिन गाँवड़ों में जाते श्रावकों को पूजाओं और उत्सवों के लिए

आग्रह किया करते और जहां अपना आग्रह सफल हो जाता वहीं विशेष स्थिरता करते, आज भी इनकी वही उत्सव प्रियता बनी हुई है। छुटकारा न मिलने से उनके निकट सौ पचास मनुष्यों का मेला और चहल पहल बनी रहती है और इससे योगीजी को बड़ा आनन्द रहता है, ये भले ही पहाड़ों में, जंगलों में रहें पर इनको निर्जनता से प्रेम नहीं, लोगों के कोलाहल, भक्तों के आरती गीत और स्त्रियों के गीतों गरबों के श्रवण में इनको खासा रस है।

योगीराज की प्रतिष्ठा-प्रियता

प्रतिष्ठाओं, अञ्जनशालाकाओं और जन सम्मेलनों को जुड़ाने और उनमें अगुआ बनने का तो योगीजी को निःसीम ही प्रेम है, मूर्तियों की आवश्यकता हो, चाहे न हो पर जहां इनको प्रमुखता में विम्बप्रवेश का भी प्रसंग होगा, वहीं योगीजी के नाम से शिला-लेख तो मूर्तियों पर खोदे ही जायेंगे। यह प्रतिष्ठा-प्रेम कई बार औचित्य का उल्लंघन कर चुका है और इसके परिणाम स्वरूप योगीजी ने अपने हितैषियों को भी शत्रु बनाया है।

वेशभूषा

योगी श्री शांतिविजयजी के वेष में जैन और जैनेतर साधुओं के वेष का संमिश्रण है, रजोहरण (ओघा), मुंहपत्ती, सफेद चादर चोलपट्टक वगैरह जैन श्रमण वेष के प्रतीक हैं, तब लंगोट, नित्य जलस्नान आदि बातें तीर्थान्तरीय साधुओं की वेशभूषा के द्योतक हैं।

आचार

योगीजी का आचार भी अर्ध जैन है। आजकल वे बहुधा पाक्षिक प्रतिक्रमण में बैठते हैं और पारिपार्श्विक साधु प्रतिक्रमण पढ़ाते हैं, भक्त मंडली भी उनके साथ बैठती है, पर नित्य प्रतिक्रमण न आप करते हैं न आपकी भक्त मंडली। इस बार हमारे सामने

आपने यह अवश्य कहा था कि मैं हमेशा प्रतिलेखना करता हूं, परन्तु हमें इस वात पर विश्वास नहीं आया, क्योंकि इनके चिर परिचित मनुष्य इस वात का समर्थन नहीं करते।

भक्तजनों के सिर पर वासक्षेप करना यह जैन श्रमणों का आचार है, पर स्त्रियों और लड़कियों के सिर पर हाथ रखना जैन मुनियों का आचार नहीं, योगीजी पुरुषों और लड़कों के उपरान्त भक्त स्त्रियों और लड़कियों के सिर पर भी अपना वरद हाथ रखते हैं, इसके अतिरिक्त रुग्ण स्त्रियों के रोगपीड़ित अंगों पर भी आप अपना हाथ फिराते हैं।

सिद्धान्त और उपदेश

योगी महाशय के विचार किसी एक ही सिद्धान्त पर अवलंबित नहीं है, जैनों को वे 'ॐ अर्हं नमः' के जाप का उपदेश करते हैं तब जैनेतर व्यक्तियों को केवल 'ॐ नमः' जपने का उपदेश देते हैं। भक्तों को मालाएँ पकड़ाते हैं और कम से कम एक घंटा और अधिक से अधिक यथा शक्ति मौन रखने का उपदेश करते हैं। इनके पास जो अपनी इच्छा से सामायिक करने का नियम लेता है उसे भी घंटा भर मौन में रहकर सामायिक पूरा करने को कहते हैं, इनके यहाँ ६० मिनिट से कम का सामायिक नहीं है। वस्तुतः ये सामायिक प्रतिक्रमण, देवपूजा या देवदर्शन का उपदेश नहीं देते और न इनमें से किसी क्रिया का विरोध ही करते। इनके उपदेश का विषय ध्यान, मौन और जाप हैं। गौण रूप से अहिंसा और मांस मदिरा के त्याग का भी उपदेश करते हैं। इसके उपरान्त आप भक्तों को प्रतिवर्ष दर्शनार्थ आने का भी नियम कराते हैं, ऐसे कई मनुष्य हमें मिले हैं, जिनके वर्ष भर में एक, दो बार शान्ति विजयजी के पास जाने का नियम है।

आप अपना सिद्धान्त विश्व प्रेम वताते हैं, आपका कहना है— 'सवके ऊपर प्रेम रक्खो, किसी की निन्दा या वुराई न करो', आपके

इस उपदेश की गहराई कितनी होगी यह कहना कठिन है। आपके भक्त लोगों के बर्ताव से तो उपदेश का थोथापन कई बार प्रकट हो चुका है। आपके विरुद्ध बोलने वालों को पुलिस के जरिये हटाने और न मानने पर गिरफ्तार करवा कर सजा दिलवाने के प्रसंग तक सुनने में आये हैं। तात्पर्य यह है कि अपनी प्रसिद्धि के बाधक मनुष्य कंटकों को मार्ग में से उखाड़ फेंकने में आप कभी प्रमाद नहीं करते, परिणाम इसका वही होता है जो होना चाहिए।

योगीजी का आहार

शान्तिविजयजी के आहार के सम्बन्ध में साधारण जनता बहुत अंधेरे में है, कोई कहता है—वे केवल फलाहार पर रहते हैं, किसी की समझ है कि वे केवल दुग्धपान पर रहते हैं, तब कोई कोई तो यहां तक कह डालते है कि वे केवल छांस पर गुजरते हैं, परन्तु जहां तक हमें ज्ञात हुआ है उक्त सब बातें गल्त हैं, सच बात यह है कि आपकी मुख्य खुराक दूध और फल है, दूध में बकरी का दूध और फल में संतरा मुख्य है।

दो वर्ष पहले जब आप उम्मेदपुर की प्रतिष्ठा पर गये थे और वहां से पादरली, तखतगढ़, बांकली, खीवानदी, सुमेरपुर, शिवगंज विगैरह गांवों में होकर अनादरे गये थे, आपके साथ चलने वाले भक्तों ने चार बकरियां साथ में रखी थीं, उनका जो दूध निकलता उसमें १ तोला ब्राह्मी चूर्ण डाल कर वह उबाला जाता और ठंडा होने पर छानकर योगीजी को दिया जाता था, इसके उपरान्त भक्तजन अपना अपना तैयार भोजन थालों में लेकर आपके पास उपस्थित होते है और आप उसमें से अपने लिये जो जरूरी समझते हैं, ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु अन्तिम परिपाटी आजकल कुछ शिथिल सी पड़ गई है, आजकल आपके पास कोई न कोई साधु हाजिर रहा करता है जो बहुधा भोजन ला देता है।

विहार—

योगिशान्तिविजयजी पहले प्राय: जैन श्रमणों की तरह पाद-विहार करते थे और एक जगह अधिक नहीं रहते थे, पर अव आप जहां चातुर्मास्य करते हैं, वहां दो तीन वर्ष तक जमे रहते हैं और जब वहां से दूसरे दूर स्थान जाते हैं, पालकी में बैठते हैं, श्री केस-रियाजी तीर्थ के झगड़े के सम्वन्ध में जब मेवाड़ गये, मांडोली की प्रतिष्ठा पर गये तब मियाने में बैठकर गये थे और वापस अनादरे जाते समय भी आपने मियाने का इस्तेमाल किया था, अनादरे जाते समय पाडीव से विहार कर शाम तक सिद्धरथ पहुंचे, वहाँ से अनादरा ९ कोस दूर था, लोग सोच रहे थे १ दिन वीच में है, योगीराजजी कैसे पहुंचेंगे और प्रतिष्ठा करेंगे ? सिद्धरथ में लोगों को अपने पास से हटाकर योगिराज ने डोली में बैठकर रातभर में मार्ग तै कर लिया, षष्ठी को प्रातःकाल होते ही सारे अनादरे में योगीजी के आ पहुंचने के समाचार फैल गये थे ।

आप दिन भर बसति में रहते हैं और रात को गुफा वगैरा में चले जाते हैं जो बहुधा गांव के बाहर होते हैं । परन्तु वहां भी आपके विशिष्ट भक्त भक्तानियां पहुंच जाती हैं, रात को एकान्त स्थान में स्त्रियों का जाना आना कभी कभी चर्चास्पद बन जाता है, परन्तु योगीजी के मन पर इस मनहूस दुनियां की बातों का कोई असर नहीं होता ।

योगीजी के आश्रमों की बनावट—

योगी श्री शान्ति विजयजी के आश्रम स्थानों की बनावट खास प्रकार की होती है, हमने इनके जितने भी आश्रम देखे सभी रहस्य-पूर्ण दो द्वार और दो मंजिल वाले देखे, एक द्वार तो सर्व सामान्य रूप से मकान के सामने बना रहता है, जहां से दर्शनार्थी गण प्रवेश निर्गमन करते हैं, दूसरा द्वार प्राय: दूसरी मंजिल पर जाने के लिए वायें दाहिने रहता है, वहां चढने की सीढी के एक भुज पर लंबी पतली दीवार खींच ली जाती है, जिससे उस द्वार से चढता उतरता

मनुष्य सामनेवालों को दृष्टिगोचर नहीं होता, योगीजी बहुधा अपना मकान बन्द करके लोगों को मिलते और बातें करते हैं। कभी कभी आप अकेले भीतर होते हैं और दर्शनार्थीगण बाहर प्रतीक्षा में होते हैं, तब आप उस गुप्त द्वार से निकल कर कहीं अन्यत्र चले जाते हैं और जब वह प्रकट होते हैं, तो लोगों को बड़ा आश्चर्य होता है, क्षण पहले आप मकान में थे, हम बाहर खड़े थे, तब यहां कहां से पधारे ? उस समय योगीजी प्रायः मौन कर लेते हैं, यही नहीं बल्कि इस बात की चर्चा आगे न बढाने के भाव से पूछने वालों को उडाउ जवाब देते हैं और चर्चा बन्द करने का इशारा किया करते हैं। श्रद्धालु भोले लोग इनका अर्थ चमत्कार लगाते हैं, कभी कभी इन गुप्त द्वारों से भीतर के मनुष्य भी निकल जाते हैं और फिर मुख्य द्वार खोला जाता है।

अफ़वाहें क्यों उड़ती है---?

योगीजी के बारे में साधारण जनता में तरह तरह की अफ़वाहें उड़ा करती हैं, कोई कहते हैं—आप अदृश्य हो जाते हैं, कोई कहते हैं—आप आकाश में उड़ते हैं, कोई कहते हैं—आप अनेक रूप बना लेते हैं, इत्यादि बातें केवल झूठा प्रचार मात्र है, इनके पास स्थायी रहने वाले मुंजावरों की तरफ से ये फैलाई जाती है, इससे भोले और स्वार्थी मनुष्य काफी प्रभावित होते हैं, योगीजी इन अफ-वाओं और झूठी बातों के प्रचारकों पर खुश रहते हैं और उनको आर्थिक सहायता भी पहुंचाया करते हैं, ऐसे खुशामदखोर प्रचारकों को योगीजी के उपदेश से कभी कभी हजारों का तड़ाका लग जाता है।

योगीजी का अध्ययन

शान्तिविजयजी के अध्ययन के बारे में भी बेसिर पैर की बातें उडाई जाती हैं, कोई कहते हैं—इनको सरस्वती प्रसन्न हुई है, जिससे बगैर पढे ही सभी सूत्रों की बातें कह देते हैं, कोई कहते हैं—ये योग

शक्ति से सभी भाषायें जानते हैं, इत्यादि बातें होती अवश्य हैं, पर उनमें सत्यता बिल्कुल नहीं, इनको किसी भी भाषा का ठीक ज्ञान नहीं है, चिट्ठी पत्री तक लिखना नहीं जानते, हां बोलने में बोलचाल की बहुत मामूली हिन्दी बोल लेते हैं, पर वह भी शुद्ध नहीं। इंग्लिश भाषा के कुछ वाक्य और शब्द भी बोल लेते हैं, क्योंकि इंग्लिश सेल्फ टीचर का अवलोकन किया करते हैं, फिर भी इंग्लिश बोलना टेढी खीर है, जब कभी अंग्रेजी वाक्य या शब्द बोलते हैं, बहुधा अशुद्ध बोलते हैं, कभी कभी संस्कृत वाक्य भी संस्कृत भाषी के साथ बोलते हैं, परन्तु शुद्ध नहीं, इंग्लिश पत्र पढने के बारे में अहमदाबाद के एक विद्वान् ने हमें एक बड़े मार्के की बात कही थी, उन्होंने कहा—"हमारा एक मित्र जो ग्रेज्युएट था, शान्तिविजयजी के पास गया तब उन्होंने अमेरिकन मिस पीम का पत्र पढकर उसका अर्थ कहा और पूछा—क्या इसका यही मतलब है, उसने कहा—हाँ आपने जो समझा वही पत्र का भाव है, हमारा मित्र इस प्रसंग से बहुत प्रभावित हुआ और कहने लगा—शान्ति विजयजी अच्छी इंग्लिश समझ सकते हैं, दूसरे दिन हमारी मंडली का दूसरा ग्रेज्युएट योगीजी के पास गया तो उसे भी वही पत्र पढ सुनाया, जब यह बात हमारे पहले मित्र ने सुनी तो उसे कुछ संदेह हुआ, कहीं वह पत्र उन्होंने रट तो नहीं लिया? तीसरे दिन जब अन्य इंग्लिश मैन उनके पास गया तब भी वही पत्र पढा और अर्थ सुनाया, इससे हमारे मन में यह बात बैठ गई कि आपने यह पत्र किसी शागिर्द के पास पढकर रट लिया है और अब आप नये नये आदमियों को सुनाकर चकित कर रहे हैं", इसी तरह आप कभी कभी कोई बात किसी से पूछ लेते हैं, या लिखवा लेते हैं और फिर प्रसंग पर सूत्र का नाम और अध्ययन का पृष्ठ तक बताकर उसका साक्ष्य देते हैं, जिससे सामान्य जनता पर बहुत प्रभाव पडता है, वे समझते हैं, महाराज जैन सूत्र पढे हुए हैं, अथवा योगबल से सूत्रों की बातें कह देते हैं, वास्तव में आप जिन जिन प्रसंगों पर कुछ चाहते हैं उन पर पहले किसी से लिखवा लेते हैं, फिर आप उसका सारांश अपनी भाषा में कह देते हैं

और वाद में वह पूरा वक्तव्य आप के उपदेश के नाम से अथवा अन्य किसी हेडिंग के नीचे वर्तमान पत्रों में छप जाता है। आप बहुत साधारण रूप से ज्योतिष की बातें जानते हैं, परन्तु बात करने की खूबी से आप अपना निर्वाह कर लेते हैं, मुझे स्वयं अनुभव तो नहीं पर जानकार कहते हैं कि आप का ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान बिल्कुल कच्चा है, इस वास्ते आप अपने पिट्ठू किसी ज्योतिषी से पूछ कर वर्ष भर के मौहूर्तिक दिन निश्चित कर लेते हैं, और जब मुहूर्त पूछने वाले आते हैं तो उनके नाम से चन्द्र का आनूकूल्य देखकर दिन बता देते हैं।

कभी कभी मुहूर्त के सम्बन्ध में योगीजी उटपटांग बातें भी कह डालते हैं, करीब ५ वर्ष पहले की बात है, एक गांव में जैन मन्दिर की प्रतिष्ठा होने की थी, उसका मुहूर्त धनारी के श्री पूज्य विजयमहेन्द्रसूरिजी ने दिया था, दो तीन अन्य ज्योतिषियों ने भी उनको सही बताया था, योगीजी ने स्वयं भी उसे पास किया था और मुहूर्त पूछने वालों से गुडधाने बंटवाये थे और "प्रतिष्ठा पर मैं आऊंगा" यह जाहिर किया था, परन्तु गांव के संघ ने योगीजी को न बुलाकर अन्य साधुओं के हाथ से प्रतिष्ठा कराना निश्चत किया, जब योगीजी को उनके शागिर्दों द्वारा यह समाचार पहुंचे तो उन्होंने किसी भी प्रतिष्ठा को न होने देने की ठानी, प्रतिष्ठा वाले गाँव के तथा उसके पास वाले गांव के दो तीन आदमी उनके पास गये, तब आपने कहा "तुम्हारे यहां जो प्रतिष्ठा का मुहूर्त निश्चय किया है वह ठीक नहीं है, अगर इस मुहूर्त में प्रतिष्ठा करवाई तो लापसी करने वाला मर जायगा", इस प्रकार जबानी भय बताकर ही संतोष नहीं किया, आपने उस गांव के संघ के नाम एक रजिस्टर्ड पत्र दिया, जिसमें लिखा कि—"तुमने जिस मुहूर्त में प्रतिष्ठा कराना निश्चित किया है, वह मुहूर्त ठीक नहीं है, क्योंकि उन दिनों में बुध का उदय होता है, हमने ठीक समझकर सूचना की है आगे तुम्हारी मरजी की बात है। यदि इस मुहूर्त में प्रतिष्ठा कराओगे तो पछतावा होगा।"

"संवत् १९९३ की बात है, बम्बई-दादर के जैन संघ ने धनारी के श्री पूज्यजी से प्रतिष्ठा का मुहूर्त पूछा था, श्री पूज्यजी ने १९९३ के ज्येष्ठ वदि ७ का दिन बताया, दादर के श्रावकों ने इस बारे में शान्तिविजयी से भी पूछा तो इन्होंने लिखा ज्येष्ठ वदि ७ का मुहूर्त ठीक नहीं है, क्योंकि कृष्ण पक्ष है। जब श्री पूज्यजी को यह बात पहुंची तो उन्होंने इन्हें शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया, पर योगीजी ने उनको कोई उत्तर नहीं दिया, श्री पूज्यजी ने अपना आदमी इनके पास भेजकर खुलासा मांगा, तो आपने इतना ही कहा कि मैं इस विषय में कुछ नहीं जानता, जब उन्हें उनकी तरफ से दादर के संघ पर लिखा हुआ पत्र दिखाया गया तो उत्तर दिया-कि पत्र मेरा लिखा हुआ नहीं है।"

इस प्रकार के अन्य भी बहुत से उदाहरण हैं जिनसे योगीजी की मुहूर्त विषयक अल्पज्ञता और खटपटी प्रकृति का परिचय मिलता है।

योगीजी की भविष्य वाणियां

योगीजी कभी कभी भविष्यवाणी भी किया करते हैं, जो कि आज तक आपकी कोई भविष्य वाणी सही उतरी हो ऐसा नहीं सुना।

कुछ वर्षों पहले की बात है, आपने स्वराज्य प्राप्ति के विषय में भविष्य वाणी "बम्बई समाचार" में छपवाई थी, जिसमें अमुक वर्ष (शायद सन् १९३३) के अमुक महीने की अमुक तारीख को अमुक बजकर अमुक मिनिट और अमुक सेकिण्ड पर हिन्दुस्तान को स्वराज्य प्राप्त होगा, ऐसा लिखा था, पर आपकी वह और दूसरी भी स्वराज्य प्राप्ति सम्बन्धी भविष्य वाणियां आबाद झूठी पडी थीं।

वायसराय लॉर्ड इरविन और गांधीजी के बीच जब समझौते होकर कैदी छोड़ने का तय हुआ था, उसके दूसरे दिन योगीजी ने आबू रोड से दो सौ गाँवों में तार द्वारा सूचना दिलाई कि "**अमुक दिन वायसराय और गांधीजी के बीच समाधान हो जायगा और सब**

सत्याग्रही कैदी छोड दिये जायेंगे" हालांकि आपका तार पहुंचने के पहले ही अधिक लोगों को समाधान की खबर वर्तमान पत्रों द्वारा पहुंच गई थी, जिससे आपकी भविष्य वाणी हास्यास्पद बनी थी।

कभी कभी आप तेजी मंदी की भविष्य-वाणियां भी किया करते हैं, पर ये वातें अपने विश्वास पात्र भक्तों तक ही पहुंचती हैं, सर्वसाधारण को ये वातें मालूम नहीं होतीं, आपकी व्यापार सम्बन्धी भविष्य वाणियां फी सदी पंचनावें गल्त निकलती हैं और इनके विश्वास पर व्यापार करने वालों का कत्ल होता है, कम से कम पन्द्रह आदमियों को मैं जानता हूँ कि जिन्होंने इनके कहने मुजब सट्टा करके लाखों का नुकसान उठाया और अपने व्यवहार को बट्टा लगाया है, आपकी व्यापारिक तेजी मंदियों के संबंध में एक भुक्त भोगी ने तो यहां तक कह डाला कि **"अगर धन कमाना हो तो शान्तिविजयजी कहें उससे उल्टा चलना चाहिये, वे तेजी बतावें तो मंदी में रहना और मंदी बतावें तो तेजी में, क्योंकि जितनी भी बार इन्होंने हमें तेजी का व्यापार करवाया उतनी बार मंदी हुई और मंदी बताई तब तेजी, हम तो डूब गये पर दूसरे भाई इनकी बातों में आकर न डूबें इस वास्ते हमारी यह सूचना है।"**

सं० १९८१ के मिगसर मास की बात है, आपने अपने तत्कालीन सेक्रेटरी चम्पकलाल से अर्जेन्ट तार करवाकर एक मारवाडी गृहस्थ को अपने पास आबू बुलवाया और कहा—**हमारे कहने मुजब तुम व्यापार करो"** गृहस्थ ने स्वीकार किया फिर आपने कहा—'**इस व्यापार में तुमको तीन लाख रुपया मिलेगा"** गृहस्थ ने कृतज्ञता प्रकट की, आपने कहा—परन्तु इस नफे का आधा हिस्सा हम कहेंगे वहां देना होगा, गृहस्थ ने यह भी स्वीकार किया परन्तु आपको उसकी मौखिक बातों पर भरोसा न आया, बोले—**"तुम स्टाम्प वाले पाने पर लिख दो कि इस व्यापार में जो कमाऊँगा, उसका आधा गुरुदेव शान्तिविजयजी कहेंगे उस काम में खर्च करूंगा, गृहस्थी ने लिख दिया"**, आपने उसे दो दिन अपने पास रखकर रुई और चांदी

का तेजी पर व्यापार करने की आज्ञा देकर बम्बई भेजा, बम्बई जाकर उसने १०००० रुपया रुई की तेजी के लगाये और १२५ चांदी की पाटें खरीदीं, उस समय चांदी का भाव ५७॥) के लगभग था, पर खरीदी करने के वाद भाव गिरता गया और ४९ ऊपर जाकर रुका, व्यापारी घवडाया और शान्ति विजयजी को चिट्ठियों पर चिट्ठियां, तारों पर तार देने लगा, परन्तु योगीजी की तरफ से सिर्फ एक ही उत्तर गया कि हमारी तबीयत ठीक नहीं है, हमें मत लिखो। वेचारे व्यापारी ने आखिर दलालों की सलाह लेकर अपना व्यापार निभाया और तीन लाख की आशा में गांठ के तीन लाख गंवा दिए। यह तो एक उदाहरण प्रस्तुत किया है, बाकी इसी तरह के १५ आदमियों के उदाहरण मुझे ज्ञात हैं, जो योगीजी तथा आपके मुंजावरों के चकमे में आकर लाखों की पूंजी गंवाकर दिवालिये वने हैं।

योगी शान्ति विजयजी अव इस दुनिया में नहीं है, उनकी जीवित अवस्था में आबू और आसपास के स्थानों में उनकी पूछ-ताछ थी और इसी कारण से उनके सम्वन्ध की कुछ बातें ऊपर लिखी गई हैं।

शान्तिविजयजी की आंखों में और उनके वचन में कुछ आकर्षण था, जो कोई श्रद्धालु वनकर उनके पास जाता और चार छः दिन ठहरता तो उसके मन पर इतना असर अवश्य पड जाता था कि फिर वह आने की भावना के साथ वहाँ से जाता, इस शक्ति का उपयोग अपना व्यक्तित्व प्रसिद्ध करने के वजाय धार्मिक भावना की तरफ लोगों को खींचने में करते तो जैन समाज के लिए विशेष लाभदायक परिणाम आ सकता था।

अब हम अपने मुख्य विषय पर आते हैं—

आबू तीर्थ की प्राचीनता

वर्तमान में आबू के शिलालेखों और अन्यान्य ग्रन्थों के वर्णनानुसार आबू तीर्थ की स्थापना विक्रम की ग्यारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में हुई मानी जाती है, परन्तु कतिपय प्राचीन स्तोत्रों में आबू तीर्थ की स्थापना विक्रम की दूसरी शती में होने के उल्लेख भी मिलते हैं, तपागच्छ के प्रसिद्ध आचार्य श्री सोमसुन्दरसूरिजी अपने अर्बुद कल्प में लिखते हैं .

नागेन्द्र-चन्द्र-प्रमुखैः प्रथितप्रतिष्ठः,
श्रीनाभिसम्भवजिनाधिपतिर्मदीयम् ।
सौवर्णमौलिरिव मौलिमलंकरोति,
श्रीमानसौ विजयतेऽर्बुदशैलराजः ॥१०॥

अर्थात्—नागेन्द्र, चन्द्र निर्वृति प्रमुख आचार्यों द्वारा जिसकी प्रतिष्ठा हुई है, श्री नाभिराजा के पुत्र श्री आदि जिन जिसके शिखर को सुवर्णमुकुट की तरह सुशोभित कर रहे हैं, ऐसा श्रीमान् अर्बुद पर्वतराज जगत् में जयवन्त है ॥१०॥

ऊपर के पद्य से इतना तो निश्चित होता है कि विक्रम की पन्द्रहवीं शती के पूर्वकाल से ही आबू पर नागेन्द्र, चन्द्रादि द्वारा आदि जिन की प्रतिष्ठा होने की बातें चली आती थीं ।

उक्त अर्बुद कल्प के लेखक आचार्य श्री सोमसुन्दरसूरिजी के लेखानुसार प्राग्वाट वंशीय मन्त्रि मुकुट श्री विमल मन्त्री ने अम्बा देवी की आराधना कर और गोमुख यक्ष की चम्पक वृक्ष के निकट प्रकट हुई मूर्ति देखकर उसी प्रदेश की भूमि जैन मन्दिर के लिए

उपयुक्त समझकर ली और मन्दिर बनाकर सं० १०८८ के वर्ष में उस प्रासाद में आदिनाथ की पित्तलमयी बडी प्रतिमा प्रतिष्ठित की।[1]

ऊपर के वर्णन में चम्पक वृक्ष के समीप गोमुखयक्ष की मूर्ति प्रकट होने की जो बात कही है इससे भी सिद्ध होता है कि आबू ऊपर पहले भी आदिनाथ का मन्दिर बन चुका था और प्रतिष्ठा भी हो चुकी थी, अन्यथा वहां पर जमीन में से गौमुख यक्ष की मूर्ति नहीं निकलती।

उयर्युक्त "अबुर्द कल्पकार" ने अपने समय तक आबू पर जितने भी जैन मन्दिर बन चुके थे, उन सभी का वर्णन किया है, विमल निर्मापित आदिनाथ के मन्दिर का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, श्री नेमीनाथ के मन्दिर के सम्बन्ध में आप लिखते हैं:—

"श्री नेमिमन्दिरमिदं वसुदन्ति* भानु (१२८८)
वर्षे कषोपलमयप्रतिमाभिरामम्।
श्रीवस्तुपाल सचिवस्तनुते'स्म यत्र,
श्रीमानसौ विजयतेऽर्बुदशैलराजः ॥१५॥

---

(१) आजकल विमलमन्त्री निर्मापित आदिजिन के मन्दिर में मूलनायक पाषाणमय-प्रतिमा है इसका कारण है वि० सं० १३६६ में मुसलमानों की सेना ने आबू पर्वत की जिनप्रतिमाओं का नाश किया, उसी समय पित्तलमय मूर्ति को उठा ले गये थे। सं० १३७८ में जब इन मन्दिरों का जीर्णोद्धार हुआ तब विद्यमान पाषाण मूर्तिप्रतिष्ठित की थी।

* "अबुर्द कल्प" के लेखक ने नेमिनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा १२८८ में होना लिखा है, परन्तु वास्तव में मूल मन्दिर की प्रतिष्ठा १२८७ में हुई थी और अधिकांश देहरियों की प्रतिष्ठा १२८८ में और उसके बाद भिन्न-भिन्न वर्षों में हुई थी, अन्तिम दो गोखड़ों में १२९७ में प्रतिमाजी प्रतिष्ठित होने के लेख मिलते हैं।

चैत्येऽत्र लूणिगवसत्यभिधानके त्रि-
पंचाशता समधिका द्रविणस्य लक्षैः ।
कोटीर्विवेच सचिवस्त्रिगुणाश्चतस्रः,
श्रीमानसौ विजयतेऽर्वुदशैलराज ॥१६॥

यह श्री नेमीनाथ का मन्दिर मन्त्री श्री वस्तुपाल ने सं १२८८ में वनाकर इसमें कसौटी के पत्थर का सुन्दर नेमिनाथ का बिम्ब प्रतिष्ठित किया, इस लूणिगवसति नामक चैत्य के निर्माण में मन्त्री ने १२ करोड़ ५३ लाख रुपया खर्च किया, ऐसा पर्वतराज अवुर्द जयवन्त है ॥ १५॥१६॥

"अवुर्द कल्प" में किये गये नेमिनाथ के मन्दिर की उत्तर दिशा में प्रद्युम्न, शाम्ब और रथनेमि अवतार नामक तीर्थों को देखकर दर्शक गिरनार तीर्थ को याद करते हैं।

इस उल्लेख से जाना जाता है कि लूणिगवसति से उत्तर की टेकरी पर उक्त तीर्थों की पूर्वकाल में स्थापनायें होंगी, अब यथोक्त स्थापनायें नहीं हैं।

आबू देलवाड़ा के जैन मन्दिर

(१) विमल वसति–

आवू के जैन मन्दिरों में जैसा नक्कासी आदि में कारीगरी का काम हुआ है, वैसा दुनिया भर में शायद ही मिलेगा, "विमल वसति" यह आवु पर के विद्यमान तमाम जैन मन्दिरों में पुराना है, गुजरात के महाराजा प्रथम भीमदेव के सेनापति शाह विमल ने यह मन्दिर वनवाया और विक्रम संवत् १०८८ में इसकी प्रतिष्ठा करवाई यह वात ऊपर कही जा चुकी है।

"विमलवसति" के मण्डप आदि में नक्कासी का काम अत्युत्तम प्रकार का हुआ है, उसमें केवल वेल पत्तियां ही नहीं, किन्तु अनेक 'जैन' और 'हिन्दु' देवताओं के चित्र और उनके चरित्र-चित्रित किये नजर आते हैं, कहीं तीर्थंकरों के चरित्र तो कहीं कृष्णावतार और नृसिंहावतार के पराक्रम, कहीं षोडश विद्यादेवियां अपने अपने वाहन आयुधों के साथ खड़ी हैं तो कहीं लक्ष्मी और सरस्वती अपने चिन्हों के साथ विराजमान हैं, कहीं पद्म सरोवर है, तो कहीं मान सरोवर हंसमाला के साथ दिखाई देता है, कहीं षोडश भुजा देवी है तो कहीं विंशति भुजा है, कहीं तीर्थंकरों के समवसरण हैं तो कहीं उनका स्नानमहोत्सव हैं, कहीं राजसभा है तो कहीं नगर निवेश हैं, कहीं तापस तपस्यालीन हैं तो कहीं आचार्य व्याख्यान दे रहे हैं, कहीं मुनिजन तिर्यंचों को धर्म उपदेश देकर विनयनम्र वना रहे हैं तो कहीं साधु साध्वो के संघाटक भगवन्त के दर्शनों को जा रहे हैं, कहीं कृष्ण जन्म और गोकुल गमन हैं, तो कहीं नेमिनाथ का विवाह महोत्सव, कहीं लडाई हो रही है तो कहीं नाटक हो रहा है, कहीं चतुरंग सेना 'चल' रही है तो कहीं नदी और समुद्रों में जल-यानों की सफर हो रही है, कहीं हाथियों की घटायें हैं, तो कहीं

घुडदौड की फेटें हो रही हैं, इत्यादि गणनातीत भाव चित्रों में हूबहू दिखाये गये हैं, इनमें जो वास्तविक खूबियां हैं वे देखते ही वनती हैं, इन सब भाव वाहक चित्रों का यथार्थ वर्णन इस लेखनी की शक्ति के वाहर है तो भी दर्शक और पाठकों के विनोदार्थ कुछ भावों का स्पष्टी करण करते हैं, जिससे मालूम हो जायगा कि आवू के जैनमन्दिरों की नक्कासी में क्या क्या भाव समाये हुए हैं।

आदिनाथ के मन्दिर में प्रवेश कर ५-७ कदम चलकर ऊपर ही खडे रहकर जगती और रंग मंडप के बिचली चौकी में ऊपर नजर करिये, भरत वाहुवलि की लडाइयों का चित्र दिखाई देगा, पहले हो तुम्हारे दाहिने हाथ की तरफ भरत चक्री की राजधानी "विनीता" नगरी और बाईं तरफ वाहुबली की राजधानी "तक्ष-शिला" दिखाई देगी, मकानात, मनुष्य, हाथी, घोडे, कोट—वगैरह सब आकार दक्षिणी की आधी चौकी तक्षशिला की हद समझिये, विनीता की हद में क्रमशः भरत सम्बन्धी घटनाओं के चित्र हैं, तव तक्षशिला की हद में बाहुवलि सम्बन्धी पात्र चित्रित हैं, दोनों नगरियों से लश्कर की चढाइयां होती हैं और तक्षशिला की हद में घमासान युद्ध होता है, अनेक मनुष्यों का संहार होने के बाद इन्द्र की सलाह से दोनों भाइयों के बीच छः प्रकार के द्वंद्व युद्ध होते हैं, दृष्टियुद्ध, वाग्युद्ध, वाहुयुद्ध, मुष्टियुद्ध, दंडयुद्ध, और चक्रयुद्ध, भगवन्त आदिनाथ का समवसरण होता है, भरतादि सर्व लोग वंदन और उपदेश सुनने को आते हैं, ब्राह्मी, सुन्दरी दीक्षा लेने को भरत को विनती करती हैं और आखिर में वे दोनों साध्वियां होती हैं। भगवान् ऋषभदेव के संकेत से दोनों बहिनें कायोत्सर्ग-स्थित वाहुबलि के पास आती हैं और उसको ऋषभदेव का संकेत सुनाती हैं, इससे बाहुवलि चेतते हैं और एक पग उठाते हैं, उसी वक्त उन्हें केवल-ज्ञान होता है, भरत भी अंगुलीयक रहित अंगुली देखकर भावनारुढ हो केवलज्ञान पाते हैं, सानिध्य देवता उन्हें साधु का वेष देती है, भरत साधु वेष धारण कर पृथ्वी पर विचरने लगते हैं, इत्यादि भरत

वाहुवलि चरित्र की मुख्य मुख्य घटनाएं चित्रों के साथ वताई गई हैं, इतना ही नहीं वल्कि इनके पुत्र, स्त्री, वहिनें, सेनापति, मन्त्रि वगैरह भी नाम देकर वतायें हैं, अयोध्या की हद में जिन जिन भावों के साथ नाम लिखे हैं वे इस प्रकार हैं—

"भरतेश्वर सत्का विनीताभिधाना राजधानी, भग्नी बांभी" सुन्दरी स्त्रीरत्न (पालकी में) समस्त अंतःपुर (पालकी में) प्रतोली (नगर के दरवाजे) महामात्य मति सागर (युद्ध सज्ज हाथी पर) सेनापति सुषेण (ऊपर मुजव) पाट हस्ती विजयगिरि (जिस पर महामात्य चढा है) श्री भरतेश्वरस्य (रथ ऊपर) रथा रूढो भरथेस्वरस्य, विद्याधर अनिल वेगः। अनिल वेग (विमान में) पाट हस्ति विजयगिरि, आदित्य जशः (हाथी ऊपर) सुवेग दूतः (इसके आगे समवसरण है) "सुनन्दा सुमंगला" समस्त श्राविकानां परिखधाः (स्त्री परिषद् ऊपर) इयं हि समस्त श्रावकानां परिखधाः (श्रावक परिषद् ऊपर) विज्ञप्ति क्रीयमाणा वांभी सुंदरी (नम्र हुई स्त्री मूर्तियों पर) प्रदक्षिणा दीयमान भरतेश्वरस्य (समवसरण को प्रदक्षिणा फिरते भरत पर) मजारो मूखक, सर्प-नकुल, स्वच्छ गावी-सिंह, (पशुपर्षदा के ऊपर) "भरथेस्वरस्य संजाते केवल ज्ञाने" रजोहरण समर्पणा 'सांनिध्य देवता' समायाता .... रजोहरण सांनिघ्य देवता"

तक्षशिला की हद में जो उल्लेख खुदे हुए हैं, वे नीचे मुजब हैं—

"वाहुवलिसत्का तक्षशिलाभिधाना राजधानी, पुत्री जसोमती, अंतःपुर, (पालकी में) सुभद्रा स्त्रीरत्न (पालकी में) सिंहस्थ सेनापति (हाथी ऊपर) कुमार सोमजस (हाथी ऊपर) मंत्री वहुलमति (हाथी पर स्थित) (आगे दोनों लश्करों का दिखाव और चलता हुआ युद्ध वताया है) ....अनिलवेगः (एक कटे हुए मनुष्य पर) भरथेश्वर वाहुयुद्ध-वाहुवलि, भरथेश्वर-मुष्टियुद्ध-वाहुवलि, भरथेश्वर-दडयुद्ध-वाहुवलि, भरथेश्वर-चक्रयुद्ध-वाहुवलि, (छः

ही जगह भरत वाहुवलि की युद्ध करती मूर्तियां बताई है, नीचे उनके नाम खुदे हुए हैं और ऊपर दोनों के बीच में युद्ध का नाम खुदा है) "काउसग्गे स्थिरस्त्र वाहुबलि" (काउसग्गिया नीचे) "संजातकेवलज्ञानो वाहुवलि" (एक पग उठाई हुई मूर्ति पर) "व्रतिनी वांभी तथा सुंदरी" (साध्वियों की मूर्ति पर)।"

२ देहरी नं० ६ के बाहर ऊपर वाह्य वलय में बहुत करके श्री ऋषभदेव के पूर्व भवों का चित्र समूह है, मध्यवलय में माता शय्या में सोती हुई १४ स्वप्न देखती है, हाथी वगैरह १४ स्वप्न चित्र उसके पीछे बताये हैं, उनके पीछे जन्म और इन्द्र तीर्थंकर को गोद में लिए मेरु पर्वत पर जन्माभिषेक करता है बाद में दीक्षा का वर घोडा और केशलोच वताया है, पीछे किसी राजा का सिंहासन है और फिर कायोत्सर्ग मुद्रा खडी है, अभ्यंतर वलय में केवल ज्ञान और समवसरण वताया है, पर समवरण स्थित मूर्ति चतुर्मुख न होकर एक मुख है।

३ **देहरी नं० १० के बाहर** नेमिनाथ की जल क्रीडा, नेमिनाथ और कृष्ण की वल परीक्षा वगैरह, सर्व के बीच में सरोवर और कृष्ण की स्त्रियों के साथ जल क्रीडा करते हुए कृष्ण को और नेमिकुमार को वताया है, मध्यवलय में नेमि आयुध शाला में जा कर शंख फूंकते हैं, कृष्ण और वलदेवजी दोनों चिंता पूर्वक सिंहासन पर वैठे विचार कर रहे हैं, नेमि, कृष्णं का हाथ मोड़ते हैं और कृष्ण नेमि का हाथ पकड़ कर लटक रहे हैं, हाथ नहीं मुड़ता, तीसरे वलय में वरात लेकर जाते हैं, पशु शाला देखकर रथ लौटाते हैं, गिरनार पर दीक्षा लेते हैं, केवल ज्ञान होने के वाद राजीमती दीक्षा लेती है, यहाँ "चोरी" और उत्सववाद्य विगैरह वताये हैं।

४ देहरी नं० १२ की चौकी में शान्तिनाथ का चरित्र है।

५ देहरी नं० २६ के वाहर कृष्ण चरित्र है, पूर्व तरफ कृष्ण अपने मित्रों के साथ गिल्ली डन्डे खेलते हैं, बीच में कालेय नाग

का दमन कर उसके नाक में नाथ लगाई है. नाग हाथ जोड़ माफी मांग रहा है, उसकी ७ नागिनियाँ भी हाथ जोड़ के प्रार्थना करती हैं, इन नागनागिनियों के अर्द्ध शरीर मनुष्य अगर देवाकृति में हैं और पिछले शरीर सर्पाकार हैं, सबने एक दूसरे के साथ शरीर गुंथकर गोलवलय बनाया है, पश्चिम की ओर कृष्ण का शेषशयन है, दो स्त्रियां पास में हैं, इसके पीछे कृष्ण और चाणूरमल्ल का द्वंद्व युद्ध दिखाया है।

६ **रंगमण्डप के दक्षिण** में जगती के बीच में ३ चौकियां हैं, पश्चिम चौकी में कृष्ण जन्म, मध्य चौकी में वसुदेवजी का राजगढ़ तथा कचहरी और पूर्व तरफ की तीसरी चौकी में गोकुल तथा गोपगोपियों के हूबहू चित्र और कृष्ण की चेष्टा तथा पराक्रम दिखाये हैं, ये चित्र बड़ी खूबी के साथ खोदे गये हैं।

उपर्युक्त चित्र विमलवसति में हैं, वैसे ही सजीवचित्र लूणिगवसति के प्रेक्षा मण्डप में और नव चौकियों में हैं, इनमें जो खुदाई हुई है वह भी उससे कम नहीं है, पर उनका विवरण देने के लिए यह स्थान उपयुक्त नहीं है।

विमलवसति की देवकुलिकाओं की प्रतिष्ठा

विमलवसति में अधिकांश देहरियां सं० १२४५ में प्रतिष्ठित हुई मालूम होती हैं। इनमें से अनेक देहरियों पर पृथ्वीपाल पुत्र धनपाल का नाम खुदा हुआ मिलता है, इससे ज्ञात होता है कि मूलमन्दिर और आगे के मण्डप वगैरह बनकर सं० १०८८ में विमल के हाथ से प्रतिष्ठित हो गये थे, शेष कार्य बाद में उसके वंश वालों ने पूरा किया था।

सं० १०८८ के बाद इस मन्दिर में १२०१ और १२१२ में भी जिन बिम्बों की प्रतिष्ठा होने के लेख मिलते हैं।

मन्दिर की जगती में फिरते देहरी नं० १० पर खुदी हुई १७ पद्यों की एक प्रशस्ति है, यह प्रशस्ति सं० १२०१ में खुदी है, इस

प्रशस्ति में मंत्री विमल के पूर्वजों तथा वंशजों को नामावलि दी है, **विमलशाह के कुल को श्री श्रोमाल कुल कहा गया है, इनके वंश को प्राग्वाट वंश।**

विमल के पूर्वजों में सर्व प्रथम **नीना** का नाम आता है, नीना के बाद उसका पुत्र **लहर** हुआ जो श्री मूलराज का विश्वासपात्र और बुद्धि का निधान कार्याधिकारी था।

लहर का पुत्र महत्तम **श्री वीर** हुआ और वीर के दो पुत्र थे, पहला **नेढ** और दूसरा दण्डाधिपति **श्री विमल,** जिसने संसार-समुद्र को तैरने के लिए यह पुल समान मन्दिर बनवाया, मन्त्री **नेढ का पुत्र लालिक** हुआ, जो धर्मी और बड़ा परोपकारी था।

लालिक का पुत्र **महीन्दुक** हुआ जो स्वरूपवान् और शीलशाली था, महीन्दुक के दो पुत्र थे, **पहला हेमरथ, दूसरा दशरथ** जो दोनों विवेकी, धर्मी और सारासार विवेचक थे, हेमरथ के छोटे भाई दशरथ ने अपने भाई के लिए और अपने लिए पुण्य संचय करने के निमित्त श्री नेमिजिन का बिम्ब बनवाया और सं० १२०१ के वर्ष में देवकुलिका में प्रतिष्ठा की, इसी दशवीं देहरी के भीतर दशरथ ने अपने पूर्वजों की मूर्तियां खुदवाकर एक पत्थर की शिला उस देहरी के जलवट पर स्थापित की उस पर खुदे हुए मन्त्रियों के नाम निम्न प्रकार से हैं:—

१ महं श्री नीना मूर्ति
२ ,, ,, लहर ,,
३ ,, ,, वीर ,,
४ ,, ,, नेढ ,,
५ ,, ,, लालिग ,,
६ ,, ,, महिन्दुय ,,
७ ,, ,, हेमरथ ,,
८ ,, ,, दशरथ ,,

विमल वसति में देहरियों का निर्माण संवत् १२४५ तक होता रहा है और प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा अंजन शलाकाएँ वि. सं. १२००, १२०१, १२०२, १२१२, १२४५, १२८६, १३०९, १३७८, १३९४ इन वर्षों में होने के लेख मिलते हैं।

मुसलमानों द्वारा मूर्तियों का नुकसान होने के वाद शाह लल्ल और वीजड द्वारा सं. १३७८ में जीर्णोद्धार होकर फिर मूर्तियां प्रतिष्ठित की गई थीं, इस जीर्णोद्धार सम्बन्धी एक वड़ी प्रशस्ति देहरो नं. १६ और १७ के वीच में खोदी हुई है, इस प्रशस्ति में तत्कालीन राजाओं की वंश परंपरा और जीर्णोद्धार कराने वाले **सेठ लल्ल और वीजड़ की वंशपरंपरा का वर्णन दिया है, इस जीर्णोद्धार की प्रतिष्ठा धर्मसूरि के पट्टधर धर्मघोष सूरि और उनके पट्टधर आचार्य अमरप्रभ सूरि के उत्तराधिकारी आचार्य श्री ज्ञानचन्द्रसूरि ने की थी,** जीर्णोद्धार की यह प्रशस्ति ४२ काव्यों में पूरी हुई है, इस जीर्णोद्धार प्रतिष्ठा का समय निम्नोद्धृत पद्य में सूचित किया है—

"वसु मुनि-गुण शशि वर्षे, ज्येष्ठ नवमिसोमयुतदिवसे।
श्रीज्ञानचन्द्रगुरुणा, प्रतिष्ठितोऽर्बुदगिरौ ऋषभः ॥४२॥

अर्थात्—१३७८ के वर्ष में ज्येष्ठ शुक्ल नवमी और सोमवार के दिन श्री ज्ञानचन्द्र गुरु ने आबू पर्वत पर ऋषभदेव को प्रतिष्ठित किया।

उपर्युक्त प्रशस्ति के अनुसार जीर्णोद्धार की प्रतिष्ठा कराने वाले श्री ज्ञानचन्द्रसूरि थे, यह तो निश्चित है, फिर भी उसी वर्ष में कतिपय देव कुलिकाओं में जिन बिम्बों की प्रतिष्ठा कराने वाले अन्यान्य आचार्यों के नाम भी उपलब्ध होते हैं, जैसे देव कुलिका नं. ४६ में श्री महेन्द्रसूरिजी द्वारा अजितनाथ जी के बिम्ब की प्रतिष्ठा हुई थी, इस प्रतिष्ठा का वर्ष तो १३७८ ही था, परन्तु तिथि वैशाख सुदि ९ थी इतना अन्तर जरूर था।

विमल वसति में कुल ५४ देहरियाँ हैं, इनमें से देहरी नं. ५०, ५१, ५२, ५३, और ५४ के ऊपर लेख नहीं है, इन देहरियों में प्रतिष्ठित प्रतिमा, सिंहासन, आचार्य मूर्ति विगैरह पर लेख हैं, इन ५४ देहरियों में अम्बा देवी की देहरी और मुनि सुव्रत वाला दीवानखाना भी शामिल है।

देहरी नं. २० में अनेक प्रतिमाएँ और पट्टक हैं, साधुओं की और गृहस्थों की मूर्तियाँ भी हैं, मुनि सुव्रत की श्याम विशाल मूर्ति है, यह देहरी दूसरी देहरियों के माफिक नहीं बल्कि प्रतिमाओं का दीवानखाना है।

विमल वसति की देहरियां और उनमें रहे हुए पट्ट आदि

विमल वसति में कुल ५४ देहरियाँ है, जिनमें मुनि सुव्रत जी वाला बड़ा दीवानखाना और अम्बा देवी की देहरी भी शामिल हैं, प्रदक्षिणा क्रम से गिनते तीसरे नम्बर की देहरी में बाईं तरफ एक चतुर्विशति पट्ट लगा हुआ है, देहरी नं. १० में दाहिनी तरफ एक त्रिचतुर्विशति पट्टक लगा हुआ है, देहरी नं. २० जो दीवानखाने के रूप में है, इसमें बांई तरफ एक सप्ततिशतजिन पट्टक बना हुआ है, इस २० नम्बर के दीवानखाने में सन्मुखभित्ति पर तीन चतुर्विशति पट्टक लगे हुए हैं, देहरी नं. २५ वीं में बाईं तरफ एक चतुर्विशति पट्टक लगा हुआ है, देहरी नं. ४९ में बाईं भीत पर एक चतुर्विशति पट्ट है।

पट्टकों का स्वरूप वर्णन

ऊपर जिस सप्ततिशत पट्टक का निर्देश कर आये हैं, वह ऊंचाई में ८१ इन्च और विस्तार में इन्च ४३ परिमाण है, इस पट्ट के उपरिभाग में मूर्ति एक, उसके नीचे तीन, तीन के नीचे पांच, पांच के नीचे सात, सात के नीचे नौ, नौ के नीचे ११, ११ के नीचे १३ फिर १३ और फिर १३ उसके नीचे १२ उसके नीचे १०-१० और १०, इनके बीच में १३ इंच की मूर्ति एक, फिर उसके नीचे १३-१३ मूर्तियों की चार लाइनें, कुल मूर्तियाँ १७०, एक से छः तक का पत्थर का

टुकड़ा एक, सात से १० तक का टुकड़ा दूसरा, ग्यारह से १३ तक का टुकड़ा तीसरा है, इस प्रकार पट्टक तीन भागों में पूरा होता है, बीच में १३ इन्च का जिन विम्ब है, दाएं वाएं दो टुकड़े हैं जिनमें प्रत्येक में तीन पंक्तियाँ और १५ विम्ब है, एक-एक पंक्ति में पांच-पाँच जिन विम्ब है, १४ से १७ तक का टुकड़ा चौथा है, इसमें चार पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक में १३-१३ विम्ब है, बीच के वड़े विम्ब के ऊपर १० पंक्तियाँ हैं और नीचे ४ पंक्तियाँ हैं, तीन पंक्तियाँ वड़े विम्ब के दाएँ वाएँ हैं, कुल पंक्तियां नीचे से ऊपर तक १७ हैं दाएं वाएं पंक्तियां नीचे १३ और ऊपर १ मूर्ति की है।

प्रत्येक मूर्ति की ऊंचाई मसूरक से छत्र तक की ५ इन्च तक की है, ऊपर के विम्ब के मसूरक के नीचे और नीचे के छत्र का ऊपर का भाग लगभग पौने इन्च का है, दो मूर्तियों के वीच में लगभग आध इन्च के गोल स्तम्भ वने हुए हैं, स्तम्भों के ऊपर के शिरों से (विम्ब के नासिका के अग्रभाग वरावर से) दोनों तरफ कमाने सी खींचकर छत्र के दोनों पार्श्वों से मिलायी है, मूलनायक की वड़ी मूर्ति के ऊपर की पंक्ति में मस्तक के ऊपर का खाना, मूर्ति बिना का खाली है, मसूरक और छत्र तथा छत्र और मूर्ति के वीच अन्तर बाद किया जाय तो मूर्ति परिमाण ऊंचाई में ३ इन्च के लगभग आता है, मसूरक का मान इंच १ छत्र का अन्तराल कहीं आधा इंच, कहीं कम है, छत्र भी कहीं आधा इन्च कहीं कम है।

पट्टक के चारों तरफ दो दो इंच की पट्टी छोड़ी गई है, खुदाई गहरी एक इन्च की है और शिला की मोटाई ४ इंच की है, मूर्तियों पर लांछन नहीं है, पर मसूरकों पर खुदाई की कुछ रेखाएं दीखती हैं।

चतुर्विंशति पट्टक १

ऊपर मूर्तियाँ तीन, उसके नीचे छः, छः के नीचे सात और सात के नीचे आठ विम्ब है, कुल संख्या २४ है।

ऊपर से दूसरी और तीसरी पंक्तियों के सिरों पर गुम्बज के आकार के शिखर बने हैं।

चतुर्विंशति पट्टक २

इस पट्टक में जिन-बिम्बों का क्रम ऊपर से नीचे की तरफ क्रमशः १-३-६-६ और ८ का है, पहले बिम्ब पर कलशाकृति, दूसरे के दो शिरों पर कलशाकृतियाँ, तीसरे के बाह्य भागों में श्री वत्स करके उनके ऊपर कलशाकृतियां वनाई हैं, ४ थी के ऊपर ३ के श्री वत्स और कलश आये हैं, इन पट्टकों की मूर्तियों का नाप १७० पट्टक की मूर्तियों के बराबर है।

त्रिचतुर्विंशति पट्टक ३

नीचे पांच हाथियों जोड़े, जो एक दूसरे की सूंड से सूंड भराए हुए हैं, इन हाथियों की ऊंचाई सात सात इंच की है, इनके ऊपर ग्यारह-ग्यारह जिन बिम्बों की ४ पंक्तियाँ हैं, उनके ऊपर मध्य भाग में २-२ इन्च परिमाण सिंहासन-मूर्ति-परिकर मिलकर है, अकेली मूर्ति ११ इंच की मसूरक सहित है, सिंहासन पौने पाँच इंच और मूर्ति के ऊपर सात इन्च में परिकर है, मूर्ति के दोनों तरफ चमर-धर और उनके ऊपर २ बैठी मूर्तियाँ हैं, ये सब पीले पत्थर में खुदे हुए हैं, मध्य मूर्ति के दोनों तरफ क्रमशः ४-४, ३-३, २-२, १-१ की पंक्तियां हैं, मूल मूर्ति के ऊपर तीन मूर्तियाँ और ऊपर शिखर है, इनके दाएं वाएं एक-एक मूर्ति और इनके ऊपर भी एक-एक मूर्ति और शिखर हैं। २-२ मूर्तियों की पंक्तियों के बाह्य मूर्ति पर १-१ शिखर है। ३-३ की पंक्तियों को बाह्य मूर्तियों पर भी १-१ शिखर है।

पट्टक नीचे से ५ फुट, १ इन्च चौड़ा और ४ इन्च मोटा है, ऊंचा सात फुट तीन इन्च परिमित है, इसकी खुदाई डेढ इन्च की है और बिम्बों की ऊंचाई सवा छः इन्च की है।

विमलवसति की हस्तिशाला

हस्तिशाला में सम्मुख विमल शाह का घोडा है, ऊपर छत्रधर सहित मूर्ति है, घोडा और विमल मूर्ति का गर्दन तक का भाग चूने ईंटों का बना मालूम होता है, गर्दन ऊपर का मुख भाग मारबल पत्थर का है, कहते हैं पहिले घोड़ा और सवार दोनों पत्थर के थे, मगर बाद में मुसलमानों ने तोड़ दिये, मौजूदा घोड़ा बाद का है विमल का मुख असल प्राचीन मूर्ति का मालूम होता है।

समवसरण में घोड़े के पीछे चौमुखजी हैं।

समवसरण के पीछे एक दूसरे के पीछे खड़े दो हाथी हैं।

प्रवेश करते दाहिने हाथ पर एक दूसरे के पीछे ४ हाथी हैं और बायीं तरफ भी इसी तरह ४ हाथी हैं।

दाहिनी तरफ के शुरू के ३, बायीं तरफ के शुरू के ३ और बिचली पंक्ति का शुरू का १ ये ७ हाथी सं. १२०४ की साल में स्थापित हुए मालूम होते हैं और तीनों पंक्तियों के आखिरी ३ हाथी सं. १२३७ की साल में स्थापित हुए हैं, आखिरी १ हाथी का लेखवाला सूंड के नीचे का भाग टूट गया है, बाकी सब हाथियों के नीचे के पत्थर पर सामने लेख खुदे हुए हैं, जिनसे इसका पता चलता है कि किस हाथी पर कौन बैठा है, कितनेक हाथियों पर अभी तक महावत और किसी अम्वाडी पर गृहस्थों की पूजा सामग्री लिये मूर्तियां बैठी हैं, परन्तु आश्चर्य यह है कि अम्वाडी में बैठी हुई मूर्तियां मनुष्य मूर्तियां होने पर भी चार हाथ वाली हैं।

क्रमशः हाथियों के लेख नीचे मुजब हैं—

(१) संवत् १२०४ फागुण सुदि १० शनौ दिने महामात्य श्री नीनूकस्य।
(२) „ „ „ „ „ „ „ लहरकस्य।
(३) „ „ „ „ „ „ „ वीरकस्य।
(४) „ „ „ „ „ „ „ नेढकस्य।
(५) „ „ „ „ „ „ „ धवलकस्य।
(६) „ „ „ „ „ „ „ आनन्दकस्य।
(७) „ „ „ „ „ „ „ पृथ्वीपालस्य।

(८) संवत १२३७ आसाढ सुदी ८ बुध दिने पउंतार ठ. जगदेवस्य ।
(९) ,, १२३७ आसाढ सुदी ८ बुध दिनें महामात्य श्री धनपालस्य
(१०) इस हाथी का लेख भाग टूट गया है ।

ऊपर के लेखों में विमल के परदादे से लेकर उनके बड़े भाई नेढ की ६ छट्ठवीं पीढ़ी तक के नाम हैं मानों नेढ मन्त्री की वंशावली खडी हैं।

विमल वसहि में धातु की चौबीसी १, पंचतीर्थियां २, छोटी-छूटी प्रतिमायें २, चांदी के सिद्धचक्र २, अष्ट मंगल २, पीतल के सिद्धचक्र २, धातुमयी प्रतिमायें २, भूमिगृह में से निकली हुई छूटी प्रतिमा १, फुट १ परिमाण, पाँचतीर्थियां ६, अंबिका १ फुट १ आसरे ।

(२) लूणिगवसति

यह मन्दिर राणा वीरधवल के मन्त्री तेजपाल ने बनवाया है, इसके मूल मन्दिर की प्रतिष्ठा विक्रम सं. १२८७ के वर्ष में हुई थी ।आसपास की देहरियों पर मन्त्री वस्तुपाल, तेजपाल के कुटुम्बी और सम्बन्धियों के नाम खुदे हुए हैं, दो गोखले देराणी जेठाणी के कहलाते हैं वे इसी मन्दिर में हैं और गूढ़मण्डप के द्वार के बाईं ओर दाहिनी तरफ बने हुए हैं, लोगों का खयाल है कि इनमें से एक वस्तुपाल की स्त्री ने, दूसरा तेजपाल की स्त्री ने बनवाया है, पर वास्तव में ऐसा नहीं है, ये दोनों गोखडे मन्त्री तेजपाल ने अपनी "सुहडा देवी" नामक स्त्री के नाम से बनवाए हैं और इनकी प्रतिष्ठा संवत १२९७ में हुई है ।

इस मन्दिर के पिछले भाग में हस्तिशाला है, जिसमें सर्व प्रथम आचार्य उदयप्रभ और इनके बाद आचार्य विजयसेन की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं मूर्तियां पिछले भाग की शाला के उत्तर विभाग में हैं, इनके बाद दक्षिण की तरफ एक के बाद दूसरा इस प्रकार से हाथी खडे किये हुए हैं और हाथियों के पीछे वस्तुपाल तेजपाल के दादे के दादे से लेकर इनके पुत्रों तक की सस्त्रीक मूर्तियां खडी हैं, परिक्रमा

में हस्तिशाला के पास अम्बिका देवी की एक वडी मूर्ति है, और इसी मन्दिर के गूढ मण्डप में दाहिने हाथ की तरफ राजीमती की एक वडी खडी मूर्ति है।

लूणिगवसति के मन्दिर की प्रत्येक देवकुलिका के द्वार पर लेख खुदे हुए हैं, श्यामशिला पर एक वडी प्रशस्ति खुदी हुई है जिसमें गुजरात के राजाओं और चैत्यनिर्मापक मन्त्रियों की वंश परम्परा का वर्णन है, इस श्यामशिला के पास ही दूसरी एक श्वेत शिला है, जिस पर मन्दिर की व्यवस्था के लिऐ नियत किये गये गोष्ठिक मण्डल का निरूपण है और वर्ष गांठ के प्रसंग पर अट्ठाहि उत्सव करने की व्यवस्था खुदी हुई है।

ऊपर इस मन्दिर की जिस हस्तिशाला का उल्लेख किया है उसमें १० हाथी, २ आचार्य मूर्तियां, श्री चण्डप विगैरह की २५ सस्त्रीक मूर्तियां हैं, एक त्रिखण्ड चौमुख और कतिपय जिनमूर्तियाँ भी हैं, इस हस्तिशाला की मनुष्य मूर्तियों के नाम लेख क्रमशः नीचे मुजब हैं—

{ १ आचार्य श्री उदयप्रभ
{ २ ,, श्री विजयसेन

{ ३ महं श्री चंडप
{ ४ ,, श्री चांपलदेवी

{ ५ ,, श्री चंडप्रसाद
{ ६ ,, श्री चांपलदेवी

{ ७ ,, श्री सोम
{ ८ ,, श्री सीतादेवी

{ ९ ,, श्री आसराज
{ १० ,, श्री कुमारदेवी

{ ११ ,, श्री लूणग
{ १२ ,, श्री लूणगदेवी

१३ महं श्री मालदेव
१४ महं श्री लीलादेवी
१५ महं श्री प्रतापदेवी

१६ महं श्रीवस्तुपाल "सूत्र वरसाकारित"
१७ महं श्रीललितादेवी
१८ महं श्री विजलदेवी

१९ महं श्रीतेजपाल "सूत्रवरसा कारितं"
२० महं श्रीअनुपमादेवी

२१ महं श्रीजितसी
२२ महं श्रीजेतलदे
२३ महं श्रीजंमणदे
२४ महं श्रीरूपादे

२५ महं श्रीसूहडसिंह
२६ महं श्रीसूहडादे
२७ महं श्रीसलपणादे

ये २७ ही मूर्तियां जीर्णोद्धार कालीन होनी चाहिए, हाथी वस्तुपाल तेजपाल के वक्त के हैं, मगर उनके ऊपर बिठायी हुई मूर्तियाँ नहीं हैं, तमाम हाथियों के पूंछ और कान नए लगाए गए हैं, कितनेक की सूंड भी नवीन है, पिछली मूर्तियां बादकी होने की वजह यह है कि वे अखंडित हैं, दूसरा उनके नीचे खुदे हुए लेख नवीन होने चाहिए, क्योंकि तेजपाल कालीन लेखों की लिपि से यह लिपि नहीं मिलती, हाथियों पर की लिपि से भी यह लिपि जुदी पड़ती है इससे ये मूर्तियां पीछे की हैं।

लूणिगवसति में रहे हुए पट्टकादि

लूणिग वसति की देहरी नं० ६ में दक्षिण भीत में एक सुन्दर चतुर्विंशति पट्ट लगा हुआ है, देहरी नं० १२वीं में भी सामने १ चतुर्विंशतिपट्ट लगा हुआ है, देहरी नं० १९ में अश्वावबोध तीर्थ

का एक पट्ट दक्षिण भीत में खड़ा है, जिसका स्वरूप दर्शन नीचे मुजब है—

अश्वावबोध तीर्थ अथवा तो 'शकुनिकाविहार' का पट्टक विस्तार में ५ फुट १ इंच का है और ऊँचाई में ४ फुट ३ इंच का है, दो टुकड़ों का बना हुआ है, ऊपर का टुकड़ा २ फुट १ इंच की ऊँचाई में है,बीच में ८ इंच की मूर्तिवाला शिखरबद्ध चैत्य है, मूर्ति के दाहिने हाथ की तरफ हाथ जोड़े पुरुष की मूर्ति, उसके आगे फल पात्र लिये और हाथ जोड़े दो भक्त मनुष्य, उनके आगे एक देवी की पीठ पर बैठी मूर्ति के दाहिने हाथ में तलवार, बाएं हाथ में अन्य शस्त्रादि लिये हुए है, उसके बाएं पग की जांघ पर एक बालक बैठा है और ऊपर छत्री सी बनी है, इसके दाहिने आखिर भाग में कोई परिचारक है, तीर्थंकर मूर्ति के बाएँ हाथ पर एक स्त्री की मूर्ति और उसके आगे चरण पादुका और फिर सवार सहित घोड़ा है, तीर्थंकर मूर्ति के नीचे उत्तर तरफ होती हुई नदी दक्षिण में मुड़कर समुद्र में मिली है, नदी में मछलियां और नावें तथा समुद्र में जलयान और जलचर दिखाए हैं, मूर्ति के नीचे अपने बाएँ हाथ में भी समुद्र ऊपर नदी और दाहिने हाथ की तरफ वृक्ष ऊपर बैठी हुई शकुनिका दृष्टिगोचर होती है, वृक्ष के नीचे से एक पुरुष बाण फेंकता है और शकुनिका घायल होकर गिरती है, दो जैन साधु उसको नमस्कार मन्त्र सुनाते हैं इत्यादि चरित्र के चित्रण पट्ट में किये गए हैं।

इस पट्टक पर लेख वगैरह कुछ भी नहीं है, परन्तु "जैन तीर्थ-गाइड" में श्री शान्तिविजयजी ने वहाँ लेख होने का लिखा है और गाइड में उसकी नकल भी दी है, लेख सं० १३२८ का बताया है उसमें संविग्न-विहारी श्रीचक्रसूरिसन्तानीय श्रीजयसिंहसूरि के शिष्य श्री सोमप्रभसूरि और उनके शिष्य श्रीवर्द्धमानसूरि द्वारा पट्ट प्रतिष्ठित होने का लिखा है, कुछ भी हो, पर अश्वावबोध तीर्थ का प्रस्तुत पट्ट यह तेजपाल के समय का नहीं है, उसके बाद में प्रतिष्ठित किया गया है।

लूणिग वसति के मूल चैत्य के नव चौकियों में दक्षिण की तरफ पत्थर में खुदा हुआ द्वासप्तति (७२) जिनपट्टक हैं, इस पट्टक की दाहिनी ओर एक पुरुष मूर्ति है जिस पर—'सोनीवीधा' यह लेख है, पट्ट की वायीं तरफ स्त्री की मूर्ति पर 'संघवणि चंपाइ' यह लेख है, यह पट्टक सं० १५६३ में बनवाया गया है, इसकी प्रतिष्ठा वृद्ध-तपागच्छीय श्री ज्ञानसागरसूरिजी ने की थी।

नव चौकिये के अग्निकोण तरफ के आखिरी खम्भे पर एक लेख है, जिसमें संघवी श्री पेथड द्वारा इस चैत्य का जीर्णोद्धार कराना लिखा है वह लेख यह है—

"आचन्द्रार्कं नंदतादेषः संघा-धीशः श्रीमान्पेथडः संघयुक्तः।
जीर्णोद्धारं वस्तुपालस्य चैत्ये, तेने येनेहाऽर्बुदाद्रौ स्वसारैः॥"

लूणिग वसति में दक्षिणाभिमुख देहरियों की जगती में एक अश्वावबोध तीर्थ का पट्टक लगा हुआ है जिसका वर्णन ऊपर दिया है और पिछली हस्तिशाला में दक्षिण तरफ के छोर पर एक भूमि-गृह भी है।

"उपदेश सार" आदि ग्रन्थों में लूणिग वसति की प्रतिष्ठा के अवसर पर जालोर का राजमन्त्री श्रीयशोवीर वहां आया हुआ था, मन्त्री वस्तुपाल तेजपाल ने यशोवीर को प्रार्थना की कि चैत्य में शिल्प सम्बन्धी कोई भूलें हों तो दिखाइयेगा, इस पर यशोवीर नें चैत्य का निरीक्षण करने के बाद शिल्प,सम्बन्धी १४ भूलें दिखाई थीं, जिनमें छोटे २ सोपान, मन्दिर के पिछले भाग में अपने वंशजों की मूर्तियाँ, कसौटी पत्थर का प्रासाद का बाह्य द्वार आदि मुख्य थीं।

हस्तिशाला चैत्य के पीछे कराने का परिणाम यशोवीर ने बताया था कि तुम्हारी वंश परम्परा आगे नहीं बढ़ेगी, कसौटी का द्वार बनाने के सम्बन्ध में यशोवीर ने कहा था कि इस काल में ऐसा कीमती द्वार यहां रहना मुश्किल है, अनार्य लोग उठा ले जायेंगे, यशोवीर द्वारा की गई मन्दिर की भूलों की भविष्यवाणियाँ बहुधा

सच निकलों, इनकी वंश परम्परा की दो तीन पीढी के वाद ही समाप्ति होने का अनुमान होता है।

कसौटी का द्वार भी संवत् १३६९ में मुसलमानों के आक्रमण के समय वे उठा ले गये हैं।

लूणिगवसति में चांदी के पत्रे की पादुका जोड़ी एक है।

"अर्बुदकल्पानुसार श्रीविमलवसति और लूणिग वसति के जीर्णोद्धार"

वि० सं. १३६९ में दोनों मन्दिरों में मुसलमानों ने तोड़फोड़ की थी और मूर्तियां लगभग सब खण्डित कर दी थीं, इनमें विमल-वसति का जीर्णोद्धार १३७८ के वर्ष में महणसिंह के पुत्र लल्ल नामक श्रावक और उसके पुत्र वीजड़ ने करवाया था और लूणिग वसति के चैत्य का जीर्णोद्धार श्रीचण्डसिंह के पुत्र श्री पीथड़ ने करवाया था।

३—पित्तलहर अथवा भीमाशाह का चैत्य—

अर्बुद कल्पकार कहते हैं—'तीसरा एक जिन चैत्य शा० भीम ने पहले बनवाया था और उसमें बड़ी सुन्दर पित्तलमय आदिनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी, आजकल भीमाशाह के उस चैत्य का जीर्णोद्धार संघ की तरफ से हुआ है।

भीमाशाह के मन्दिर का जीर्णोद्धार सोमसुन्दरसूरिजी के समय में हो रहा था, ऐसा "कल्प" से सूचित होता है, आजकल इसमें जो प्रतिमायें प्रतिष्ठित की हुई हैं, उनकी प्रतिष्ठा विक्रम संवत् १५२५ में होने का लेखों से ज्ञात होता है, इससे प्रमाणित होता है कि विद्यमान मूर्तियाँ जीर्णोद्धार होने के बाद में प्रतिष्ठित की होंगी, अधिकांश मूर्तियों पर गुर्जर ज्ञातीय सुन्दर और गदा नामक गृहस्थों के नाम हैं और इस मन्दिर की देहरियां भी अधिकांश अभी तक बनी नहीं हैं। इससे ज्ञात होता है कि कल्पलेखक के समय में इस मन्दिर के जीर्णोद्धार का काम चलता होगा और बाद में बन्द हो गया है, इससे जितना भाग तैयार हुआ था, उतने में मूर्तियां प्रति-

ष्ठित कर ली गई हैं और इसकी प्रतिष्ठा करनेवाले तपागच्छीय आचार्य श्री लक्ष्मीसागरसूरि थे, इस मन्दिर में इस समय में जो मूलनायक की पित्तलमय प्रतिमा है, इसकी ऊँचाई ४१ इंच परिमाण है और सपरिकर मूर्ति का वजन १०८ मन है, उसके बनवाने वाले गुर्जर मं. सुन्दर और गदा हैं, इस भीमा चैत्य में कतिपय प्रतिमाएँ सं० १५४७ में प्रतिष्ठित भी हैं, इस मन्दिर में १५२५ के फाल्गुन सुदि ७ शनिवार और रोहिणी के दिन आबू पर प्रतिष्ठा हुई थी, उस समय देवड़ा श्री राजधर, सायर, डूंगरसिंह का राज्य था, शा० भीमा चैत्य में गुर्जर श्रीमाल राजमान्य मं. मंडन की भार्या भोली के पुत्र मं. सुन्दर और उसके पुत्र मं. गदा इन दोनों ने कुटुम्ब परिवार से परिवृत हो के १०८ मण परिमाण परिकर सहित प्रथम जिनका बिम्ब करवाया था और तपागच्छ के आचार्य श्रीसोमसुन्दर सूरि के पट्टधर श्री मुनिचन्द्रसूरि और जयचन्द्रसूरि इनके पट्टधर श्री रत्नशेखरसूरि और रत्नशेखरसूरि के पट्ट प्रतिष्ठित श्री लक्ष्मीसागर सूरिजी ने प्रतिष्ठा की थी, प्रतिष्ठा के समय श्री सुधानन्दनसूरि, श्री सोमजयसूरि उपा० जिनसोमगणि प्रमुख परिवार लक्ष्मीसागरसूरि के साथ में था, यह मूर्ति देवा नामक शिल्पी ने बनाई है।

उपर्युक्त "अर्बुद कल्प" सूचित भीमाशाह का प्रसाद आजकल "पित्तलहर अथवा" भीमाशाह का मन्दिर "इस नाम से प्रसिद्ध है, इस जिन मन्दिर को गुर्जर ज्ञातीय शाह भीमा ने बनवाया था, परन्तु इसके निर्माण का समय कहीं भी सूचित नहीं किया, सं. १५२५ में गुर्जर मं. मण्डन के पुत्र मं. सुन्दर और उसके पुत्र गदा नामक गृहस्थों ने इसमें ४१ अंगुल की और १०८ मन की भगवान् ऋषभदेव की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराकर स्थापित की है।

इस मन्दिर जी के अन्दर जाते दाहिने हाथ की तरफ़ सुविधिनाथ का मन्दिर है, इसके सिवा मुख्य मन्दिर के सन्मुख तथा बायीं तरफ देवकुलिकायें बनी हुई हैं, इस मन्दिर का प्रारम्भ ५२ जिनालय प्रासाद बनवाने के विचार से किया गया था, परन्तु किसी

कारण से देवकुलिकाओं का काम अधिकांश अपूर्ण ही रह गया है। भीमाशाह ने प्रासाद करवाया और इसके ज्ञाती भाई शाह सुन्दर और गदा ने इसकी प्रतिष्ठा करवाई यह भी एक अर्थ सूचक बात है, क्या भीमाशाह का प्रतिष्ठा करवाने के पहले ही स्वर्गवास हो गया होगा ? अथवा तो और कोई कारण बना होगा ?

"अर्बुद कल्प" से इतना तो अवश्य ज्ञात होता है कि पन्द्रहवीं शती के आचार्य श्री सोमसुन्दरसूरिजी के समय में भीमाशाह के इस मन्दिर का जीर्णोद्धार पूर्ण हो चुका था, चौलुक्य कुमारपाल के बनवाये हुए महावीर के प्रासाद की हकीकत भीमाशाह के इस मन्दिर के बाद दी है, इससे भी मालूम होता है कि भीमाशाह का प्रस्तुत मन्दिर लूणिगवसति की प्रतिष्ठा होने के बाद थोड़े ही समय में बन गया होगा।

४ त्रिभूमिक श्री पार्श्वनाथ का मन्दिर

पार्श्वनाथ के इस मन्दिर को आजकल कड़िया अथवा शिलावटों का मन्दिर कहते हैं, यहाँ पर शिलावटों ने संवत् १७६६ के पौष सुदि ३ मंगल के दिन अपने नाम खोदे हैं और पढ़ने वालों को राम राम लिखा है, शायद इसी लेख के ऊपर से यह मन्दिर शिलावटों का होने की मान्यता प्रचलित हो गई हो तो आश्चर्य नहीं, नीचे मण्डप में भी सूत्रधारों के नाम खुदे हुए हैं।

मन्दिर के निचले गर्भगृह में, दूसरी और तीसरी भूमि के गर्भगृहों में चौमुखजी हैं, ज्यादातर प्रतिमाएँ पार्श्वनाथ की खरतर गच्छीय आचार्यों की प्रतिष्ठत की हुई हैं, प्रतिष्ठाकारक संघवी मण्डलिक है, कितनीक प्रतिमाएँ दूसरे गृहस्थों के नाम से प्रतिष्ठित भी हैं, मन्दिर किस का बनवाया हुआ है इसका पता नहीं लगा, फिर भी यह मन्दिर ओसवाल संघवी मण्डलिक का बनवाया होने का अनुमान किया जा सकता है, इस मन्दिर में खुदाई का काम भी सामान्य रूप से ठीक है इस मन्दिर की मूर्तियों पर सं. १५१५ का

लेख है और प्रतिष्ठापक आचार्य श्री जिनचन्द्रसूरि खरतर गच्छीय हैं और प्रतिष्ठा कराने वाला गृहस्थ संघवी मंडलिक है।

निचली प्रथम भूमि में कुल प्रतिमाएँ २१ हैं, द्वितीय भूमि में पूर्व तरफ के गर्भगृह में एक अम्बिका देवी की मूर्ति है जिसकी प्रतिष्ठा सं. १५१५ के वर्ष में आषाढ वदि १ शुक्रवार को ऊकेश वंशीय और दरडा गोत्रीय शा. आशा की भार्या सौखू के पुत्र सं मण्डलिक उसकी भार्या हीराई, उसके पुत्र साजन द्वि. भार्या रोहिणी प्रमुख परिवार परिवृत संघवी मण्डलिक ने अम्बिका देवी की मूर्ति बनवाई और आचार्य श्री जिनचन्द्रसूरिजी ने इसको प्रतिष्ठित किया।

द्वितीय भूमि में अम्बिका के अतिरिक्त कुल जिन प्रतिमाएँ ३६ प्रतिष्ठित हैं।

तीसरी भूमि में पार्श्वनाथ की चार प्रतिमाएँ हैं, इनकी प्रतिष्ठा भी मण्डलिक ने सं. १५१५ के आसाढ वदि १ शुक्रवार को करवाई थी।

५ महावीर मन्दिर—

"अर्बुद कल्प" के २३ वें पद्य में लेखक ने चौलुक्य कुल चन्द्रमा राजा कुमारपाल द्वारा निर्मापित भगवान् महावीर के चैत्य का वर्णन किया है, परन्तु कुमार पाल द्वारा बनाए गए महावीर के चैत्य का आज कहीं भी देलवाड़े में पता नहीं है, विमलवसति के बाहर उत्तराभिमुख एक महावीर का मन्दिर अवश्य है, परन्तु वह कुमारपाल कालीन नहीं मौजूदा मन्दिर ज्यादा से ज्यादा दो सौ तीन सौ वर्षों का पुराना हो सकता है, कुमार पाल निर्मापित मन्दिर पुराना हो जाने के कारण उसके स्थान पर यह नया बना हो तो आश्चर्य नहीं है।

अचलगढ़ के जैन मन्दिर और शिलालेख

अचलगढ देलवाड़ा से पांच माइल से अधिक पूर्व दिशा में एक टेकरी पर आया हुआ है।

(१) **अचलगढ़ पहुँचने के पहले एक बड़ा जैन मन्दिर** आता है, मन्दिर पुराना है, मन्दिर में मूल नायक परिकर युक्त शान्तिनाथजी हैं, दाहिने हाथ पर गभारे में एक और मूर्ति है, गभारे के बाहर दो कायोत्सर्गिक प्रतिमाएँ हैं, दाहिनी तरफ़ की कायोत्सर्गिक प्रतिमा की पीठिका पर सं. १३०२ के ज्येष्ठ सुदि ९ शुक्रवार का एक लेख भी है।

(२) **शान्तिनाथ के मन्दिर से आगे अचलगढ की तरफ** जाते समय दरवाजे के बाहर अचलेश्वर नामक महादेव जी का मन्दिर है, उसको बाँए हाथ की तरफ़ छोड़कर अचलगढ में प्रवेश होता है और कुछ ऊपर चढने के बाद दाहिने हाथ की तरफ कुन्थुनाथजी का जैन मन्दिर है, इसमें दूसरी भी अनेक जिन प्रतिमाएं हैं, जिन में अधिकांश धातु की पंचतीर्थियाँ हैं।

(३) **कारखाने के आगे धर्मशाला में** होकर ऊंचे चढने पर सामने आदिनाथ का मन्दिर आएगा, गभारे में तीन प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं परिक्रमा में छोटी छोटी २४ देहरियाँ और उतनी ही प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं, एक गोखला चक्रेश्वरी का है, उसमें चक्रेश्वरी की एक मूर्ति प्रतिष्ठित है।

यह जिन मन्दिर अहमदाबाद की वीसा श्रीमाली ज्ञाती के सेठ दो० पनिया के पौत्र दो० मनिया के पुत्र दो० शान्तिदास ने बनवाया था और इसमें श्रीआदिनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठा श्री विजयहीरसूरि के पट्टधर श्री विजयसेन सूरि के पट्ट प्रतिष्ठित श्री विजयतिलकसूरि के पट्टधर श्री विजयानन्दसूरि के पट्टोद्योतकारक

भट्टारक श्री विजयराजसूरि ने की थी, प्रतिष्ठा के समय में महाराजाधिराज अखयराजजी का राज्य था।

(४) **उक्त जैन मन्दिर के आगे दक्षिण में** कुछ ऊँचे चौमुखजी का द्विभूमिक मन्दिर आया हुआ है, नीचे चारों गर्भगृहों में तीन-तीन जिन प्रतिमाएँ है, ऊपर चारों तरफ के गर्भगृहों में १-१ प्रतिमा है, उत्तर की तरफ मण्डप के आगे बाँए दाहिने तरफ अंधेरे में दो देहरियाँ हैं, प्रतिमाएं हैं तथा लेख भी हैं पर अंधेरा होने से लिख नहीं सके, बाकी उत्तर, पूर्व दक्षिण और पश्चिम दिशाओं के गर्भगृहों में जो प्रतिमाए हैं, उनके लेख लिये गए हैं।

उत्तर दिशा के निचले गर्भगृह में प्रतिष्ठित पित्तलमय बड़ी प्रतिमाए १५६६ के वर्ष में फाल्गुन सुदि १० के दिन अचलगढ में महाराजाधिराज श्री जगमालजी के राज्य में प्रतिष्ठित हुई थीं, इसकी प्रतिष्ठा पोरवाल ज्ञातीय सं. कुंवरपाल पुत्र सं. रतना और रतना के पुत्र संघवी सालिक उसकी भार्या सुहागदे के पुत्र संघवी सहसा ने अपने करवाए गए चतुर्मुख मन्दिर के उत्तर द्वार में प्रतिष्ठित करने के लिए मूलनायक आदिनाथजी का पित्तलमय बिम्ब करवाया और इसकी प्रतिष्ठा तपगच्छीय श्री सोमसुन्दर सूरि श्री मुनिसुन्दरसूरि, श्री जयचंद्रसूरि, श्री विशालराजसूरि, श्री रत्नशेखर सूरि के क्रम प्राप्त पट्टधर श्री लक्ष्मीसागर सूरि और लक्ष्मीसागर सूरि के अनन्तर श्रीसोमदेवसूरि, उनके शिष्य सुमति सुन्दरसूरि के शिष्य गच्छ नायक श्री कमलकलश सूरि के शिष्य श्री गच्छनायक जयकल्याण सूरिजी ने अपने चरणसुन्दर सूरि प्रमुख परिवार के साथ की।

उपर्युक्त चतुर्मुख प्रासाद के नीचे के चारों गभारों में ३-३ प्रतिमाएँ हैं, उत्तर द्वार के गभारे में १ मूलनायक और २ काउसग्गिए कुल ३ पित्तलमय प्रतिमाएँ हैं, पूर्वद्वार में एक मूलनायक पित्तलमय हैं और २ काउसग्गिए पाषाणमय हैं, दक्षिणद्वार में मूलनायक तथा बाईं तरफ की प्रतिमा पित्तलमय हैं, तब दाहिने

तरफ की १ प्रतिमा पाषाणमय है, पश्चिम द्वार में तीनों प्रतिमाएँ पित्तलमय हैं ।

ऊपर दूसरे खण्ड में प्रत्येक द्वार में एक एक पित्तलमय प्रतिमा है, पूर्वाभिमुख प्रतिमा प्राचीन होने से उस पर लेख नहीं है, बाकी तीन प्रतिमाओं के ऊपर लेख हैं, वे लिख लिये गये हैं, द्वितीय खण्ड में कुल प्रतिमाएं ४ हैं ।

अचलगढ़ के चौमुखजी में प्रतिमाएं १६ हैं, जिनमें २ धातु के काउसग्गिए, २ पाषाण के काउसग्गिए और १ प्रतिमा पाषाण की और नव प्रतिमाएं धातु की, कुल १६ ।

चौमुखजी के बाहर मण्डप में आई हुई चार बैठकों की ९ प्रतिमायें मिलाने से कुल प्रतिमाएं २५ हैं, नीचे के चौमुखजी के निकटवर्ती अहमदाबाद वाले के मन्दिर की २७ प्रतिमायें और कुन्थुनाथजी के मन्दिर की कुल १७४ प्रतिमाओं में केवल १ पाषाण की और शेष सब धातु की हैं, धातु की प्रतिमाओं में एक समवसरण और पांच छूटी प्रतिमाओं के सिवाय शेष सब पंचतीर्थियां हैं ।

नीचे शान्तिनाथजी के मन्दिरजी में ४ प्रतिमायें हैं, जिनमें दो कायोत्सर्गिक और दो छूट्टी प्रतिमायें, मूलनायक शान्तिनाथ सपरिकर और तोरण सहित हैं ।

(५) **अचलगढ के रास्ते में** देलवाड़े से चार माइल ऊपर ओरिसा नामक एक गांव आता है, वहां एक जैन मन्दिर है और उसमें कुल ३ प्रतिमायें हैं, मूलनायक ऋषभदेव और आसपास में महावीर और पार्श्वनाथ हैं 'अर्बुदकल्प" के लेखानुसार पंद्रहवीं शती में इस मन्दिर में शान्तिनाथ मूलनायक थे, परन्तु बाद में ऋषभदेव को मूलनायक बैठाया है ।

यहां पर मन्दिरजी में प्रक्षालन का जल डालने के लिये एक तीन फुट ऊंची कुण्डी बनी हुई हैं जिसमें पीले फूलों की जाई की बेल

है, हम गए उस समय उस पर पीले फूल लगे हुए थे, यह बात सं० १९८३ की है और सं० १९९७ में जब गए तब लता फूल का नाम निशान नहीं था ।

सं० १९८२-१९८३ तक औरिसा से अचलगढ जाते बीच में आने वाले खेतों के चारों तरफ लगे हुए बड़े बड़े गुलाब वाड़ का काम करते थे, पर अब गुलाब का नाम शेष है, इसका कारण आबू पर जल वृष्टि का कम होना है ।



आबू-जैन-लेख-संग्रह

१—देलवाड़ा जैन मन्दिर–विमलवसति के लेख।

प्रदक्षिणा क्रम से देहरी नं० (१)

१—सं० १३७८ श्री मांडव्यपुरीय सा० महिधर पुत्र रूल्हा मेवा भार्या खिमसिरी पु० द्वी (थी) रपाल-हीराभ्यां पितृमातृ श्रेयोऽर्थं कारितं प्र० श्री धर्मघोषसूरिपट्टे श्री ज्ञानचंद्रसूरिभिः ॥

२–सं० १२०२ आषाढ सुदि ६ सोमे श्री प्राग्वाट वंशे आसदेव-देवकी सुताः महं० वहुदेव, धर्मदेव, सूमदेव, जसडू (रू) रामणाख्याः स्युः, ततः श्री महं धनदेवश्रेयोर्थं तत्सुत महं० वालण-धवलाभ्यां धर्मनाथप्रतिमा कारिता, श्रीककुदाचार्यैः प्रतिष्ठितेति ॥

३—सं० १३८९ वर्षे फागुण सुदि ८ सोमे सो० नरसीह भा० नयणादे पु (०) भडसीहेन मातृश्रेयसे श्रीपार्श्वनाथबिंबं कारितं, प्र० श्रीपूर्णचंद्रसूरिभिः ॥

देहरी नं० (२)

४—सूराणागोत्रे सं पून हु० (पु०) ठाकुर भार्या हससिरी पु० भीमदेव-भावदेवाभ्यां पितृश्रेयसे पार्श्वनाथः का० प्र० श्री धर्म-घोषसूरिपट्टे श्रीज्ञानचंद्रसूरिभिः ॥

देहरी नं० (३)

५—१३७८ सूराणा सा० गुणधर पुत्र सा० राल्हण पुत्र सा० जिणदेव, हेमा, ज़सदेव, रांमणैर्मातृपितृश्रेयसे श्रीशांतिनाथबिंबं का० प्र० श्रीधर्मघोषसूरिपट्टे श्रीज्ञानचंद्रसूरिभिः ॥

६—सं० १२०२ आषाढ सुदि ६ सोमे श्रीप्राग्वाटवंशे आसदेव सुतस्य धनदेवस्य पत्न्याः श्रे० चोल्हासीलाइसुता शांतिमत्याः श्रेयो-ऽर्थं तत्सुतमहं वालणधवलाभ्यां श्रीशांतिनाथप्रतिमा कारिता श्रीककु-दाचार्यैः प्रतिष्ठितेति ॥

देहरी नं० (४)

७–सं० १३७८ वर्षे सूराणा ताला (तोला) पुत्र वेता (ना) भार्या देव श्री पुत्र पेथा पूना हाला लोलाकेन मातृ पितृ श्रे० का० श्रीधर्मघोषसूरिपट्टे श्रीज्ञानचंद्रसूरीणामुपदेशेन ।

देहरी नं० (५)

८–सं० १३७८ वर्षे, सूराणा गोत्रे गुणधर पुत्र सा० थिरदेव भार्या थेही पुत्र देपाल बथा (प्प) कुलधर, हरिचँद्र, पदा, कर्मसीह प्रभृति समुदायेन थिरदेव श्रेयसे जीर्णोद्धारः कारितः श्रीज्ञानचँद्रसूरि प्रति० ।

९—सं० १२०२ आषाढ सुदि ६ सोमे सूत्र सोढा सांड सुत सूत्र केला बोल्हा साहर लोयण नागदेवादिभिः श्रीविमलवसतिका तीर्थे श्रीकुँथुनाथप्रतिमा कारिता श्रीककुदाचार्यैः प्रतिष्टिता ।। मंगलं महाश्रीः ।।

१०—सं० १३९४ सा० धणसीह पु० सा० वीजड भा (भ्रा) तृ षेमधर श्रेयसे ।।

देहरी नं० (६)

११–सं०१३७८ प्राग्वाट ज्ञातीय म० वीजड सुतेन ठ० व्र (व)-यजलेन धरणिग जिणदेव सहिलेन ठ० हरिपालश्रेयसे श्रीमुनिसुव्रत-स्वामिबिंबं कारितं प्र० मलधारि-श्रीतिलकसूरिभिः ।।

१२—सं० १३९४ सा०–गवचन्द्र पुत्र सा०.................. ..... शांतिजिनबिंबं का० प्र० श्रीज्ञानचंद्रसूरिभिः ।।

देहरी नं० (७)

१३-सं० १३७६ संघपति पोपा गेघा श्रेयोऽर्थं सा० धणपाल सा० महणा देवसीहेन श्रीमहावीरबिंबं कारितं, प्रतिष्टि(ष्ठि)तं मलधारि श्री हर्षपुरीयश्रीश्रीतिलकसूरिभिः ।।

१४–सं० १२०२ आषाढ सुदि ६ सोमे श्रीअरनाथदेवः श्री कक्कसूरिभिः प्रतिष्टितः । ।। ठ० अमरसेनसुत महं जाज्जुएन स्व-पितुः श्री(श्रे)योऽर्थं प्रतिमा काराविता । मङ्गसं महाश्रीः । श्री ककुदाचार्यैः प्रतिष्टितः(ता) ।।

१५—सं० १३६४ भण० महणा श्रे० वोवु (?) सिंहधरणाभ्यां शांतिबिंबं (कारितं) प्र० श्रीदेवसूरिगच्छे श्रीधर्मतिलकसूरिभिः ।

१६—सं० १३६४ सा० कुलधर पुत्र हेमा ......(स्वश्रेयसे) का० प्र. श्रीज्ञानचन्द्रसूरिभिः श्रीमहावीरः ।

देहरी नं० (८)

१७—सं० १३७८ नाहरगोष्टि सा० राहड पुत्र घेहू पुत्र महणसीह तथा चोंइ पुत्र रीलणेन का० प्र० श्रीधर्मघोषसूरिपट्टे श्रीज्ञानचन्द्रसूरिभिः ॥

१८—सं० १२०० ज्येष्ठ वदि १ शुक्रे श्रीकासहूद गच्छे श्रीदेवचन्द्र आचार्य संताने सालिग सुत आसिग सहजिग आसिग आ......
........देवेन निजजननिसहितेन........

देहरी नं० (९)

१९—सं० १३८२ वर्षे कार्तिक सुदि १५ प्राग्वाट वाणि० अरावी सुतस्य सामंतणराजस्य श्रेयसे सुत जीदाकेन श्रीनेमिनाथबिंबं कारितं० ।

२०—सं० १२०२ आषाढ सुदि ६ सोमे श्री ऋषभनाथः प्रतिष्ठितः श्री ककुदाचार्यैः ठ० जसराकेन स्वपितुः ठ० धवल श्री (श्रे) योऽर्थं प्रतिमा करावीता ॥

आसा । जसोधण । सिवदेव स्री (श्री) वछ । सांतड । आसदेवः ॥ सहितेन । श्री महावीरप्रतिमा कारिता ॥ गोष्ठिक आसा जसोधण । सिवदेव । श्रीवछ । सांतड । आसदेवः ॥

दे० (१०)

२१—भ्राजद्भास्वत्क (रक) र्वुराभतनुभृत् संसारभीमार्णवे ।
मज्जज्जंतुसमाजतारणमहाप्रौढैकयानोपमः । ....
...... । ....श्रीनाभिसूनुर्जिनः ॥१॥
श्रीश्रीमालकुलोत्थनिर्मलतरप्राग्वाट वंशाम्बरे,
भ्राजच्छीतकरोपमो गुणनिधिः श्री निन्नकाख्यो गृही ।
आसीध्ध्वस्तसमस्तपापनिचयो वित्तो वरिष्ठाशयः,
वन्या (न्यो) धर्म निवध्धसु (शु) ध्धधिषि (ष) णः
स्वाम्नायलोकाग्रणीः ॥२॥

सकलनयविधिज्ञो भावतो देवसाधु,—

प्रतिदिनमविभक्तो दानशीलो दयालुः ।

विदितजिनमतोलंधर्मकर्मानुरक्तो, 'लहर' इति सुपुत्रस्तस्य जातः

पवित्रः ॥३॥

प्राव्राजीज्जितदर्पितारिनिचयो यो जैन मार्गे पर,—

माहंन्त्यं सुविशुद्धमन्वयवशप्राप्तं समारात्य (ध्य) च ।

श्रीमन्मूलनरेंद्रसंनिधिसुधानिस्पंदसंसेकित—

प्रज्ञापात्रमुदात्तदानचरितस्तत्सूनुरासीद (द्व) रः ॥४॥

निजकुलकमलदिवाकर-कल्पः सकलार्थिसार्थंकल्पतरुः ।

श्रीमद्वीरमहत्तम, इति यः ख्यातः क्षमावलयै ॥५।

श्रीमन्नेढो धीधनो धीरचेता, आसीन्मंत्री जैनधर्मैकनिष्ठः ।

आद्यः पुत्रस्तस्य मानी महेच्छः, त्यागी भोगी बंधुपद्माकरेंदुः ॥६॥

द्वितीयकोऽद्वैतमतावलम्बी, दंडाधिपः श्री विमलो बभूव ।

येनेदमुच्चैर्भवसिंधुसेतु-कल्पं विनिर्मापितमत्र वेश्म ॥७॥

धर्मारामभतिर्विवेकवसतिर्गांभीर्यपाथोनिधिः,

दीनानाथपरोपकारकरणव्यापारबद्धादृतिः ।

जातो लालिगसंज्ञकोऽतिनिपुणः सद्धर्मलोकस्थितो,

रूपन्यक्कृतपंचबाणमहिमा श्रीनेढमंत्र्यंगजः ॥८॥

महिंदुक 'इति धन्यस्तत्सुतश्चारुमूर्तिः,

अखिलजनमनोलंशीलशालीनमूर्त्तिः ।

जिनमुनिपदपद्माराधनध्वस्तपापः,

प्रचितगुरुगुणौघः प्रादुरासीदमात्यः ॥९॥

तत्पुत्रौ संजातौ, पुण्यदंताविवामलौ ।

हेमदशरथत्वेन, विख्यातौ नयशालिनौ ॥१०॥

तत्रद्योतिविवेकधामसुशमी मौनींद्रधर्मा (गमे ?),

जीवा-जीव-विचारसारनिपुणश्चारित्रिसेवापरः ।

पापानुष्ठितिभीरुरासृ (श्रि) तजनत्राणोद्यतः सर्वदा,

सारासार-विवेचनातिनिपुणप्रज्ञावदाताशयः ॥११॥

गंभीरः सरलः क्षमीदमयुतो दाक्षिण्यपाथोनिधिः,

धीमान् धार्मिकसंमतः प्रतिदिनं सद्धर्मकर्मोद्यतः ।
विज्ञानैकनिधिर्विवेककलितः संतोषवद्धादृतिः,
अन्यः सन्नयभाजनं तदनुजो यदे (जज्ञे ?) दयालुः सुतः ॥१२॥
निजपुत्रकलत्रसमन्वितेन संसारवासचकितेन ।
श्रीमदृषभसुमंदिरजगतीवरदेवकुलिकायाँ ॥१३॥
दशरथसंज्ञेनेदं, अंबासांनिध्यजातधर्मधिया ।
सकलकल्याणमाला,–संपत्तिविधायकं किं च । १४॥
श्रीमत्यर्बुदपर्वते सुविपुले सत्तीर्थभूते जने,
पृथ्वीपालवरप्रसादवशतो भव्यांगिनिस्तारकं ।
भ्रातुः स्वस्य च पुण्यसंचयकृते निःपादितं सुंदरं,
श्रीमन्नेमिजिनेशबिंबममलं सल्लोचनानंदकं ॥१५॥
विकटकुटिलदंष्ट्रा-भीषणास्यं कटा (डा)र—
धृतशवलसटालीभासुरं तुंगमुच्चैः ।
वहति सुतमुदारं यांकसंस्थं सदैव,
मृगपतिमधिरूढा सांबिका वोऽस्तु तुष्टयै ॥१६॥
द्वादशशतात्मकेष्वेकाधिकेषु श्रीविक्रमादतीतेषु ।
ज्येष्टप्रतिपदि शुक्रे, प्रतिष्ठितो नेमितीर्थकरः ॥१७॥ सं० १२०१

२२—श्रीश्रीमालकुलोद्भव-वीरमहामंत्रिपुत्रसन्मत्रि-।
श्रीनेढ़पुत्रलालिग-तत्सुतमहिकसुतेनेदं ॥१॥
निजपुत्रकलत्रसमन्वितेन सन्मंत्रिदथरथेनेद ।
श्रीनेमिनाथबिंबं, मोक्षार्थं कारितं रम्यं ॥२॥

२३—महं० श्री नीना मूर्तिः । महं श्री लहर मूर्तिः । महं श्री वीर मूर्तिः । महं श्री नेढमूर्तिः । महं श्री लालिगमूर्त्तिः । महं श्री महिंदुयमूर्त्तिः । हेमरथ मूर्त्तिः । दशरथस्य मूर्त्तिः ॥

दे० (११)

२४—सं० १३७८ ज्येष्ठ वदि ९ सोमदिने श्री युगादिन (म) जीर्णोद्धारे अस्मिन् देऊरिकायां श्री वर्द्धमानप्रभृतिबिंबानि महं० कुमरासुत महं पूनसीहेन कारापितानि पुत्र० गूहा धांधल, मूलू, गेहा, रुदा सहितेन गूह भ्रातृ पेथड पुत्र बाहडसहितेन उशवाल ज्ञातीय धांधल भार्या धांधल दे ॥

२५—संवत् १२०० ज्येष्ठ बदि १ शुक्रे मं० वीरसंताने महं धाहिल्ल सुत राणाक। तत्सुत म० नरसिंहेन कु (टुं) बसहितेन आत्मश्रे (यो) र्थं मुनि सुव्रत प्रतिमा कारिता प्रतिष्ठिता श्री नेमिचन्द्र सूरिभिः ॥

२६—संवत् १२४५ वर्षे वैशाख बदि ५ गुरौ अबुर्दवास्तव्य धर्कट वंशोद्भव श्रे० वोसरि भार्या पूनीणि तत्पुत्र श्रे० श्रीवछ भार्या घन श्री तत्पुत्र सहदेव जसदेव भग्नी (गिनी) आंबसिरी, आँबवीर भार्या लरू (ख्म) णि आमचंद्र कुटुंबसहितेन आमवीरेण कारापितं श्री पार्श्वनाथबिंबं श्री चंद्रसिंह सूरि प्रतिष्ठिता (तम्)। द्वितीया (भा)र्या अइहविः ?

२७—सं० १३६४............श्री नेमिनाथबिंबं का० प्रति० श्री ज्ञानचंद्रसूरिभिः, वा (व्य०) नरपाल।

२८—संवत् १३०८ वर्षे माघ शुदि ६ गुरौ धक्कंटवंशीयश्रेष्ठि वोसरि भार्या पूनिणि, पुत्र श्री वछ, भार्या धनसिरि, पुत्र आम वीर, भार्या अइहव श्रे (०) आमसीहेन आत्ममातापिताश्रि (श्रे) योऽर्थं श्री आदिनाथबिंबं कारापितं प्रतिष्ठितं नेमिसूरिशिष्यैः श्री अमरचंद्रसूरिभिः।

दे० (१२)

२६—अंतस्सारः फलोल्लासी, च्छायावृद्धिसमन्वितः।
जयतूकेशवंशोयं, धर्महेतुरखंडितः ॥१॥
श्रेष्ठी जिल्हाक इत्यासी-तस्मिन् मुक्ताफलोपमः।
मांडव्यपुरवास्तव्य-स्ततो वेल्हाक इत्यस(सौ) ॥२॥
परोपकारैकरसः, पारसः साधुरौरसः।
आसीदत्र सदाचार–समाचारपरायणः ॥३॥
गेहिनी पद्मदेवस्य, पद्मसद्मेव देहिनी।
राजनीतिरिवोपाया–न सूत चतुरः सुतान् ॥४॥
सदा सर्वजनाऽद्रोही, सोही साधुस्तदादिमः।
द्वितीयोऽप्यद्वितीयोभू-द्देशाकः शुद्धबुद्धिभूः ॥५॥

तीर्थयात्रार्जितं यस्य, यशो जगति गीयते ।
संशद्यः संवितीर्णोऽपि, संघेशः सावुदेसलः ॥६॥
विमलगिरि-रैवताचल-सत्यपुर-स्तंभनादितीर्थेषु ।
शिवसत्यंकारसमा-नसौ जिनान्कारयामास ॥७॥
स्वकुलोद्धारधौरेय-वर्यस्तुर्यस्ततः परं ।
पारसस्यांगजो जज्ञे, साधुः कुलधराभिधः ॥८॥
पद्मश्रीः सुषुवे पंच,-पुत्रान् कुलधरप्रिया ।
परोपकारकान्नित्यं, नामकर्मयथेंद्रियान् ॥९॥
अनन्दिपुस्तदा ज्येष्टः(?)सुधीर्नाम्ना प्रभाकरः ।
अनुजः कर्मणश्चास्य, धर्मकर्मणि कर्मठः ॥१०॥
महीधरस्तृतीयोऽथ, तुर्यो देवकुमारकः ।
... ...लधुः कुलधरांगजः ॥११॥

इतश्च--

एतैर्ह्ता धरायाः, समेत्य सर्वेपि कुलधरतनूजाः ।
... ... निज भुज जनितेन वित्तेन ॥१२॥
विमलस्य वसहिकाया-मर्बुदचूलावचूलकल्पायां ।
जगतीजिन(सद्म)स्थं, नेमिजिनं कारयानासुः ॥१३॥ युग्मम् ॥
वादिश्रीधर्मसूरीणां, शिष्यैः पट्टक्रमागतैः ।
प्रतिष्ठा विहिता चास्य, श्रीमदानन्दसूरिभिः ॥१४॥
विक्रमकाले याते, वर्षे नवशून्यवह्निशशि(श)धरेऽद्य । १३०९
चैत्रासित पंचम्यां, प्रतिष्ठिते नौमि जिनबिंबे ॥१५॥मंगलमस्तु॥

३०–सम्वत् १३५० वर्षे माघ सुदि १ भौमेऽद्येह श्रीमदणहिल्ल-पाटकाधिष्टि(ष्ठि)त परमेश्वर परमभट्टारकउमापतिवरलब्धप्रौढ-प्रतावा (पा) क्रांतदि (*) वचक्रवा (बा) लक्ष्मापाल मालवेशवि (व) रुथ (थि) नीगजघटाकुंभस्थलविदारणैकपंचाननसमत्त (स्त) राज़ावलीसमलंकृतअभिनवसिध्धराजमहारा (*) जाधिराज श्री श्रीमत्सारंगदेवकल्याण-विजयराज्ये । तत्पादपद्मोपजीवनि (जीवि) महामात्य श्रीवाघूये श्रीश्री करणादिसमस्तमुद्राव्यापारान् परि (*) पंथयति सतीत्येवं काले प्रवत्त (वर्त) माने अस्यैव परमप्रभो [:]

प्रसादपल्लायां भुज्यमानअष्टादशशतमंडले महाराजकुलश्रीवीसल-देवशा(*)सनपत्रं प्रयच्छति यथा---

स एष महाराजकुलश्रीवीसलदेवः संवत् १३५०वर्षे म (मा) घ शुदि १ शौमेऽद्येह श्री चन्द्रावत्यां ओसवालाज्ञातीय सा(*) धु श्री-वरदेवसुतसाधुश्रीहेमचंद्रेण तथा महा० भीमा, महा० सिरधर, श्रे० जगसीह श्रे० सिरपाल, श्रे० गोहन श्रे०वस्ता महं० वीरपाल प्रभृति स (*) मस्तमहाजनेन भक्त्याराध्य विज्ञप्तेन श्री अर्बुदस्यो-परि संलिष्ट (ष्ठ) मानवसहिकाद्वये निश्रयमाणघनतरकरं मुक्त्वा उद्य कृतकरस्य शासनपत्रं (*) प्रयच्छति-यथा-यत् श्रीविमलवसहि-कायां श्री आदिनाथदेवेन श्री मातादेव्या सत्कतलहड़ा प्रत्ययं उद्यदेय द्र २८ अष्ठविंशतिद्रम्माः तथा अर्बुदे(*)त्यठकुरसेलहथ तलार प्रभृ-तीनां कापड़ां प्रत्यंयंग उद्यदेय द्र १६ षोडश द्रम्माः तथा कल्याणके अमीषां दिनद्वये दिनं प्रतिदेय कणहृतां १० दश दा (*) तव्यानि। तथा महं० श्री तेजपालवसहिकायां श्री नेमिनाथदेवेन श्री मातादेव्या सत्क वर्ष प्रतिदेय द्र १४ चतुर्दश द्रम्मा तथा दिनैकेन कणहृतां (*) देय १० दश तथा श्री अर्बुदेत्य सेलहथ तलार प्रभृतीनां कापड़ां प्रत्ययं देयद्र८अष्टौ द्रम्मा, तथा प्रमदाकुलसत्क नामां ६ षट् नामकं प्रति (*) मल प्रत्ययं द्र ५ पंच द्रम्मा..........वर्षं प्रतिदातव्या तथा वसहिकाद्वये पूजारकानां पार्श्वात् निष (श्र) य माणकरो मुक्तो भणित्वा श्री अर्बुदेत्य ठ (*) कुरेण सेलहथतलारप्रभृतिभिः [:] किमपि न याचनीयं न ग्रहीतव्यं च। अस्य (द्य) दिन पूर्वं बस-हिकाद्वयपार्श्वात् उपरिलिखितविधे ऊर्द्ध (रुर्ध्वं) श्री अर्बुदे (*)त्य-ठकुरेण सेलहाथतलार प्रभृतिभिः तथा चांद्रावत्या श्रीमद्राजकुलेन महंतक सेलहथ तलार डोकरा प्रभृतिभित्य (यंत्) किमपि न याचनीयं न (*) गृ (ग्र) हीतव्यं च। अनया परयि (ठि) त विधिना प्रतिवर्षं बसहिकाद्वयपार्श्वात् ग्रामठकुरप्रभृतिभि गृह्यमानैः कल्याणक प्रभृतिमहोत्सवेषु समाया(*) तसमस्तसंघस्य प्रहरक-तला-रक प्रभृतिकं रूढ्या सर्वं करणीयं कारापनीयं च॥ उपरि चटित उत्तीर्यमान (ण) समस्तसंघमध्यात् यस्य कस्यापि किं(*)चित्

गच्छति तत्सर्वं श्रीअर्बुदेत्य ठकुरेण लोहमयं रूढ्या समर्प्पनी(णी)यं अस्मत् वंशजैरपि अन्यैश्च भाविभोक्तृभि(भी) राजभिः वसहिकाद्वये उ(*)द्यकृतकरोयं आचन्द्रार्कं यावत् अर्पयितव्यः पालनीयश्च। उक्तं च–भगवता व्यासेन–

वहुभिर्वसुधा भुक्ता, राजभिः सगरादिभिः।
यस्य यस्य यदा (*) भूमि,-स्तस्व तस्य तदा फलम् ॥१॥
वन्ध्यादृवीण्ण(विंध्याटवीष्व)तोयाषु(सु), शुष्ककोटरवाशि(सि)नः।
कृष्णसर्पा(र्पाः) प्रजायन्ते, देवदायाऽपहारिणः ॥२॥
न विषं विषमित्याह(हु) (*)दे(दें)वस्व(स्वं) विषमुच्यते।
विषमेकाकिनं हन्ति, देवस्वं पुत्र-पौत्रकं ॥३॥

एतानि स्मृतिवाक्यानि अवलोक्य अस्मद्वंशैः (अश्मद्वंश्यै) अन्यवंशै (श्यै) रपि भाविभो(*)क्तृभिः अस्मत्कृतद्य (सा) उद्य-करस्यास्य प्रतिवन्धः कदापि न करणीयः। न कारापनीयश्च। यथा दत्त्वा च इदमुक्तवान्–

मन्यं स्या (मद्वंश्या) अन्यवंश्या वा, ये भ(*)विश्यं(ष्यं)ति पार्थिवा (वाः)।

तेषामहं कर लग्नोमि मं(म)म दत्तं न लुप्यता (तां) ॥ ठ० जयतसिंह सुत० पारि० पेथाकेन लिखित(तं) हीनाक्षरं प्रमाणमिति (*) महाराजकुल श्रीवीसलदेव डू०(दू०) महं सागण ॥ अत्र साक्षिणः श्रीअचलेश्वर देवीयराउ। नन्दि, श्री वसिष्टदेवीय तपोध(*)न .... अम्बादेव्या सक्तं (क्तं) अवो० नीलकण्ठः। प्रमाणा ग्रामीय पढचार राजा प्रभृति समस्त पढचार ॥ सूत्र नर....

३१—ऊएसगच्छे सिद्धाचार्य सन्ताने श्रीखरा तपा पक्षे भ० श्री श्री श्रीकक्कसूरि शिष्यं पं० मुक्तिहंस मु० कनकप्रभ।

३२—सं० १५६७ वर्षे श्रीसण्डेरगच्छे श्रीईश्वरसूरि कवीनां सपरिकराणां यात्रा सफला श्री अर्बुदतीर्थेषु।

देहरि (१३)

३३—सं० १३७८ वेसलपुत्र मोहण पुत्र लखमा भार्या ललता देवि पुत्र जयताकेन मातृण (णां) श्रे० का० श्री धर्मघोषसूरिपट्टे श्रीज्ञानचन्द्रसूरीणामुपदेशेन।

३४–सं० ११११ धाराप्रदीयसन्ताने, ह्रीमरूपालवल्लभः ।
शांत्यमात्यो महीख्यातः, श्रावकोऽजनिसत्तमः ॥१॥
भार्या तस्य शिवादेवी श्रेयसे प्रतिमामिमां ।
नींनू-गीगाख्ययोः सून्वोः, कारयामास निर्मलां ॥२॥

३५–सा० सायर (?) महणसिंह पुत्री हम्मीरदे श्रे० सा० लालाकेन ॥

३६–सं० १६२० वर्षे आसू वदि ४ सोमवार मडाहडागच्छे भटारक श्री ग(म)णिकीरतिसूरि वाचनाचार्यश्री वीरसंदर यं सष्य (वीरचन्द्र शिष्य) वस्ताकेन..............श्री आदिनाथ पादि(दु)का कारापिता श्रीः ॥

देहरि नं० (१४)

३७–सं० १३७८ देशलपुत्रमोहणपुत्रलषमण भार्या ललतादेवि पुत्र जयताकेन पितृव्य रामा श्रेयोऽर्थं का० श्री धर्मघोषसूरिपट्टे श्री ज्ञानचन्द्रसूरीणामुपदेशेन ॥

३८–सं० १२०६–श्रीशीलचन्द्रसूरीणां, शिष्यैः श्रीचन्द्रसूरिभिः ।
विमलादिसुसंघेन, युतैस्तीर्थमिदं स्तुत (तं) ॥१॥
अयं तीर्थसमुद्धारो-त्यद्भुतोऽकारि धीमता ।
श्रीमदानन्दपुत्रेण, श्रीपृथ्वीपालमंत्रिणा ॥२॥

३९–मधुरवचः चारुकुसुमः, सम्पादितमुनिमनोरथफलौघः । श्रीनन्नसूरिरनघः, कल्पतरुर्जयति बुधसेव्यः ॥ स्तौति श्रीकक्कसूरिः ॥

४०–सं० १४८३ वर्षे सुवेण (सावण ?) सुदि पड़वे गुरौ घोघावास्तव्य श्रीआदिनाथं प्रणम्य श्रीहुंबडन्याति महं० मेला स(सु)त जाल्हा समस्त सककुटुं (सकुटुंब) श्रीआदिनाथ उलगि ।

४१–संवत् ११८३ माघ शुदि ६ सोमे चलसरणीसुतेन शेहयारकेण गो (?)......सुतसिंघदेव साढदेव जेसहर सहितेन वृषभ नाथप्रतिमा कारिता सालिग यु(सु)त साजण शोहिय पून्न(?) पासणाग युक्ते (क्ते) न श्री जयसिंहसूरिशिष्यैः श्रीयशोभद्रसूरिभिः प्रतिष्ठिता ॥ मंगलं महा श्रीः ॥

४२–सं० १३६४ सा० पूनसीह पुत्र तिहुणसीहेन का० श्री आदिनाथ विंवं प्र० श्री ज्ञानचंद्रसूरिभिः ।

दे० (१५)

४३—सं०१३८८ वर्षे चै० वदि ६ श्री मांडवपुरीय देगा पुत्र जगधर पुत्र समधर भार्या सिरिया देवि पुत्र सीहड, आँबा, माला, भड़सीहेन मातृश्रेयसे का० श्री धर्मघोषसूरिपट्टे श्री ज्ञानचंद्रसूरिभिः प्रतिष्ठितं ॥

४४—श्री थारापद्रीय-संताने महं तिना-सयुणयोः श्रेया (यो) र्थं माउकया संतिनाथविंवं कारितं संवत् ११३२॥

दे० (१६)

४५—शं १३८८ चै० वदि ६ श्री मांडवपुरीय देगा पुत्र जगधर पुत्र समधर भार्या सिरिया देवि पुत्र सीहड-अंबा-भडसिहैः पितृश्रेयसे का० श्री धर्मघोषसूरिपट्टे प्रतिष्ठितं श्री ज्ञानचंद्र सूरिभिः ॥

४६—सं० १६६४ वर्षे महेशानीय श्रीश्रीभानुचन्द्र गणि तत्शिष्य पंडित श्रीहीरचंद्र गणिभिः पंडित श्रीकुशलचांद्र ग० गणि श्री अमरचंद्र-निज भ्रातृद्वयसंयुक्तैः ॥ मुनिदीधिचन्द्र । मुनि रामचन्द्र मुनि ज्ञानचंद्र प्रमुखादिसपरिवारैः यात्रा निर्मिता सार्धं च सीरोडा वास्तव्यसकलसंघेन । अन्यच्च सा० ठाकुर भार्या गाँगलदे सा० लषा० भार्या नीलादे पुत्री टमकु नाम्ना (म्न्या) मालारोपणं व्रतोच्चारणं च महामहो (हः) पुरस्सरं विनिर्मितं ॥ सा० वरजांग । सा० ठाकुर षत्ता जगमाल सा० सहसमल । मं० डुंगरसी सा० लषा, देवराज सा० सूरजा चुपसी प्रमुख सीरोडी सत्क सकल संघः चिरं जीयात् । पं० राजमल ॥

४७—सं० १३६४ सा० वीजडेन भ्रातृ षीमधर भार्या जेतलदेवि श्रे० ।

४८—सं० १३६४ सा० विजयपाल पुत्रीमाणिकी आत्म श्रे०श्री आदिनाथबिंवं का० प्र० श्रीज्ञानचन्द्रसूरिभिः ।

४९—सं० १३६४ ठ० पेथा सा० धरणाभ्यां-श्री शां० प्र० श्रीज्ञानचंद्र सूरिभिः ।

दे० (१७)

५०--सं० १३७८ वर्षे वैशाख बदि ६ श्रीमांडव्यपुरीय आसू पुत्र मोषदेवेन समवसरणे बिंबानि कारितानि श्रीधर्मघोषसूरिपट्टे श्री ज्ञानचन्द्रसूरिभिः प्रतिष्ठितानि उपदेशेन ॥

दे० (१८)

५१--विमलवसहिकायां श्री ऋषभनाथदेवाय भ -श्रीमाता अग्रत आचंद्रार्कं यावत् उपर्युक्तेन (?) अ (?) क्तं ॥ स्यां (यस्यां?) विधो (धौ) साक्षिः । व्य० आसधर श्रे० मा··ह्ण········सुत-माल्हण । श्रे० हफ । नागड । हेठ ऊंजीग्रा० पांचा अजयरा ॥ मंगलं महा श्रीः ॥ महं जसधवलेन ॥ यो एनां विधिं लोभयति लोपापयति लोपनाय बुध्धिं ददाति तस्य गर्द्धभः ॥

५२–श्री अर्बुदतीर्थप्रशस्तिर्लिख्यते--

अंगीकृताचलपदो वृषभासितोऽसि, भूतिर्गणाधिपतिसेवितपादपद्मः ।
शंभुर्युगादिपुरुषो जगदेकनाथः पुण्याय (नि) पल्लवयतु प्रतिवासरं सः ।१
निबद्धमूलैः फलिभिः सपत्रैर्द्रुमैनरेंद्रैरिव सेव्यमानः ।
पादाग्रजाग्रद्बहुवाहिनीकः, श्रीअर्बुदो नन्दतु शैलराजः ॥२॥
यस्मिन्विशिष्टामल (वशिष्टानल) कुंडजन्माक्ष (क्षि) ति-
क्षतित्राणपरः पुरासीत् ।
प्रमाथिसार्थोन्मथनीकृतार्थी क्षिताविह श्रीपरमारनामा ॥३॥
तदन्वये कान्हडदेववीरः पुराविरासीत् प्रबलप्रतापः ।
चिरं निवासं विदधेनु यस्य, कराम्बुजे सर्व्वजगज्जयश्रीः ॥४॥
तत्कुलकमलमरालः, कालः प्रत्यर्थिमंडलीकानां ।
चंद्रावतीपुरीशः, समजनि वीराग्रणीर्धंधुः ॥५॥
श्रीभीमदेवस्य नृप (स्य) शासन-ममन्यमानः किल धंधुराजः ।
नरेशरोषाच्च ततो मनस्वी, धाराधिपं भोजनृप प्रपेदे ॥६॥
प्राग्वाटवंशाभरणं बभूव, रत्नं प्रधानं विमलाभिधानः ।
यत्तेजसा दुस (स्स) मयांधकारे मग्नोऽपि धर्मः सहसाविरासीत् ॥७॥
ततः स भीमेन नराधिपेन, प्रतापभूमिर्विमलो महामतिः ।
कृतोऽर्बुदे दण्डपतिः सतां प्रियः, प्रियंवदो नन्दतु जैनशासने ॥८॥

अशोकपत्रारुणपाणिपल्लवा, समुल्लसत्केसरसिंहवाहना ।
शिशुद्वयालंकृतविग्रहा सती, सतां क्रियाद्विघ्नविनाशमम्बिका ॥९॥
अथान्यदा तं निशि दण्डनायकं, समादिदेश प्रयता किलांबिका ।
इहा चि(च)ले त्वं कुरु सद्म सुंदरं, युगादिभर्तुर्निरपायसंश्रयः ॥१०॥
श्रीविक्रमादित्यनृपाद् व्यतीतेऽष्टाशीतियाते शरदां सहस्रे ।
श्रीआदिदेवं शिखरेऽर्बुदस्य, निवेशितं श्रीविमलेन वन्दे ॥११॥
विघ्नाधिव्याधिहंत्री या, मातेव प्रणतांगिषु ।
श्रीपुंजराजतनया, श्रीमाता भवतां श्रिये ॥१२॥
अचलेशवशिष्टानल-तटिनी मंदाकिनी विमलसलिला ।
पुण्यानि यस्य शृङ्गे, जयन्ति विविधानि तीर्थानि ॥१३॥

अथ राजावलि

वैरिवर्गदलने गततन्द्रश्चाहुमानकुलकैरवचन्द्रः ।
यो नडूल नगरस्य नरेश, आसराज्ञ इति वीरवरोऽभूत् ॥१४॥
प्रवलवैरिदवानलवारिदः, समरसिंह इति प्रथितस्ततः ।
महणसिंहभटः सुभटाग्रणीः, पृथुयशा अजनिष्ट तदंगजः ॥१५॥
प्रतापमल्लस्तदनुप्रतापी, वभूव भूत्तल(पाल?) सदस्सु मान्यः ।
वीरावतंसोऽजनि वीजडोऽस्य, मरुस्थलीमण्डलभूमिभर्त्ता ॥१६॥
आसन् त्रयस्तन(स्तत्तन)या नयाढया, मूर्त्ताः पुमर्था इव भोगभाजः ।
आद्यो धरित्रीपतिरक्षपालः, ख्यातः क्षितौ लूणिग नामधेयः ॥१७॥
न्यायमार्गशिखरी मधुमासः कालवत्कवलयन (न्न) रि व्रजं ।
मण्डलीकपदवीमपालयल्लुंढ इत्यभिधया धियां निधिः ॥१८॥
विपक्षनारीनयनांवुपूरैश्चकार यः कीर्त्तिलतां सपत्रां ।
वभूव भूमीपतिलब्धमानो, लुंभाभिधानो जगदेकवीरः ॥१९॥
संहृत्य शत्रून् प्रवलान् बलेन, श्रीअर्बुदं प्राप्य नगाधिराजं ।
उत्कास भूमंडन राय हल्लहै स्वरती (?) लोकाधिपतिर्वभूव ॥२०॥
लूणिगस्य तनुजो जगज्जयी, तेजसिंह इति तेजसां निधिः ।
यत्प्रतापदवपावकश्चिरं, वैरिवर्गविपदं न भातिस्म (?) ॥२१॥

करागजाग्रत्करवालदण्ड-खंडीकृताशेषविरोध (धि) वर्गः ।
पृथ्व्यां प्रसिद्धस्तिहुणाकनामा वीरावतंसः स चिरायुरस्तु ॥२२॥
श्रीमल्लुंभकनामा समन्वितस्तेजसिंहतिहुणाभ्यां ।
अर्बुदगिरींद्र.. ... . ॥२३॥
............रपुरवासी सुगुरुश्रीधर्मघोषसूरिपदभक्तः ।
सर्वज्ञशासनरतः, स जयति जेल्हाभिधः श्रेष्ठी ॥२४॥
तत्तनयः सुनयोऽभूत्, वेल (?) सकल भूत....... ..... ।
............पुत्रः सुचारु.........................पारसः साधुः ॥२५॥
सोही देग़ा देसल कुलधर नाम्ना तदंगजा जाताः ।
चत्वारः कुलमन्दिर-सुदृढस्तंभाभिरामास्ते ॥२६॥
श्रीदेसलः सुकृतपेशलवित्तकोटच-
श्चञ्चच्चतुर्दशजगज्जनितावदानः ।
शत्रुंजयप्रमुखविश्रुतसप्ततीर्थ्यां
यात्रा चतुर्दश चकार महामहेन ॥२७॥
देमति माई नाम्नी साधुश्रीदेसलस्य भार्ये द्वे ।
निर्मलशीलगुणाढ्ये, दया-क्षमे जैनधर्मस्य ॥२८ ।
देमति-कुक्षिप्रभवा, गोसल-गवपाल-भीमनामानः ।
माईकुक्षेर्जातौ मोहण-मोहाभिधौ पुत्रौ ॥२९॥
जिनशासनकमलरविः, साधुश्रीगोसलो विशदकीर्त्तिः ।
गुणरत्नरोहणधरा, गुणदेवी प्रियतमा तस्य ॥३०॥
सद्धर्मकर्मैकनिबध्धबुद्धि-स्तदंगजः श्रीधनसिंहसाधुः ।
भार्या तदीया सदया वदान्य-मान्या
सतां धांघलदेविसंज्ञा ॥३१॥
साधोर्भीमस्य सुतो, हांसलदेकुक्षिसंभवः श्रीमान् ।
महिमानिधिर्महौजा, महामतिर्महणसिंहाख्यः ॥३२॥
मयणल्लदेवीवरकुक्षिशुक्ति-मुक्ताचयस्तत्तनया जयन्ति ।
ज्येष्ठो जगद्व्यापियशःप्रकाशः,
साध्वग्रणीर्लालिगसाधुराजः ॥३३॥
आश्विनेयाविव श्रेष्ठौ, कनिष्ठौ गुणशालिनौ ।
सीहालाषाभिधौ धर्म-ध्यानप्रवणमानसौ ॥३४॥

षट् सुता धनसिंहस्य, मूर्ता इव षडर्तवः ।
विश्वविश्वोपकाराया-ऽवतीर्णाः पृथ्वीतले ॥३५॥
तेषामाद्यः साधुर्वीजड इति विमलतरयशःप्रसरः ।
गुणसागर.......मधरः सज्जनः...........समरसिंहः ॥३६॥
राजसमाजश्रेष्ठो, विख्यातो (?) विजयपालः ।
निपुणमतिः नरपालः, सुकृतरतो वीरधवलाख्यः ॥३७॥
स्वपितृश्रेयसे जीर्णो-द्धारं रिषभमंदिरे ।
कारयामासतुर्लल्ल-वीजडौ साधुसत्तमौः ॥३८॥
वादिचंद्रगुणचंद्रविजेता, भूपतित्रयविबोधविधाता ।
धर्मसूरिरिति नाम पुरासीत्, विश्वविश्वविदितो मुनिराजः ॥३९॥
मूलपट्टक्रमे तस्य, धर्मघोषगणार्यमा ।
बभूवुः शमसंपूर्णा, अमरप्रभसूरयः ॥४०॥
तत्पट्टभूषणमदूषणधर्मशीलः, सिद्धान्तसिंधुपरिशीलनविष्णुलीलः ।
श्रीज्ञानचंद्र इति नंदतु सूरिराजः, पुण्या (ण्यो)
पदेशविधिबोधितसत्समाजः ॥४१॥
वसु-मुनि-गुण-शशिवर्षे ज्येष्ठसितिनवमिसोमयुतदिवसे ।
श्रीज्ञानचन्द्रगुरुणा, प्रतिष्ठितोऽर्बुदगिरौ रिषभः ॥४२॥
१३७८ जेस्टसुदि ९ सोमे॥

५३ सं० १५२० वर्षे आषा० शु० २ गुरौ अहम्मदावादे प्राग्वाट सं० भीमा भा० आसू पुत्र ॥ सं०वरसिंग भा० मंदोअरि पुत्र सं० आल्हण भार्यया कर्मा नाम्न्या देवर सो(गो?)ल्हण कीका तद्भार्या मटकू मानू स्वपुत्र रामदे भा० हेमाई प्रमुख कुटुंब युतया निजश्रेयसे श्री नेमिनाथबिंबं कारितं प्रति० तपा श्रीसोमसुन्दर-सूरिसंताने श्रीरत्नशेखरसूरिपट्टे श्रीलक्ष्मीसागरसूरिश्रीसोमदेव-सूरिभिः ॥ श्रीनेमि सं० कर्माई ।

५४—सं० १५२५ वै० शु० ६ प्राग्वाट सा० भीला भार्या घोघरि पुत्र सा० डूंगरेन भार्या देवलदे पुत्र देठादियुतेन श्री सुविधि-नाथबिंबं का० प्रतिष्ठितं श्रीसूरिभिः सीरोहडीग्रामे ॥

५५—सं० १४६५ वैशाख शुदि ३ गुरौ उपकेश ज्ञा० अरडक गोष्ठिक साह सोहड भार्या नामलदे पुत्र गोला भार्या कर्मादे पुत्र

लाषा, भार्या लाषणदे, पुत्र साल्हाकेन पूर्वजनिमित्तं श्रीआदिनाथबिंबं कारितं, पूर्णिमा प० श्री जयप्रभसूरीणामुपदेशेन ॥

५६—सं० १४७७ मार्गसिर वदि ८ बुधे, प्राग्वाट सा० थिरपाल भार्या सल्हण पुत्री रूपा आत्मश्रेयोऽर्थं सुमतिनाथबिंबं कारितं, प्रति० श्रीरत्नप्रभसूरि (भिः) ॥

५७—सं० १४२० वैशाख शुदि १० शुक्रे प्राग्वाट श्रे० लींबा भार्या देवल पु० देपालेन पित्रोः भ्रातृश्रेयोऽर्थं श्री आदिनाथबिंबं का० प्र० पिप्पलीयश्रीवीरदेवसूरिभिः ॥

५८—स० १४३६ वर्षे पोषवदि ६ रवौ प्रा०व्यव० सोहड पुत्र व्यव०जाणा भार्या अणपमदे पुत्र कालू समस्त पूर्वज श्रेयोऽर्थं श्री पद्मप्रभःकारितःसाधु पू०श्री धर्मतिलक सूरि(री)णा मुपदेशन ॥

५९—सं० १३३५ माघ शुदि १३ नाणकीय गच्छे ग्रगोसा सुत बोसरि पुत्र बचा भार्या बहुमति पुत्र महल्हण श्रेयसे श्रीशांतिनाथबिंबं (का०) प्र. श्री महेन्द्रसूरिभिः ॥मंगलं ॥

देहरी (२०)

६० वीजड भार्या वील्हण देव्या धांधल देव्या ……………… समवसरणं का० प्रतिष्ठितं श्री धर्मघोषसूरिपट्टे श्री अमरप्रभसूरि शिष्यैः श्री ……………।

६१—श्रीमद्धर्मघोषसूरिपट्टे श्री आणंदसूरि श्री ज्ञानचंद्र सूरि शिष्य श्री मुनिशेखरसूरीणां मूर्त्तिः श्रे० गाहड भार्या वील्हण देवि पुत्र भ्रातृ सूरावालाभ्यां कारि………… शुभं भवतु ॥ सं० १३९६…………। सा० सूरा सा० वाला ।

देहरी (२१)

६२—सं० १३९४ वर्षे ज्येष्ठ वदि ५ शनौ महं० विमलान्वये महं० अभयसीह भार्या अहिवदे पुत्र महं० जगसीह भार्या जैतलदे तत्पुत्र महं० भांपाकेन कुटुंबसहितेन विमलविसहिकायां देव्याः (राः) श्री अंबिकाया मूर्तिः कारिता । प्रतिष्ठिता ॥

देहरी (२२)

६३--संवत् १३५८ वर्षे ज्येष्ठ सुदि ५ गुरुदिने श्री आदिनाथ भवने श्रीआदिनाथदेव श्रे० जालासत्कुमार राजड विज्जलपावि-स्थान सममुयद्र (?) दे० करसीह।

देहरी नं० (२३)

६४--सं० १३७८ वैशाख वदि ६ रिणस्तंभपुर वास्तव्य जांवड गौत्र सा० हरिचंद्र पुत्र संघपति रतनश्रेयोऽर्थं पुत्र पूना हेमा गाजणैः पद्मप्रभः कारितः श्रीसोमप्रभ सूरे रुपदेशेन ॥

६५--श्रीऋषभनाथस्य। संवत् १२४५ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ प्राग्वाटकुलतिलकमहामात्यश्रीपृथ्वीपालसुतमहामात्यश्रीवनपालेन वृ० भ्रात्रि (तृ) ठ० श्री जगदेव श्रेयसे श्रीऋषभनाथविंबं कारितं प्रतिष्ठितं कासहृदगच्छे श्रीसिंहसूरिभिः मंगलम्।

६६--सं० १३८२ व० कार्तिक सुदि १५ साहु मोहा सुत सा० राजसीह भार्या राजलदेव्या(:) श्रेयसे।

६७--सा० गोसल पु० धर्णसिह पुत्र वीजडसमरसिंहाभ्यां पितृव्य रुदपाल पु० कारितं।

देहरी नं० (२४)

६८--श्रीशांतिनाथस्य। सं० १२४५ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ महामात्य श्रीपृथ्वीपालात्मज माहामात्य श्रीधनपालेन वृ० भ्रातृ ठ० श्रीजगदेव श्रेयसे श्रीशांतिनाथप्रतिमा कारिता कासहृद गच्छे श्री सिंहसूरिभिः प्रतिष्ठिता।

६९--संवत् १३६४ वर्षे ज्येष्ठ सु० २ गुरौ श्री आदिनाथ...... देव.................पुत्र मह......कारिता..........।

देहरी नं० (२५)

७०--सा० गोसल पुत्र रूदपाल श्रेयसे संघपति महणसिंह पुत्र सा० लाला संघपति धर्नासह सा० वीजड पुत्र प्रिथमसीह।

७१--श्री संभवनाथस्य। सं० १२४५ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ महामात्य श्री पृथ्वीपालांगरुह मात्य (महामात्य) श्री धनपालेन

श्री संभवनाथ प्रतिमा कारिता कास हृदगच्छे श्री सिंहसूरिभिः प्रतिष्ठिता ।

७२--सं० १३९५ धणसिंह पुत्र सा० वीजड-समरसिंहाभ्यां भ्रातृ विजपाल श्रेयोऽर्थं ।।

देहरी नं० (२६)

७३--अभिनंदणस्य।............(संवत् १२४५ वर्षे) वैशाख वदि ५ गुरौ............(महामात्य श्री) पृथ्वीपालात्मज महामात्य ....(श्री धनपालेन महामा)त्य श्री पृथ्वीपालसत्क मातृ श्री पद्मावतिश्रेयोऽर्थं..................(श्री अभिनं) दण देव प्रतिमा (कारिता) कासहृद गच्छे श्री सिंहसूरिभिः..............(प्रतिष्ठिता।)

देहरी २७

७४—सुमतिनाथस्य। सं० १२४५ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ प्राग्वाट कुल तिलक (का) मात्य श्री पृथ्वीपाल भार्या महं श्री नामलदेव्या आत्मश्रेयसे श्री सुमतिनाथ प्रतिमा कारिता कासहृद गच्छे श्री सिंहसूरिभिः प्रतिष्ठिता ।।

७५--सं० १२४५ वर्षे वैशाख..............(वदि ५ गुरौ) महामात्य श्री पृथ्वीपाल सुता महण देवा (व्या) आत्मश्रेयसे श्री पद्मप्रभ प्रतिमा कारिता। कासहृदीय श्रीसिंहसूरिभिः प्रतिष्ठिता।

देहरी (२८)

७६--सं० १३९४..............सा० पुत्र नरपति गणपति (?) श्री नेमिनाथबिंबं का० प्र० श्री ज्ञानचन्द्र सूरिभिः ।।सा० नरपति।

देहरी (२९)

७७—सं० १२४५ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ प्राग्वाट कुलोद्भवा-मात्य श्री पृथ्वीपालात्मज ठ० श्री जगदेव पत्नी श्री माधल देव्या आत्म श्रेयोऽर्थं श्री सुपार्श्वनाथप्रतिमा (का०) कासहृदीय श्री सिंह-सूरिभिः प्रतिष्ठिता ।।

७८—सं० १३९४ वर्षे धणवीर पुत्री वा०नाऊआ आत्म श्रे०

आदिनाथ विं० का० प्र० श्री ज्ञानचद्रसूरिभिः ॥ सा० जगा भार्या बा० नाऊआ।

देहरी (३०)

७६—सं० १३७८ वैशाख व० ६ दो महणसुत योदड़ भार्या सुहडादेवि पुत्र महिंदेन पितृमातृ श्रेयसे। महावीरः कारितः। सा० महिंद भार्या रांभीश्रेयसे शांतिनाथः। सा० महिंद भार्या खीमिणि-श्रेयसे पारसनाथजीर्णोद्धारः।

८०—संवत् १२४५ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ प्राग्वाट वंश-तिलकायमान (ना) मात्य श्री धनपाल भार्या महं श्री रूपिण्या आत्मश्रेयोऽर्थं श्री चंद्रप्रभप्रतिमा कारिता। प्रतिष्ठिता श्री सिंह-सूरिभिः ॥

देहरी (३१)

८१—श्री मुनिसुव्रतजिनः। खरतर जाल्हण पुत्र तेजाकेन पुत्री वीरीश्रे० कारितः ॥

८२—सं० १२८६ वर्षे फागुण सुदि ३ रवौ श्रे० आल्हण, रांवण, साढा, रावण सुत व्य० जसधवल, भार्या विजयमति, सुत व्य० गांगणेन भ्रात्रि पूना, वाहड, चाहड़, व्य० गुणसिरिपुत्र धणिग, कडुया, तेजा, नीनू, भंभल, वधू धणसिरि प्र० सकुटुंब श्री रिषभदेव प्रतिमा कारिता, प्रतिष्ठिता चंद्रगच्छीयश्रीमलयचंद्रसूरि शिष्य श्री समन्त-भद्रसूरिभिः ॥छ॥ शुभं भवतु ॥

८३—सा० धणसीह पुत्र सा० वीरधवल, भार्या विजयदेविका०

देहरी (३२)

८४—सं० १२४५ वैशाख वदि ५ गुरौ प्राग्वाट ज्ञातीय भां० शिवदेवऊ भां० जसधवल श्री शांतिनाथ देवस्य।

८५—सं० १३७८ राखीवाल पेणा, भार्या पोल्हण देवि, पुत्र लूणा पुत्री नीविणि श्राविकया संघ० साढल पु० सागण भार्यया स्व श्रे० महावीरः कारितः प्र० श्री धर्मधोषसूरि पट्टे श्री ज्ञानचंद्रसूरिभिः ॥

८६--सं० ११८७ फागुण वदि ४ सोमे भद्रसिणवाडा स्थानीय प्राग्वाट वंसाशान्वये श्रे० साहिल संताने पलाव्दं (दूं) दा श्रे० पासल, संतणाग, देवचंद्र, आसधर, आंवा, अंबकुमार, श्री कुमार, लोयणप्रभृति श्वासिणी शांती यशमति गुणसिरि प्रभृति श्रावक-श्राविकासमुदायेन अर्बुद चैत्य तीर्थे श्री ऋषभदेवबिंबं निःश्रेयसे कारितं। वृहद्गच्छान्वयश्री संविग्न विहारि श्री वर्द्धमान सूरिपाद-पद्मोप........(जीवि) श्री चक्रेश्वरसूरिभिः प्रतिष्ठितं ॥ मंगलं महाश्रीः ॥

देहरी (३३)

८७—सं० १२४५ वैशाख वदि ५ गुरौ श्री अनंतनाथः। प्राग्वाट ज्ञातीय भां० जसधवल भार्या लक्ष्मी ॥

८८--सं० १३७८ उछत्रवाल सामंतपुत्र लाहड, भार्या लखमी, पुत्र पूनिया, कुसलिया, लाखण, झांझण, हरदेव, तेजाकैः पितृमातृ श्रे० कारितं प्रतिष्ठितं श्री धर्मसूरि पट्टे श्री ज्ञानचन्द्र-सूरिभिः ॥ सा० धणसिंह भार्या सा० धांधलदेवि पुत्र श्रेय० सा० वीजडेन कारितं ॥

८९--संवत् १२४५ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ, श्रीयशोदेवसूरि-शिष्यैः श्री देवचन्द्रसूरिभिः श्री अणंतनाथप्रतिमा प्रतिष्ठिता ॥ पाकु (क्) वाट ज्ञातीय भां० जसधवल, भार्या लक्ष्मी आत्म श्रेया (योऽ) र्थं देव श्री अणंतनाथप्रतिमा कारिता ॥

९०--सं० १३९४सा०.........पुत्र कुलचंद्र......पुत्र झांझण (?)माला(?)भ्यां श्रीकुंथुनाथः का० प्र० श्री ज्ञानचन्द्रसूरिभिः ॥

देहरी (३४)

९१—सं० १२४५ वैशाखवदि ५ गुरौ श्री प्राग्वाटवंशीय-यशोधवल सुत भां। शालिगेन देवश्री अरनाथबिंबस्य स्वश्रेय से प्रतिष्ठा कारिता ॥ श्री अर्बुदतीर्थे सकलाभ्युदयकारी भवतु अरनाथः।

९२...सं० १३७८ वर्षे सा० वीक सुत लषम भार्या वकायी श्राव(वि)कया आत्मश्रेयोऽर्थं श्री मल्लिनाथः का० ॥

९३–सं० १२४५ वैशाखवदि ५ गुरौ श्री यशोदेवसूरि-शिष्यैः श्री देवचंद्रसूरिभिः श्रीअरनाथप्रतिमा प्रतिष्ठिता ॥ प्राग्वाट ज्ञातीय भां० जसधवल सुत सालिगेन आत्मनः श्रेयोऽर्थं देवकुलिका कारिता।

दे० (३५)

९४—सं० १३७८ श्री मांडव्य पुरीय सा० महाधर भार्या भावदेवि पुत्र सांगणेन पितृमातृश्रेयसे शांतिनाथः कारितः प्र० श्री धर्मघोषसूरिपट्टे श्रीज्ञानचंद्रसूरिभिः ॥

९५—सं० १२४५ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ श्री वृद्गच्छे श्री मदारासनसत्क श्री यशोदेवसूरिशिष्यैः श्रीदेवचंद्रसूरिभिः श्री श्रेयांस-प्रतिमा प्रतिष्ठिता ॥ प्राग्वाट ज्ञातीय महामात्य श्री पृथ्वीपाल सत्क प्रतीहार पूनचंद्रउ आमदेव भ्रातृ सिरपाल भ्रातृव्यक देसलउ जसवीर धवलउ देवकुमार ब्रह्मचन्द्रउ आंमचंद्र लषमण गुणचंद्र परमार वलवचंद्रउ डूंगरसीह आसदेवउ चाहड गोसलउ बासल रामदेवउ आसचंद्र जाजा प्रभृतीनां ॥

९६–सं० १३०४ वर्षे फागुणसुदि २ बुधे श्री अवुर्दतले काशहृ-दस्थान वास्तव्य श्री संतिनागसंताने श्रे० देदा भार्या पुनसिरि तत्सुत वरदेव पाल्हण, तयोर्भाया पद्मसिरि सिरिमति, वरदेव पुत्र कुवरा भार्या मोहिणि सुत आंब व (ड), पुनड, रूपल, वधू सलषू नाइकि, पाल्हणसुत जेल, सोमल, सोतूप्रभृति कुटंब सहितेन कुवरा श्रावकेण श्री रिषभ बिंबं कारितं । प्रतिष (ष्ठितं) च गुरुभिः ॥

९७–सं० १२८८ वर्षे चैत्र वदि ३ शुक्रे धर्कट वंशीय वाहडि सुत श्रे० भाभू सुत श्रे० भाइलेन श्रे० लिबा, भातृकेल्हण, देदा, आसल, भावदेव, राहड, भादा, बोहडि, बोसरि, कल्हण, काहेल, सरवन, जक्षदेव, धीणा, कुजरण, जगसीह, विजयसीह भोजा प्रभृति कुटंब साहितेन श्री शांतिनाथबिंबं कारितं प्रतिष्ठितं वृहद्गच्छीय वादिदेवसूरि संताने श्री पूर्णभद्रसूरि शिष्यैः श्री पद्मदेवसूरिभिः ॥छ॥

९८—सं० १३९४ व गुणपाल पुत्र ठ० हरिपाल दे, श्रे० का० प्र० श्री ज्ञानचंद्रसूरिभिः। ठ० हरिपाल दे।

देहरी (३६)

९९—संवत् १२४५ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ श्रीबृहद्गच्छे श्री मदारासनसत्क श्रीयशोदेवसूरिशिष्यैः श्रीदेवचन्द्रसूरिभिः श्री धर्मनाथप्रतिमा प्रतिष्ठिता ॥

देहरी (३७)

१००—सं० १३७८ सा० सावड पुत्र नरदा, मदन, पून, पद्म, सलखाकैः पुत्री नाऊ श्रेयसे कारितं ॥

१०१—सं० १२४५ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ, श्री यशोदेव सूरि शिष्यः श्री देवचन्द्रसूरिभिः श्री शीतलनाथप्रतिमा प्रतिष्ठिता ॥

देहरी (३८)

१०२—सं० १३७८ वैशाख व० ९ नाहर गोत्रे सा० जगपाल, पुत्र वीकम, भार्या विजय देवि, पुत्र हीरा, सुहडा, सांगण, लाखाकैर्भ्रातृ हरपालश्रेयसे शांतिनाथः का० प्र० श्री धर्मघोषसूरि पट्टे श्री ज्ञानचन्द्रसूरिभिः ॥

१०३—सं०..................५ गुरौ प्राग्वाटकुलोद्भव ठ. देसल लघु भ्रातृ ठ. लाषणाभ्यां पिता..........भगनी आसिणि श्रेयोर्थं ॥

१०४—सं० १३९४ सा० लषमसीह पुत्र दव..........भीम(?) का० प्र० श्री ज्ञानचन्द्र सूरिभिः ॥

देहरी (३९)

१०५—सं० १३७८ वर्षे ज्येष्ठ व ९ सोमे श्री उपकेश गच्छे श्रीकक्क—

१०६—सं० १२४५ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ, श्री यशोदेव सूरिशिष्यैः श्री देवचन्द्रसूरिभिः श्री कुंथुनाथप्रतिमा प्रति० सं० धांधू ॥

१०७--संवत् १३१९ वर्षे माह शुदि ११ शुक्रे प्राग्वाट ज्ञातीय श्रे० सागर सुत पासदेव भा० माधी, पुत्र पाल्हा, पुत्र हरिचन्द्र भा० देवसिरि तत्पुत्र श्रे० विजयडेन भा० विजयसिरि पु० महणसीह प्रभृ० श्री पार्श्वनाथबिंबं कारितं, प्रतिष्ठितं श्री........चन्द्रसूरिशिष्यैः श्री वर्द्धमान ॥

देहरी (४०)

१०८--सं० १३७८ वर्षे ज्येष्ठ वदि ९ सोमे श्री चैत्रगच्छे ऊकेशज्ञातीय सं० रत्नदेव सं० गुणवर सो० महणसी सो० लूणा, भार्या लूणादे, पु. सो. माला, धरणिग, पाणा, अर्जुन, हरिराजै (जैः) पित्रोः श्रेयसे श्री सुमतिनाथबिंबं कारितं प्रतिष्ठितं श्री हेमप्रभसूरि शिष्यैः श्री रामचन्द्रसूरिभिः ॥

१०९—सं० १३९४ वर्षे, सो० षोषा, भार्या लषमादेवि, पुत्र लुंढाकेन पित्रोः श्रेयसे भ्रातृ ४ सहितेन पुन बिंबंकारितं ॥

११०—सं० १२४५ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ श्री यशोदेवसूरि-शिष्यैः श्री देवचन्द्रसूरिभिः श्रीमल्लिनाथप्रतिमा प्रतिष्ठिता ॥

१११—सं० १३९४ वर्षे सा० महणसीह पुत्र लालाकेन भ्रातृ लाषा श्रे० श्रीशांतिः का० प्र० श्री ज्ञानचन्द्रसूरिभिः ।

देहरी (४१)

११२--सं० १२४५ वर्णे वैशाख वदि ५ गुरौ बृहद्गच्छे श्री-मदारासनसत्क श्रीयशोदेवसूरिशिष्यैः श्री देवचन्द्रसूरिभिर्वासुपूज्य प्रतिमा प्रतिष्ठिता ।

देहरी (४२)

११३—सं० १३७८ वर्षे ज्येष्ठ व० ९ सोमे श्री उपकेशिगच्छे श्री ककुदाचार्य संताने हठा गोति सा० लाहडान्वये सा० धांधू पुत्र सा० छाजू भोपति, भोजा, भरह, सोढा, पून प्रमुखैः श्री आदिनाथः का० प्रतिष्ठितः श्री कक्कसूरिभिः ।

११४– संवत् १२४५ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ श्रीयशोदेव-सूरिशिष्यैः श्री देवचन्द्रसूरिभिः श्री अजितनाथप्रतिमा प्रतिष्ठिता ॥

देहरी (४३)

११५—संवत् १२४५ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ श्री वृहद्गच्छे श्रीमदारासनसत्क श्रीयशोदेवसूरिशिष्यैः श्री दवचन्द्रसूरिभिर्नेमिनाथ-प्रतिमा प्रतिष्ठिता ॥ कारिता च पुत्र महं० आम्रवीरश्रेयोऽर्थं श्री नागपालेन ।

११६ संवत् १३०२ श्रीमदर्बुदमहातीर्थे श्रीमदादिनाथ चैत्ये कांताज(?) ज्ञातीय ठ० उदयपाल, पुत्र ठ० श्रीधर प्रणयिन्या ठ० भागी पुंत्र्या ठ० आंबदेवसिंहज पूर्णसिंह जनन्ये (न्या) वीरिकया खत्तकसमेत श्रीनेमिनार्थाबिंबमात्मश्रेयोऽर्थं कारितं प्रतिष्ठितं च रुद्रपल्लीय श्री देवभद्रसूरिभिरेव ॥

११७—संवत् १३०२ वर्षे माघवदि ९ शनौ.........नवर संतानीय श्रीरुद्रपल्लीय श्रीमदभयदेवसूरिशिष्याणां श्रीदेवभद्र सूरीणामुपदेशेन स. पल्ह, पुत्र स. चाहड, पुत्र्या थेहिकया श्रीमदर्बुद तीर्थे श्रीमदादिनाथबिंबं सपरिकरमात्मश्रेयोऽर्थं कारितं प्रतिष्ठितं च श्रीमद्देवभद्रसूरिभिरेव ॥ छ ॥ छ ॥

देहरी (४४)

११८—संवत् १२४५ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ, श्री कासहृदीय गच्छे श्रीउद्योतनाचार्यसंताने श्रे० जसणाग, चांदणाग, जिंदा सुत जसहड, जसोधण, देवचन्द्र, जसहड भार्या मालू, तत्पुत्र पारस भार्या साढी, मातृवसू, पारस पुत्र आंबवीर, कुलधर, राणू श्रे० देवचन्द्र सुत शालिग, तत्पुत्र आसचन्द्र, आसपाल, आल्हण, आंमदेव सुत अजिया, भाग्नेयी लषमिणि, पोई, प्रभृतिआत्मीयकुटुंबसहितेन श्रे० जसहड पुत्रेण पार्श्वचन्द्रेण आत्मश्रेयोऽर्थं श्री पार्श्वनाथप्रतिमा कारिता, प्रतिष्ठिता श्रीउद्योतनाचार्यश्रीसिंहसूरिभिः ॥ ॥मंगलमस्तु॥

११९—सं० ९३ (?) मार्ग सु १० श्री अर्बुदाचले श्रे० कुल धर बिटी पातू, सा० नांढू,पुत्री कोली श्रेयोऽर्थं श्री महावीरबिंबं कारितं शुभं भवतु ॥

१२०--सं० १५०७ वर्षे वर्षाचतुर्मासीस्थिताः पंडित विमल धर्मगणयः, नंदिकुशल गणि, जिनशीलमुनि प्रमुखपरिवार परिवृता नित्यं श्री आदिदेवं प्रणमंति ॥

देहरी (४५)

१२१—सं० १२४५ वर्षे--

(श्री)षंडेरकगच्छे, महति यशोभद्रसूरिसंताने ।
श्री शांतिसूरिरास्ते, तत्पादसरोजयुगभृंगः ॥१॥
वितीर्णधनसंचयः क्षतविपक्षलक्षाग्रणीः ।
कृतोरुगुरुरैवतप्रमुखतीर्थयात्रोत्सवः ॥
दधत् क्षितिभृतां मुदे विशदधीः स दुःसाधता ।
मभूदुदयसंज्ञया त्रिविधवीरचूडामणिः ॥२॥
तदंगजन्मास्ति कवींद्रबंधु-र्मन्त्री यशोवीर इति प्रसिद्धः ।
ब्राह्मीरमाभ्यां युगपद्गुणोत्थविरोधशांत्यर्थमिवाश्रितो यः ॥३॥
तेन सुमतिना जिनमतनैपुण्यात् कारिता स्वपुण्याय ।
श्रीनमिबिंबाधिष्ठतमध्या सद्देवकुलिकेयं ॥४॥

॥शुभं भवतु॥

१२२—सा लखू पुत्र तिहुअणसीह श्रीशांतिनाथ (थः) कारितं (तः) प्रतिष्ठितं (तः) श्री कक्कसूरिभिः ॥

१२३—संवत् १२४५ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ श्रीयशोदेव-शिष्यैः श्रीनेमिनाथप्रतिमा श्रीदेवचन्द्रसूरिभिः प्रतिष्ठिता ॥ श्री षंडेरकगच्छे दुसी० श्रीउदयसिंहपुत्रेण मंत्रि श्रीयशोवीरेण मातृ दु० उदयश्रीश्रेयोऽर्थं प्रतिमा सतोरणसदेवकुलिका कारिता श्री मद्धर्कटवंशे ॥

१२४—सा०⋯⋯बिंब उधार कारित नागपुर⋯⋯सीहे बिंबउधार कारिता ॥

१२५--संवत् १६०६ वर्षे⋯⋯मंगलवारे श्री चतुरस (?) गच्छे श्री लाला हरिदास⋯⋯यात्रा सफल ।

देहरी (४६)

१२६—संवत् १३७८ वर्षे वैशाख(शु)दि ९ उप(के)श ज्ञातीय छादल गो………… श्री अजितनाथबिंबं कारितं प्रतिष्ठितं श्री प्रभसूरिशिष्य श्रीमहेन्द्रसूरिभिः ।।

१२७——संवत् १२४५ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ प्राग्वाटवंश कुलतिलक महामात्य श्रीमदानंदसुत ठ० श्री नानासुत ठ० श्री नागपालेन मातृ त्रिभवनदेव्याः श्रेयोऽर्थं श्रीमहावीरबिंबं कारितं प्रतिष्ठितं श्री रत्नसिंहसूरिभिः ।।

१२८——संवत् १६१६ वर्षे महाशुदि ११ कृष्णर्च्चि (षि) गच्छे भ० श्री धर्मचन्द्रसूरि उ०…………

देहरी (४७)

१२९—संवत् १३७८ वर्षे वैशाख सुदि ९ श्रीसंतनाथदेहरी श्रे० आमकुवारसुत० वसा० जगपाल भार्या जासलदेवि वसा० भीम जाल्हा जगसीह जैता एतं श्री आर्बुदे जीरणो उद्धारु व्यवु (बिंबं?) करापितं ।।

१३०——संवत् १२१२ ज्येष्ठ सुदि ११ शुक्रे श्री षंडेरगच्छे श्री शालिभद्राचार्यसताने श्रे० पाजा, तद्भार्या सहजी, तत्पुत्र जेसल, तद् भार्या आंविणि, तत्पुत्रौ पापल-बहुचंद्रौ वृहद्भ्रातृ भार्या बहुदेवि पुत्र आसल, बालादि कुटुंबसमुदायेन श्री महावीरबिंबं करापितमिति।

१३१—संवत् १३९४ सा० गुणधर पुत्रं………… जि० कारितः श्री प्र० श्रीज्ञानचंद्रसूरिभिः ।।

देहरी (४८)

१३२——संवत् १२१२ माघ शुदि दशम्यां बुधे महं० ललितांग महं० शीतयोः पुत्रेण ठ० पद्मसिंहेनात्मीय ज्येष्ठभ्रातृ ठ० नरवाहण श्रेयोऽर्थं श्री मदजितनाथबिंबमर्बुदे कारितं प्रतिष्ठितं श्री शीलभद्र-सूरिशिष्यश्रीभरतेश्वराचार्यशिष्यैः श्रीवैरस्वामिसूरिभिरिति ।। मंगलं महाश्रीः ।।

देहरी (४९)

१३३--सं० १३७८ नाहर गोत्रे सा० उदयसिंहसुत जगपाल भार्या जयतलदेवि पुत्र वयजाकेन मातृपितृश्रेयसे का० प्र० श्री धर्म-सूरि पट्टे श्रीज्ञानचंद्रसूरिभिः ॥

१३४--संवत् १२१२ माघ सुदि वुधे १० ठ० अमरसेण ठ० वैजल देव्योः पुत्रेण महं० श्री जज्जुकेन महं० जासुकाकुक्षिसमुद्भूत-स्वसुत ठ० कुमरसिंहश्रेयोऽर्थं श्रीपार्श्वनाथबिंबमर्बुदे कारितं ॥ प्रतिष्ठितंच श्रीशीलभद्रसूरि-शिष्यश्रीभरतेश्वराचार्यशिष्यैः श्री वैरस्वामिसूरिभिः ॥ मंगलं महाश्रीः ॥

१३५--सं० १२१२ माघ शु० १० महं० श्री जजुक भार्यया महं० जासुकया श्रेयोऽर्थं चतुर्विंशतिपट्टकोऽर्बुदे कारितः प्रतिष्ठितश्च श्रीवैरस्वामिसूरिभिरिति ॥

देहरी (५०)

१३६--संवत् १२४५ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ श्री विमलनाथ-प्रतिमा प्रतिष्टता ॥

१३७--सं० १३९४ सं० जाला श्रे० संघ० नरपालेन श्रीमहा-वीरविंवं कारितं, प्रति० श्रीकक्कसूरिभिः। सं० नरपाल।

देहरी (५१)

१३८-संवत् १२१२ ज्येष्ठ वदि ८ भौमे चड्डा० ककुदाचार्यैः प्रतिष्ठिता।

१३९-सं० १३९४ सा० हरिचन्द्रपुत्र सा० रामा पितृ श्रे० प्र० श्री ज्ञानचन्द्रसूरिभिः। सा० रामा।

देहरी (५२)

१४०—सं० १३७८ वर्षे वैशाख वदि ९ सोमे श्री अवुर्दाचले श्री विमलवसहिकायां श्रीश्रीमालज्ञातीय महं० श्री ज (?) कडु सुत महं० श्री खेतलेन संजातभंगानंतरं श्रीमहावीरविंबं स्वश्रेयसे कारापितं ॥

देहरी (५३)

१४१—सं० १२१२ माघ सुदि दशम्यां बुधे महामात्य श्रीमदानन्द महं० श्री सलूणयोः पुत्रेण ठ० श्री नानाकेन ठ० श्री त्रिभुवन देवीकुक्षिसमुद्भूत स्वसुतदंडश्री नागार्जुनश्रे०……… कारितं, प्रतिष्ठितं च श्री शीलभद्र सूरि शिष्यश्री भरतेश्वराचार्य शिष्यैः श्री वैरस्वामिसूरिभिरिति ॥ मंगलं महाश्रीः ॥

१४२—सं० १३६४ सं० उदयराजपुत्र सं० धांधा पु० ववलदेवि भ्रा० श्री शीतलः का० प्र० श्री ज्ञानचन्द्र सूरिभिः ।

१४३—सं० १४०१ कार्त्तिक सु० ८ शुक्रे सा० पातल श्री० प्रेमलदेवि प्रतापदे ॥ पुत्र बाहड श्रेयोऽर्थं श्रीवासुपूज्यबिम्बं कारितं प्रतिष्टितं सूरिभिः ।

देहरी (५४)

१४४—सं० १३७८ वर्षे व्य० वयरि सीह पुथ (पुत्र) खीवडिया तिहुणा भार्या तिहुणदे पुत्र खीवडिया आसाकेन पितृमातृश्रेय से जीर्णोद्धारः ॥

१४५—सं० १२२२ फाल्गुन सुदि १३ रवौ श्री कासहृदगच्छे श्रीमदुद्योतनाचार्यसन्ताने अर्बुदवास्तव्य श्रे० वरणाग तद्भार्या दूली तत्पुत्रौ श्रे० छाहड-वाहडौ, प्रथमभार्या जासू तत्पुत्रा देवचन्द्र, वीरचन्द्र, पार्श्वचन्द्र प्रभृतिसमस्तकुटुम्बसमुदायेन श्री पार्श्वनाथ बिंबं आत्मश्रेयोऽर्थं कारितमिति ॥ मंगलं महाश्रीः ॥ चन्द्रार्कं यावन्नंदतु । चिरं जयतु ॥

१४६—सं० १२३० ज्येष्ट शुदि १० रवौ श्रे०………वर्धन सुत देवचंद्र, वीरचंद्र, पार्श्व ।

१४७—सं० १३९४…………सा०…………भ्यां श्री आदि-जिनः का० प्र० श्री पासचंद्रसूरिभिः ॥

१४८—संवत् १३७८ वर्षे ज्येष्ठवदि ९ सोमे मांडव्य पुरीय संघ० देसल सुत संघ० गोसल भ्रातृ भीमा सुत संघ० महणसीह

तथा सं० धणसीह सं० महणसीहसुत सा० लाला सं० धणसीह सुत सा० वीजड.........।

१४६—संवत् १३७८ वर्षे ज्येष्ठ वदि ९ सोमे मांडव्यपुरीय संघ(०)देसल सुत संघ० गोसल तथा सा भीमासुत संघ० महणसीह तथा सं० गोसल सुत सं० धणसीह तथा सं० महणसीहसुत सा० लाला तथा वीजडाभ्यां स्वकुटुम्वश्रेयसे श्री आदिनाथबिंब श्री धर्मघोषसूरि (री)णां पट्टे श्रीज्ञानचन्द्रसूरीणामुपदेशेन कारितं शुभं भवतु ॥

१५०—सं० १६६१ वर्षे आसू सूदि ११ दिने वार शुक्रे उसवाल ज्ञातीय सा० मुला संघवी रूपा, राउत, कचरा, जगमाल, श्री सीरोहीनगरे वास्तव्यैः श्री अर्बुदाचलचैत्ये युगप्रधानभट्टारक श्रीश्रीश्रीश्रीश्रीहीरविजयसूरि (री) श्वराणां प्रतिमा भरापिता ॥ महोपाध्याय श्री लब्धिसागरैर्वासक्षेपः कारितः ॥ श्रेयसे भवतु॥ सूत्र पंचायण कृता ॥श्री॥

१५१-प्राग्वाटवंशतिलकः, श्रेष्ठि देव 'इतिनामधेयोत् (भूत)'

संधीरणोऽस्य पुत्रस्तस्यापि यशोधनस्तनयः ॥१॥
भव्या यशोभतीनामा पत्नी पुत्रास्तयोः पंच चैते ।
अंबकुमारो गोतः, श्रीधर-आशाधरो वीरः ॥२॥
द्वादशवर्ष युतेषु, द्वादशसु शतेषु विक्रमार्कनृपात् ।
भौमे बहुलाष्टम्यां, ज्येष्ठस्य युगादिजिनबिंबम् ॥३॥
अकार्य (यंत) पितुः स्वस्य श्रेय से तैरिदं मुदा ॥
अर्बुदाद्रिशिरोवप्रे श्रीनाभेयजिनालये ॥४॥

१५२—स्वस्ति श्री सं० १५२० वर्षे आषाढ सुदि १ बुधे, प्राग्वाट ज्ञातीय सं० वरसिंग, भार्या मंदोयरि सुत महं० आल्हण महं गोल्हण अनुज महं कीका तद्भार्या भोली श्रेयोऽर्थं श्री पद्म प्रभबिंबं ॥

१५३—सं० १३७८ वर्षे फाल्गुन वदि ११ गुरौ श्रीमत्पत्तन-वास्तव्य प्राग्वाटज्ञातीय श्री ठ० श्रीचांडा ससुत ठ० श्री सूमाकीय-

तनुज ठ० श्री आसरातनुज महं श्रीमालदेव श्रेयसे सहोदर महं श्री वस्तुपालेन श्रीमल्लिनाथदेवखत्तकं कारितमिदमिति। मंगलं महा श्रीः ।। शुभं भवतु लेखकस्य।

१५४—सं० १५२३ वर्षे वैशखशुदि १३ गुरौ सं० गकर सिंहेन श्रीवर्द्धमानप्रतिमा कारिता श्रीचारित्रसुंदरसूरीणामुपदेशेन ।।

१५५—सं० १४०८ वर्षे वैशाखमासे शुक्लपक्षे ५ पंचम्यां तिथौ गुरुदिने श्री कोरंटकगच्छे श्रीनन्नाचार्यसंताने महं कउंरा भार्या महं काउरदे, सुत महं० मदन महं० पूर्णसिंह तद्भार्या पूर्णसिरि पुत्र महं०दूदा, म० धांधल, म० धारलदे, म० चांपलदेवि पुत्र समरसिंह हापा, उणसिंह, जाणा, नोंबा, भगिनी बा०वीरी, भागिनेय महं० आल्हा प्रमुखसमस्तकुटुंबश्रेयसे प्र० धांधुकेन श्रीयुगादिदेवप्रासादे जिन युगलं कारितं प्रतिष्ठितं श्रीकक्कसूरिभिः ।।

१५६—संवत् १४०८ वर्षे वैशाखमासे शुक्लपक्षे ५ पंचम्यां तिथौ गुरुदिने श्रीकोरंटकगच्छे श्रीनन्नाचार्यसंताने महं कउंरा, भार्या महं० कुँरदे, पुत्र महं मदन, म० पूर्णसिंह सः (तद्भर्या) पूर्णसिरिसुत महं० दूदा, म० धांधल,मूलू, म० जसपाल, गेहा, रुदा प्रभृति समस्त श्रेयसे श्रीयुगादिदेवप्रासादे महं धांधूकेन श्रीजिनयुगलद्वयं कारितं प्रतिष्ठितं श्रीनन्नसूरिपट्टे श्रीकक्कसूरिभिः ।।

१५७—सं० १३८९ वर्षे शुदि ८ शुक्रे.................गोष्टि सा० छाजल, पुत्र भोजदेव, भार्या पूनी, पाल्हा पुत्र तोल्हीया, पुत्री तीहोण, भग्नी आत्मश्रेयसे श्रीशांतिनाथबिंबं कारितं, प्रतिष्ठितं श्रीज्ञानचन्द्र-सूरिभिः ।

१५८—सं० १३०८ वैशाख वदि ९ श्रीश्रीमाल ज्ञातीय ठ० केल्हा सुत मं ठ० आल्हा ठ० पेथड झांझण प्रभृतिभिः श्रेयसे कारिता ।।

१५९—सं० १३२९ ज्येष्ठ सु० १० श्री दुस्साधान्वये महं० हरिराज पुत्रेण समरसिंहेन स्वपितामही महं० हांसलदेवि श्रेय से श्री पार्श्वनाथबिंबं कारितं प्र० वृहद्गच्छे श्री मुनिरत्नसूरिभिः ।।

१६०—सं० १४७१ वर्षे माघ सुदि १३ बुधे प्रा० व्य० सलषमण भा० रुदी पु० भीलाकेन पित्रोः आत्मश्रेयोऽर्थं श्री पार्श्वनाथबिंबं कारितं प्रति० ब्रह्माणीय गच्छे भ० श्री उदयाणंदसूरिभिः ।।

१६१——सं० १४८५ प्राग्वाट व्य० डूंगर भार्या उमादे पुत्र व्य० साल्हाकेन भा० माल्हणदे पुत्र कीना, दीनादियुतेन श्री सुपार्श्व चतुर्विंशतिकापट्टः कारितः प्रतिष्ठितस्तपागच्छे श्रीसोम सुन्दरसूरिभिः ।।

१६२——सम्वत् १९२० मि । फा । व । २ सा० प्रतापसिंहजी भार्या मेहताव कुमर कारित श्री मल्लिनाथजी बिं (बं) ।

१६३——सम्वत् १३६८ माघ सु० ७ सा० गोसलसत्क मूर्तिः सा वीजडकरापिता (प्रथम पुरुष मूर्ति पर)

१६४——सुहू० सुहाग देवि (द्वितीय स्त्री मूर्ति पर)

१६५——सुहू० गुणदेवि सत्का मूर्त्तिः सा वीजड करापिता । (तृ० स्त्री मूर्ति पर)

१६६——सा० मुहणसीह सत्कामूर्तिः (सम्वत् १३६८)

१६७——सुहू मीणलदेवि सत्कमूर्तिः (गू० मं० गृ० मूर्तियां)

१६८——संघपति घनसिंह, भार्या धांधलदेवि, पुत्र वीजड, समर सीह, विजपाल, वीदाकैर्भ्रातृ षिमधरखेलतदेविश्रेय से कारितं ।।

१६९——सम्वत् १३७८ संघ० धर्नासिह, भार्या धांधलदेवि, पुत्र वीजड, समरसीह, विजयपाल, (वी) रधवलैर्भ्रातृखिन (म) धर श्रेयसे श्री महावीरः का० प्र० श्री धर्मसूरि पट्टके श्री ज्ञानचन्द्र सूरिभिः ।।

१७०—सम्वत् १३६४ सूराणा पा० ठाकुर पुत्र भीमदेवेन ....प्र० श्री ज्ञानचन्द्रसूरिभिः ।।

१७१—सं० १७१५ वर्षे आसाढ वद १४ दने चुहारा, हरदास, सुरतण, रामजी, लाधा, जेता, गोवा, वना, पदा, कसनरामजी लषतु ।।

१७२—सं० १४८३ वर्षे श्री खरतरगच्छे महतिआणिवंशे जवणपुर वास्तव्य ठाकुर मोहण पुत्र वीरनाथः श्री आदिनाथं सदा प्रणमति सपरिवारः ।

१७३—सा जोधा करमसी पुत्र इना, देवा स० भीम थी(छी)तर पुत्र ममण, सं० सोना पोरवाड तथा पुत्र सेढा, सोमा, चार(?)पुत्र नरसिंघ भी पुत्र पंच, हेमा, करम, नवा, नादा, सपत्र पं० कमा, काल, पुत्र, कला, छीतर, देपाल प(पु)त्र नवा माका, प्रसह प(पु)त्र सा देला नागरपुत्र राजा, प्रका, ईधा, जोधा, वसा, थेडश(?), कामधा,(?) संवत् १६१२ वर्षे मागसर वद ८ शक्र..................

१७४—सं० १६७७ वर्षे कातिग सुदि १३ तेरस श्री आबू चडया, ॥ संघ दसोर-सीतामऊ-संघ चडय ॥ संघवि लषसीह, महराज, ॥ साह मेघराज लषु, जेवंत, ॥ गोत्रे बापणा सोनगरा ॥ वीरजी, कावड्या वीरधा ॥ तपागच्छ ध्रम माणस हजार ३००० श्री संघ साथ आबुजी परसि समस्त बालगोपाल सहित चीरं जीव होजो ठाकुर श्री चंद्रभाण देयालदास पांडे रामा सुत पांडे छीतर.................॥

१७५—श्रीगोत्र देव्याः प्रसादात् संमत् १६७७ वर्षे कातिक मासे शुक्ल त्रयोदस्यायां सुभदिने गढ दसोर वापणा लखु जेवंत सोनगरा विरजी, हीरजी, कवेड्या विरधासाह कमासाह सोनगरा धमासाह जीवा वापणा कमु सोनगरा संघवि लषु जवंत विरजी वीरधा संघवीच्यार ॥

१७६—सं० १६५५ वर्षे फागुण वि० ५ वु० हांसा, मनाउत्र सीरोही राच प्रमुष कमठाई पुत्र वु । सुरतण सिवराज संघी सुत्र० नेता राउत षीमसी डांहा जात्रा सफल श्री ॥

१७७—।८॥ श्रीमान्नाभिसुतो भूयात्, सर्वकल्याणदः सदा ॥
चारुचामीकरज्योतिः, श्रिये श्रेयस्करः स वः ॥१॥

सम्वत् १४९४ वर्षे पौष सुदि २ रवौ श्री खरतरगच्छे श्री पूज्य श्री जिनसागरसूरि गच्छनायकसमादेशेन निरंतरं श्री विवेक हंसोपाध्यायाः—पं० लक्ष्मीसागरगणि-जयकीर्तिमुनि-रत्नलाभ-

मुनि-देवसमुद्र क्षुल्लक, धर्मसमुद्रक्षुल्लक प्रमुखसाधुसहायाः भावमभि (ति) गणि (नी) प्र० धर्म प्रभा गणि (नी) रत्न सुन्दरि साध्वी प्रमुख सं० गोल्हा, सं० डूंगर, सा० मेला प्रमुख श्रावक-श्राविका प्रभृति श्री विधिसमुदायसहिताः श्री आदिनाथ श्री नेमिनाथौ प्रत्यहं प्रणमंति ।।छा। शुभं भवतु ।।छ।।

१७८--सम्वत् १६३० वर्षे जेठ सुद २ दिने वागड देस राजा (ना ?) आसकरण तेज वंश सलट सू० रणं मुल पुत्र सडा पुत्र पालापुत्र कंपापुत्र हापू पुत्रो पाता अजा मुकन्द पाता पुत्र अलूआ चण्डाउस

१७९--सम्वत् १६१७ वर्षे सन् ९६१ (?) भाद्रवा वदि ९ दिने गुरु साह सोमा सुत करमचन्द जात्रा सफल वास दधाली श्रीमाल वामा हे उसवाल लोढा साथ भोजग मकुंदे ।।

१८० सम्वत् १६२१ वर्षे पोश शुदि १३ शुक्रे श्री तपागच्छ श्री वीजदानसूरि भट्टारक श्री हीरवजिसूरि श्रीआंवइ नगरे श्रीमाली लाडूआ नीआती श्रो (गौत्र सांबा) पोल भाडा वाई तेजू सत श्रो० (?) सीहा भ्राभ (पूत्री संघाती चं) द्रामति सत संघवी (इ अली संगाछ) हांसा भ्रत हेमा श्रीपति सत नाकर वर्धमान सामल काहानजी, पीरजी, हीरजी, सूरजी, देमत मनरंजी श्रि (?) दीनात्र संघ गय ।.....................जात्र सफल ।।

१८१--सं० १६१६ वर्षे माह सुदि ११ दिने उसभगोत्रे साह कवरपाल पुत्र छीतर लषा लोला माता रंभा भा० वलां लिषितं उ० माणिकराज ।।

१८२--सम्वत् १६१६ वर्षे माह सुदि ११ दिने उसवाल नग गोत्रे सा० दूलह सुत सा० तोला वीरम, पु० रूपा, वस्ता, सोना, भा० नेनू बाई राज यात्रा सफल उ० माणिकराज कन्हर सा लिषि ।।

१८३--संवत् १३०८ वर्षे फाल्गुन वदि ११ शुक्रे श्री नाण-कगच्छे श्री आवाटवास्तव्य श्रे० आंब प्रसाद, लूण, पाल्हण, माल्हण, आम्रप्रसाद पुत्र सा० श्रीपति तत्सुत सा० पुनाकेन आभा,

महणसीह, रावण, मातृ उदयसिरि, आल्ह भार्या जयतु हीरू वधू भोपल थाहडादि कुटुंबसहितेन पुत्र जगसीह श्रेयोऽर्थं श्री रिषभदेव सर्वांगाभरणस्य जीर्णोद्धारः कृतः ॥

१८४ सं० १३०८ वर्षे फाल्गुण वदि ११ शुक्रे श्री जावालि-पुर वास्तव्य चन्द्रगच्छीय खरतर सा० दूलहसुत संधीरण तत्सुत सा० वीजा, तत्पुत्र सा० सलषणेन पितामही राजू माता साऊ भार्या माल्हण देवि सहितेन श्री आदिनाथसत्क सर्वांगाभरणस्य साउ श्रेयोऽर्थं जीर्णोद्धारः कृतः ॥

१८५—सं० १५९७ वर्षे फागुण सुदि ५ श्री खरतरगच्छे भ० श्री जिनप्रभसूरि(रेर)न्वये उ० श्री आनंदराज सि० उ० श्री अभय चन्द, सि० उ० श्री हरि(हीर)कलश, सिष्य वा० श्री सहजकलश, गणि, सि० भक्ति लाभ, मतिलाल (भ) भागलाभ परिवार सहितेन यात्रा कृता आदिनाथस्य शुभं भवतु। श्रीमालन्याती विनालिया गोत्रे चो० यो पुत्र जगराज सहितेन यात्रा कृताः। नित्यं प्रणमति नैयणां सुत तिपूर भोजग ॥

१८६—सं० १५९७ वर्षे फाल्गुन शुदि ५ भौमदिने श्री रुद्र-पल्लीयगच्छे भट्टारिकदेवसुंदरसूरि सिक्ष वाचक श्री विवेकसुंदर तत् सिक्ष वा० श्री हेमरत्न तत् सिष्य वा० श्री सोमरत्न तत् सिक्ष वा०श्री गुणरत्न वांधव ग० लक्ष्मीरत्न तिलोकचन्द्र गोष्टिदुर्घट गोत्रे साह वील्हराज तत्पुत्र साह पूना उदयराज परिवार सहितेन संघ संजुक्तेन श्री आदिनाथयात्रा कृता। सफलमस्तु शुभं ॥

१८७—रिष श्री पूजि षेमासागर, रिषश्री हीरागर(हीरसागर) बीजा मत की चेली। साहगुणा, धूपा, गोदा पुत्र सं० १६११वर्षे पोस वदि ५ साध्वी सुवीरा, साधवी, भांनां, साहगुणा, साह षेता साहा वाहदुर, साह लोलावाई, पेमावाई, हमांवाई, घाना सावावाई, रूपाबाई, मनोरदेबाई, सीतां, पूनां, लाडमदे लालां रमाँ।

१८८—श्रीअचलगच्छे श्रीउदयराज उपाध्याय शिष्य वा० विमलचन्द्र ग; पं० देवचन्द्र, पं० नवनरंग, पं० तिलकराज, सोमचन्द्र, रुर्ब(षि)रत्न गुणरत्न, दयारत्न समस्तपरिवार यात्रा पुंन्यानदइंडा

(ग)पंरत्र(?)चमास कीधा, संघ आग्रहेन श्री गुणनिधानसूर-प्रसादात(?)।

१८९—श्रीमालषेता, वंश श्री श्रीमाल, जाडा समा जात्रा सफल हुई। संवत् १६१६ वरषे माहवदि ११ वार भो(?)मे विंश साल श्रीमाल जात्रा सफल गोत्र कोटा ॥

१९०—संवत् १६०८ वर्षे वसाषिवदि ६ सुक्रे वासरे विध पक्ष्य श्री ५ विजइराज तत् सिष्य श्री धर्मरास(ज?)तत्सिष्य श्री ५ षिमासागर तत् सिष्य रिषि हीरा रिः छीतरा रिः धना रिः लाला रिः झोझा रिः रूपू रि दसर्थ, साध्वी नाथी, साः मीमां, साः दीपां, साः दूदां, साः षेमां, साः रत्नां, साः रूपां, समस्त परिवार सहित परिवार सहत श्री अर्बुदाचल जात्राँ कृत्वा सफल भविति समस्त संघ श्री गेहा, श्राविछ लाकालदे, श्रा० लाडमदे प्रमुखकिल्याणमस्तु ॥

१९१—पं० स० जे प्रमोदगणि, विद्याकुशलमुनि, तथा प्र० आणंद शोनी, यात्रा सफ़ल ॥

१९२—संवत् १५९७ वर्षे फागुण शुदि ५ वार सोमे सं० सामल सुत सहसा सुत कालू सुत अचलू सूगणागोत्रे, वास्तव्य रतलाम नगरे यात्रा सफला सुभा भवतुः ॥

१९३—सं० १६१४ वर्षे मागसिर वदि ५ शुक्रे मघा नक्षत्रे वृद्धि नाम्नि योगे, शुभोदयशुभवेलायां श्रीतपागच्छे श्रीश्रीपालहण-पुरा पक्षीय पं० श्रीविनयप्रमोदगणि शिष्योपदेशेन अहम्मदावाद वासीय श्रीश्रीमालज्ञातीय सं० श्रीवमा उसवाल ज्ञातीय सं० सीहा उभयो-रेकत्रीभूये चतुर्विध श्रीसंघयुतौ श्री अबुर्दाचले यात्रा कृता। सकल कुटुंव युतौ। श्रीवमा श्री सीहाख्यश्र(श्च) श्री आदिनाथप्रसादात् ऋद्धि भवितु वृद्धिर्भवतु। मं० माला भवतु।

१९४—पं० लक्ष्मीकुशल गणिनी यात्रा, शिष्य विद्याकुलनी यात्रा सफल ॥ संवत् १६२१ वर्षे माह वदि १० शुक्रे श्री तपा-पालहणपुरीयपक्षे श्री सोमविमलसूरि श्रीसकलहर्षसूरिणोपदेशेन श्री अहम्मदावादीय श्रीश्रीमाल जातीय सा रत्ना भार्या अजाई पुत्र

रत्न, सं० वमा, सं० भदूं भाई संघाधिपति सं० वुलू(?)राज संघाधिपति सं० लषराज चतुर्विध श्रीसंघयुतेन श्री अवुर्दाचलयात्रा कृता कारापिता सतु(कु)टंबयुतेन सं० रूपचन्द, देवचन्द, टोकर, भगिनिबाई सषाई, पुत्र वर्ध्धमाना माना युतेन यात्रा कृता ॥

१९५—पं० श्रीसंघ चारित्ररत्नगणि गुरवे ।

सं० १६०३ वर्षे श्रीपाल्हणपुरीय यक्षोपाध्याय श्री विमलचारित्रगणि, शिष्य माणिक्यचारित्र, ज्ञानचारित्र, हेमचारित्र, शचधीर, धर्मधीर, शिष्याणी प्र० विद्यासुमति, रत्नसुमति, प्रमुख परिवार युतानामुपदेशेन श्रीवृद्धशाखीय सा० श्री जीवराज भा० पल्हाई तयोः पुत्ररत्न सं० श्रीहीराजीकेन पुत्र देवजी प्रमुखकुटंब युतेन सकल संघजन साधुसाध्वीनां यात्रा कारिता स्वकुटुंबश्रेयसे, पं० अमरहसगणि, पं० कनकसुंदर, विमलचरण, पं० विजयविमल, लक्ष्मीदान, विवेकनी(धी)र(?)लक्ष्मीचूला यात्रा सफल ।

१९६—निजगुरु पंडित श्रीसंघचारित्रगणिगुरुभ्यो नमः श्री पाल्हणपुरापक्षीय महोपा० विमलचारित्रपूज्यगणीनामुपदेशेन शतैकोत्तरवाहिनी संघजनानां च श्रीगुर्जरज्ञातीय मं० नरसिंघ भा० लीलादे,..................भागिनेय बलाल..................याऋगीभा...कु प्रज्ञा-पणी लालबाई, श्रीमालीज्ञाति शृंगारसरूपचन्द सं० सहसकिरण श्रीमलमलजी वृद्ध प्राग्वाटज्ञातीय सा० जीवराज सुत सं० लीराकेस रत्नः सत्पुरुषः सकलश्रीसंघलोकसाधुसाध्वोनां यात्रा कारिता । निज पितृव्यकेन स्वपितृमातृ कुटंब श्रेयसे संघपतिपदं प श्रीथापना दत्ता । सं० १६०३ पोष शुदि ५ गुरौ । सं५ कुरजी पंडित श्री ४ सं० चारित्रगणि शिषमहोपाध्याय श्री श्री श्री श्री विमलचारित्र-गणी नामुपदेशेन जीऊमलजी घनजी संघवी ॥

१९७—सँ. १६१६ वर्षे माह सुदि ११ कृष्ण ऋ० गच्छे भ० श्री धर्मचन्दसूरि महोपाध्याय श्रीमाणिकराजा वा० लिक्ष्मी लाभः ग० गुणकीर्ति, मुहरिदास ग०, जयसिंघ, कान्हा मुनिसिद्धपाल, चि० माधा चिरमंत्री श्रीमाल वराहु रूना, साह भइरब, गोइंद. जयसिंघ, करमसी, जात्रा गुरणा सार्धे सफल ॥

१९८—संवत् १६१३ वर्षे वैशाखं शुदि ८ दिने श्रीवृहद्गच्छे भट्टारक श्री ७ पुण्यप्रभसूरि तशिक्ष (तत् शिष्य) मुनि विजयदेवेन यात्रा कृता सफला भवतु ।।

१९९—संवत् १६०८ वर्षे मगसर वदि ११ भौमे रषि वीजामती पाट श्रीषीमराज, स(री)षिरकुभ; रष गेबीसिंह देसुत संघवी श्रीमल, भारजा सफलादे, अगजातक संघवी केल्हा, सरजा, वासं गाम अरमादा, साहा पीथा, अमरा, लोला, लषमा, लाला, भीला, कचरा, धरण, कल्हा, हाला, जात्रा सफल ।।

२००—संवत् १७८५ वर्षे चैत्रसुदि १ बुधे तपागच्छे कमल कलशसूरीश्वरशाखायाँ पूज्यभट्टारक श्री ५ श्रीपद्मरत्नसूरीश्वर श्रीअचलगढ़े पं० कमलविजयगणि पं० भीमविजयगणि ५ युतेन चतुर्मासिके दि प्रभा (?) देवलवाटके यात्रा सफलीकृता ।। श्री यस्तु । मुँहता गजा मनोहरजी ।

२०१—संवत् १६२१ वर्षे माघवदि १० शुक्रे श्री तपागच्छनायककुतपुरीयपक्षे श्रीहंससंयमसूरिशिष्य श्री श्री ५ हंसविमल सूरिमुपदेशेन प्राग्वाट ज्ञातीय संघवी गंगदास सुत सं० जइवंत भार्या मेनाइ अपर माता जीवादे सुत संघाधिपत्य(ति) सं० मूलवा, भा० रंगादे सुत भूला भला, तथा सं० हरीचन्द, भाई सीदा, सं. भीमा सुत व वसुत मयण समस्त कुटुँव सहितेन श्री अबुर्दतीर्थे सकलसंघसहितेन सं० श्रुन्अलत्रेन यात्रा कारापिता । शुभं भवतु ।। श्री अहम्मदावा ।

२०२—श्री सोमसुन्दरसूरिसंताने श्रीसोमदेवसूरिशिष्य । श्री सुमतिसुंदरसूरिशिष्यतपागच्छनायक श्रीपूज्यकमलकलशसूरि शिष्य श्रीजयकल्याणसूरि ।। पूज्य पं० संयमहंसगणि शिष्य पं० कुलोदयगणि शिष्य पं० उदयकमलगणि लावण्य कमलगणि शिष्यरत्न कमलमुनि संवत् १५८३ वर्षे चातुर्मासकस्थिता श्री आदिनेमि नित्यं त्रिसंध्यं प्रणमति ।।छ।। शुभं भवतु ।।

२०३—संवत् १६०१० (१६१०) वर्णे चैत्र क्षुदि १५ बुधे श्री आवेम आगम गच्छे श्री उदयरत्नसूरि पट्टे श्री सौभाग्य सुंदर सूरिपरिवारे

उपाध्याय श्री मुनिराज उपाध्याय श्रीहंसरत्न, पं० गुणमंदिर पं० माणिकरत्न पं० विद्यारत्न, पं० सुमतिराज, समस्तपरिवार साधु-साध्वीसहितेन यात्रा कृता श्रीरस्तु ॥

२०४—संघवी काना, सम्वत् १६१६ वरषे माह सुदि ११ वारभौमदिने संघवी हरष, हरचन्द, नरवद, पचा, सदारंग, पुत्र मनजी, कचरा, तेजा । वास नीमच अचला ॥

२०५—सम्वत् १६१६ वरषे माहा सु० ११ दने वार भोमे, पता, हीरा, भारमा बाई सवीरा, पुत्र कसतुरा, करमा, वास नीमच ॥

२०६—सम्वत् १६१६ वर्षे माह सुदि ११ कासिव गोत्रे मं० वूचा, भार्या पेहीं यात्रा सफलिपि उ० श्री माणिकराज वा लाभः ॥

२०७—प्राग्वाटाह्वय वंशमौक्तिकमणेः श्री लक्ष्मणस्यात्मजः,
श्री श्रीपालकवीन्द्रबंधुरमलप्रज्ञालतामंडपः ।
श्री नाभेयजिनांह्रिपद्ममधुपस्त्यागाद्भुतैः शोभितः,
श्रीमान् शोभित एव (ष) पुण्यविभवैः स्वर्णो (र्लों?) कमासेदिवान् ॥१॥
चित्तोत्कीर्णगुणः समग्रजगतः श्री शोभितः स्तंभकोत्—
कीर्णःशांतिकया समं यदि तया लक्ष्म्येव दामोदरः ।
पुत्रेणाशुकसंज्ञकेन च धृतप्रद्युम्नरूपश्रिया ।
सार्द्धं नंदतु यावदस्ति वसुधा पाथोधिमुद्रांकिता ॥२॥
॥ मंगलं महाश्रीः ॥

२०८—(१) सम्वत् १२०४ फागुण सुदि १० शनौ दिने महामात्य श्री नीनूकस्य ।

२०९—(२) सम्वत् १२०४ फागुण सुदि १० शनौ दिने महामात्य श्री लहरकस्य ।

२१०—(३) सम्वत् १२०४ फागुण सुदि १० शनौ दिने महामात्य श्री वीरकस्य ।

२११—(४) सम्वत् १२०४ फागुण सुदि १० शनौ दिने महामात्य श्री नेढ़कस्य ।

२१२-(५) सम्वत् १२०४ फागुण सुदि १० शनौ दिने महामात्य श्री धवलकस्य ।

२१३-(६) सम्वत् १२०४ फागुण सुदि १० शनौ दिने महामात्य श्री आनन्दकस्य ।

२१४-(७) सम्वत् १२०४ फागुण सुदि १० शनौ दिने महामात्य श्री पृथ्वीपालस्य ।

२१५-(८) सम्वत् १२३७ आषाढ सुदि ८ वुधदिने पउंतार ठ० श्री जगदेवस्य ।

२१६- (९) सं० १२३७ आषाढ सुदि ८ वुध दिने महामात्य श्री धनपालस्य ।

२१७-(१०) (लेख भाग टूट गया है)

२१८—सं० १०७२ ज्येष्ठ वदि ८ भौमे श्री कोरंटगच्छे श्री नन्नाचार्यसंताने श्री उसवशे मंत्रिधांधूकेन श्री विमलमंत्रि हस्ति शालायां श्री आदिनाथसमवसरणं कारयांचक्रे श्री नन्नसूरि पट्टे श्री कक्कसूरिभिः प्रतिष्ठितं ॥ चन्नापल्ली वास्तव्येन ।

२१९—सं० १२१२ ज्येष्ठ वदि ८ भौमे-चड्डा० श्रीकक्क-सूरिभिः प्रतिष्ठितः ॥

२२०—सं० १३२१ वर्षे फागुण सुदि २ गुरौ श्री देवपत्तन-वास्तव्य ठ० मौलू भार्या जसमति पुत्र सोमेश्वरेण मातुः श्रेयोऽर्थं श्री महं वीरविवं कारापितं प्रतिष्ठितं श्रीश्रीचंद्रसूरिशिष्यैः श्री वर्द्धमानसूरिभिः ॥

२२१—सं० १३७८ वर्षे ज्येष्ठसुदि ९ भौमे उएसवाल ज्ञातीय तातहडगोत्रीय सा० धांधू पुत्र सा० पोप भार्या सूंडाही श्रेयोऽर्थं सा० छजू सा० भोपति सा० सोढा प्रमुष कुटुंवसमुदायेन विंवं कारितं प्रतिष्ठितं श्रीककुदाचार्यसंताने श्री सिंहसूरिशिष्य श्रीकक्क-सूरिभिः ॥छ॥ शुभमस्तु ॥छ॥

२२२—संवत् १२९३ वर्षे श्री वृहद्गच्छे वादिश्रीदेवसूरि संताने श्रे० भाइल—भा—(टा) केन श्री पार्श्वनाथविवं कारितं प्रतिष्ठितं श्री पद्मदेवसूरिभिः ॥छ॥

२२३—संवत् १३७३ वर्षे चैत्र वदि ८ रवौऽद्येह श्री अर्बुदगिरौ महाराजकुल श्रीलूंढाकल्याणविजयराज्ये तन्नियुक्त श्री २ करणे महं० पूनसीहादिपंचकुलप्रतिपत्तौ धर्मशासनमभिलिख्यते यथा ॥ श्री अर्बुदगिरौ श्रीयुगादिनाथ श्रीनेमिनाथपूजाकारक व्यतिकरे द्रम्मा २४ देउलवाडावास्तव्य गामी० कर्मउ, गामी० वीरम प्रभृति ग्रामसमुदायेन द्रम्मा २४ मुक्ताः शुभं भवतु ।

बहुभिर्वसुधा भुक्ता, राजभिः सगरादिभिः ।
यस्य यस्य यदा भूमि-स्तस्य तस्य तदा फलम् ॥१॥
नामनी भरडा बभूत सीहरी छुरि(?)सुरहि १ ?

२२४—संवत् १५८१ वर्षे सुदि १५ सोमे सैल अर्बुदोपरि चपत्रीतीह वलमध्यात् ग्राम देउलवाडा-आरणा-नैवेद्यादि वरपूजार्थं राणक······वीरसीहप्रदत्तावलोक्या परिभग्ना सुरही तेन कल्याण भूपेन स्वपुण्यार्थमर्पितां चाचंद्रार्कं पालनीयं राजकुलिभिः सूत्र वीरू-पालेखि ॥

२२५—संवत् १३७२ ज्येष्ठ शुदि २ सोमेऽद्येह श्री अर्बुदगिरौ महाराजकुल श्रीलूंढाकल्याणविजयराज्ये तन्नियुक्त श्री २ करणे महं श्री पूनसीहादि पंचकुल प्रतिपत्तौ धर्मशासनमभिलिख्यते यथा ॥ श्री अर्बुदगिरौ देउलवाडा ग्रामे समायात महत् राजकुल श्री लूंढाकेन संसारासारतां स्वचित्ते धृत्वा विमलवसहिकायां देवश्रीआदिनाथ नेमिनाथयोः पार्श्वात् यत् किंचित् कापड़ा द्रम्म कण भक्तकस्थितंकवलं प्रभृति आचंद्रावतीय ठकुरः कुमरश्च लभते तत्सर्वं महाराजकुल श्री लूंढाकेन राजश्रीवीजूड बाई श्रीनामलदेव्याः श्रेयोऽर्थं आचंद्रार्कं यावत् शासने प्रदत्तं ।

बहुभिर्वसुधा भुक्ता, राजभिः सगरादिभिः ।
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥१॥
अस्मद्वंश्योऽन्यवंशोवा, अन्यो राजा भविष्यति ।
(अस्मद्वंश्योऽन्यवंश्यो वा योऽन्यो राजा भविष्यति)
तस्याहं करलग्नो तम्मि(ऽस्मि)मद् दत्तं प्रतिपालयेत् ॥२॥

विंध्याटवीष्वतोयावि(सु)सुसुक्(शुष्क)कोड(ट)रवासिनः ।
कृष्णसर्पाः प्रजायंते, देवदायो (या) पहारिणः ॥३॥
न विषं विषमित्याहुर्देवस्वं विषमुच्यते ।
विषमेकाकिनं हंति, देवस्वं पुत्रपौत्रकं ॥ लिखितं भां पी (षी?) मानु । सलषणसीहेन हीनाक्षरं डूंगरसीह सेल० लूणसाः चा । हरिराउप्र अल्हाः चा । बाबीउत्रः मूलू, सो० । रामः ।

२२६—स्वस्ति संवत् १३७२ वर्षे चैत्र वदि ८ बुधेऽद्येह श्री चंद्रावत्यां महाराजकुल श्री लूंढाकस्य कल्याणविजयराज्ये शासन-पत्रमभिलिख्यते यथा यत् व्यवारी कडुया सुत लूणिगकेन देवश्री आदिनाथनेमिनाथदेवद्वये सेलह० कापडां पदे वी०द्रम्म २४, कणहता पानी (?)…सूखडो महाधजप्रत्येत्तिकं सर्व व्यतिकर…भीयजपुरुषां अवसे(?)श्री देवद्वयस्नाननेचापदे मुक्त……पालनीयं यतः—

"यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥"

श्री गणेशाय नमः **सही**

२२७—संवत् १५०६ वर्षे आषाढ सुदि २ महाराणा श्रीकुंभ-करण विजयराज्ये श्रीअर्बुदसैले देउलवाडाग्रामे विमलवसत्यां श्री आदिनाथ तेजलवसत्यां श्री नेमिनाथ तथा बीजे श्रावके देहरे दाण-मंडिकं वलावां रखवालाँगाडां पोठयारूं राणि श्रीकुंभकर्णि महं डूंगर भोजा जोग्यं मया उधारा जिका ज्यात्रि आत्रि तीइरुं संघ(साथ?) मुकावु जात्रा संमंधि आचन्द्रार्कं लगि पायकइ……को मागवा न लहि । राणि श्री कुंभकरणी म० डूंगर भोजा ऊपरि मया उधारी यात्रा मुगती कीधी आघाट थापु सुरिहि रोपावी जिको ए विधि लोपिसि तीइहि सुरिहि भांगीऊं पाप लागिसि अनि संघ जिको जात्रि आविसइं सु फद्यु १ ऐक देव श्रीअचलेश्वरि दुगाणा ४ च्या (र) देवि श्री व शिष्टिभंडारि मुकिस्यइं । अचलगढ ऊपरि देवीश्री सरस्वती संनिधानि वइठां लिखितं ॥दूए॥ श्रोस्वयं ॥ श्रीराम प्रसादात् ॥ शुभं भवतु ॥ दोसी रांमण नित्यं प्रणमति ॥ संवत् १५०९ वर्षे आसो सुदि १३ शनौ दुगाणी ८ देवि श्रीरषीकेश

जदुथल १ देवी श्रीअर्बुदा, जदुथल १ देवि श्रीमाता । दू ३ पढियार श्रीदेजा (?) । सुभं भवतु ॥ एवं डुंगा १२ मुंडिक १ प्रति देवि श्रीमाता दु ३ पढियार श्री............

वस्तुपाल तेजपाल कारित लूणिग वसति के लेख

दे० नं० (१)

श्रीनृपविक्रम सं० १२८८ वर्षे प्राग्वाट ज्ञातीय श्रीचंडप, श्री चंडप्रसाद, महं श्रीसोम महं श्री श्रीआसराजान्वये महंश्रीमालदेवसुता बाइ सदनल श्रेयोऽर्थं महं श्री तेजपालेन देवकुलिका कारिता ।।छ।।

देहरी (२)

२—श्री नृपविक्रम सम्वत् १२८८ वर्षे, प्राग्वाटज्ञातीय श्रीचण्डप, चण्डप्रसाद, महंश्री सोम, श्री आसराजान्वये श्रीमालदेवसुत महं श्रीपूंनसीहभार्या महं श्रीआल्हणदेवि श्रेयोऽर्थे महं श्री तेजपालेन देव कुलिका कारिता ।।छ।।

देहरी (३)

३—श्री नृपविक्रम सम्वत् १२८८ वर्षे प्राग्वाटज्ञातीय श्रीचण्डप, श्री चण्डप्रसाद महं श्रीसोमान्वये, महं श्रीआसराजसुत महं श्रीमालदेवीय भार्या महं श्रीपातू श्रेयोऽर्थं महं श्री तेजपालेन देवकुलिका कारिता ॥

देहरी (४)

४—श्रीविक्रम सम्वत् १२८८ वर्षे प्राग्वाट ज्ञातीय श्रीचण्डप, श्रीचण्डप्रसाद महं श्रीसोमान्वये, महं श्री आसराज सुत महं मालदेवीय भार्या महं श्रीलीलू श्रेयोऽर्थं महं श्रीतेजपालेन देवकुलिका कारिता ।।छ.।

देहरी (५)

५—श्री नृपविक्रम सम्वत् १२८८ वर्षे श्रीप्राग्वाटवंशीय श्रीचण्डप, श्रीचण्डप्रसाद, महं श्रीसोम, महं श्रीआसराज, महं श्री मालदेवान्वये महं श्री पूंनसीहसुत, महं श्रीपेथड श्रेयोऽर्थं महं श्रीतेजपालेन देवकुलिका कारिता ॥

देहरी (६)

६—श्री नृपविक्रम सम्वत् १२८८ वर्षे प्राग्वाटवंशीय श्रीचण्डप, श्रीचण्डप्रसाद, महं श्रीसोमान्वये, महं श्रीमालदेव सुत महं श्री पूनसीह, श्रेयोऽर्थं महं श्री तेजपालेन देवकुलिका कारिता ॥

७—तेजपाल, राजपाल, सुहडा य (?)नरपाल, सम्वत् १३८९ वर्षे आषाढ वदि १० सोमे श्रे० राजा, भार्जा मोहिणि प्रवीणं

देहरी (७)

८—श्री नृपविक्रम सम्वत् १२८८ वर्षे प्राग्वाटवंशीय श्री चण्डप, श्रीचण्डप्रसाद, महं श्रीसोमान्वये, महं श्रीआसराजसुत महं श्रीमालदेव श्रेयोऽर्थं तत्सोदरलघुभ्रातृ महं श्रीतेजपालेन देवकुलिका कारिता ।

देहरी (८)

९—श्री नृपविक्रम सम्वत् १२८८ वर्षे प्राग्वाटवंशीय श्रीचण्डप, श्रीचण्डप्रसाद, महं श्रीसोम, महं श्रीआसराज, महं श्रीमालदेवान्वये महं श्रीपूनसीह सुता वाई श्रीवलालदेवि श्रेयोऽर्थं महं श्रीतेजपालेन देवकुलिका कारिता ।

देहरी (९)

१०—श्री नृपविक्रम सम्वत् १२८८ वर्षे गुंदउचमहास्थान वास्तव्य धर्कटवंशीय श्रे० वाहडिसुत श्रे० भाभू, तत्सुत श्रे० भाइलेन समस्त कुटुम्बसहितेन देवकुलिका कारिता ॥छ॥

अस्यां च स्वगुरु श्रीपद्मदेवसूरीणां सूत्र० शोभनदेवस्य च समक्षं द्र १६ श्रीनेमिनाथदेवस्य नेचानिमित्तं देवकीयभंडागारे श्रे० भाइलेन षोडशद्रम्मा वृध्यिफलभोगन्यायेन क्षिप्ताः तेषां च व्याजे प्रतिमासं वि ८ अष्टौ विंशोपकाः तत्मध्यात् अर्धेन मूलविंबे, अर्धेन पुनरस्यां देवकुलिकायां देवकीयपंचकुलेन प्रत्यहं पूजा कार्येति ॥ मंगलमस्तु ॥

देहरी (१०)

११—स्वस्ति श्रीविक्रमनृप संवत् १२९३ वर्षे वैशाखसुदि १५ शनौ अद्येह श्रीअर्बुदाचलमहातीर्थे अणहिल्लपुरवास्तव्य श्री-प्राग्वाटज्ञातीय ठ० श्रीचंड, ठ० श्री चंडप्रसाद, महं श्रीसोमान्वये, ठ० श्रीआसराज सुत महं श्रीमल्लदेव-महं श्रीवस्तुपालयोरनुज-महं० तेजःपालेन कारितश्रीलूणसीहवसहिकायां श्री नेमिनाथचैत्यजगत्यां चंद्रावतीवास्तव्य प्राग्वाटज्ञातीय ठ० सहदेव, पुत्र ठ० सिवदेव, पुत्र० ठ० सोमसीह, सुत सांवतसी, सुहडसीह, संग्रामसीह, सांवतसीह सुत सिरपति, ठ० सोमसीह भार्या ठ० नायकदेवि तथा श्रे० बहुदेव पुत्र श्रे० देल्हण, भार्या जेसिरि, पुत्र श्रे० आंबड, सोमा, पूनड, खोषा, आसपाल, आंबड पुत्र रत्नपाल, सोमा पुत्र खेता, पूना पुत्र तेजःपाल, वस्तुपाल, चाहड भार्या धारमति, पुत्र जगसीह, ठ० सिवदेवपुत्र खांखण, सोमचन्द्र, ठ० सोमसीह-आंबडाभ्यां स्वपित्रोः श्रेयोऽर्थं श्रीपार्श्वनाथबिंबं कारितं, श्रीनागेन्द्रगच्छे श्रीमद्विजयसेन सूरिभिः प्रतिष्ठितम् ।

१२—श्री अर्बुदाद्रिशिखरे, श्रीनेमिं पापवल्लिवननेमिम् ।
जयसिंहसूरिशिष्टो(ष्यो),नयचंद्रो नमति भावाढ्यः ॥१॥

सम्वत् १४१७

१३—प्राग्वाट महं० सिरपाल, भा० संसारदेवि, पुत्रेण महं० ।
वरसाकेन स्वमातृपुण्यार्थं पार्श्वबिंबं का० ॥

दे० (११)

१४—संवत् १४१७ आषाढ सुदि ५ दिने श्रीसंघतिलकसूरिभिः पूर्णचंद्रगणिना । ठ० मूंजाकेन श्रीमहावीरबिंबं का० प्र० श्रीज्ञानचंद्रसूरिभिः ॥ ठ० मूंजाके० ॥

देहरी (१३)

१५—सम्वत् १३६० वर्षे माघ वदि २ देउलवाडाग्रामे, श्रीनेमिनाथदेवचैत्ये पडि० सीहड, सहजा, वस्ता, तेजा, देवा, राशिल प्रभृतिभिः देवद्राम देवा हुंता द्र० ४०० ति आषरतीज श्रीपा पडि०

सीहड प्रविष्ट द्रमा हाथाक्षर आप्या दीकिरइं समेत। वस्ता सहजाकस्य (?) सरसा हुंता पाछिला दीकिराइ ग्रामिथाका। आषर कराव्या श्रीनेमिनाथः पडिहार सीहडद्रम्मा आक्षरव्यतिकरं लागो नास्ति। राठी पाता, पद्मू, ३ सीहड ५ सहजा १६, वस्ता ठीद दीकिरा गामि छइं ॥

१६--रक्तत्यक्तोग्रसेनक्षितिपतितनयानेकनिश्वासतो वा
निस्पंदै दंह्यमाना स्फुर दगुरुगुरु धूमौघतो वा
शृंगोत्तंसेथ येना चल वल जलद श्रेणिसंपर्क्कतो वा
······ल····· चा जदुपजिनपतेः श्यामला पातु मूर्तिः ॥१॥

१७ सम्वत् १३६२ वर्षे वैशाख शुक्ल पक्षे श्रीमदर्बुदाचले नीरेघन (?) मीगमश्वत्रुं (?) ऊधिगमहणान्वये आंबड सुत संघपति अभयसीह--(सु० ?) माधव भोजदेव चासिया वोसिया रांमसीह हेमचन्द्रा देवधरा भीमसीह चूणिया प्राग्वा-र्रिसिंह ब्रह्मदेव धांधुनिय श्रीश्रमणसंघेन सह समवेतः। श्री

देहरी (१४)

१८--स्वस्ति श्री नृपविक्रम सम्वत् १२६३ वर्षे वैशाख सुदि १५·········सा० सिरपाल।

देहरी (१५)

१६--स्वस्ति श्री नृपविक्रम सम्वत् १२६३ वर्षे चैत्र वदि ८ शुक्रे अद्येह श्रीअर्बुदाचलमहातीर्थे अणहिल्लपुरवास्तव्य श्रीप्राग्वाटज्ञातीय ठ० श्रीचण्डप, ठ० श्रीचंण्डप्रसाद, महं श्रीसोमान्वये, ठ० श्रीआसराज सुत, महं० श्रीमल्लदेव, महं० श्रीवस्तुपालयोरनुज महं० श्री तेजः पालेन कारिता श्री लूणंसीह वसहिकायां श्रीनेमिनाथदेवचैत्ये जगत्यां चन्द्रावतीवास्तव्य प्राग्वाटज्ञातीय महं० कउडि सुत श्रे० साजणेन स्वपितृव्यकसुत भ्रातृ० वरदेव कडुया वामदेव सीहड तथा भ्रातृज आसपाल प्रभृति कुटुम्बसहितेन श्रीनागेन्द्रगच्छे श्रीविजयसेनसूरिप्रतिष्ठित ऋषभदेव प्रतिमालंकृता देवकुलिकेयं कारिता ॥छ॥

२०—बाइ देवइ तथा रतनिणि तथा झणकू तथा वडग्राम वास्तव्य प्राग्वाट ज्ञातीय व्यव० गुणचन्द्र भार्या लींबिणि, मांट वास्तव्य व्यव० जयता, आंबवीर, वीयइपाल। दूती वीरा, साजण भार्या जालू। दुती सरसइ श्री वडगच्छे श्रीचकेश्वरसूरिसंतानीय स्रा(श्रा)वक् साजणेन कारिता॥

दे० (१६)

२१—संवत् १२८७ चैत्र वदि ३ प्राग्वाट ज्ञातीय श्री चांडप श्र चण्डपसाज (प्रसाद), श्री सोमान्वये, ठ० श्रीआसराजसुत महं० श्री तेजपालेन श्री अवुर्दाचले कारितश्रीलूणसीहवसहिकायां श्री नेमिनाथ देवचैत्ये धवलक्ककवास्तव्य श्रीश्रीमालज्ञातीय ठ० थीर चंद्रांगज महं० रतनसीह सुत दोसिक ठ० पदमसीहेन स्वकीयपितुः महं० नेनांगज महं० वीजा सुता कुमरदेव्याश्च श्रेयोऽर्थं देवश्री संभवनाथसहिता देवकुलिका कारिता० शिवमस्तु॥छ॥

२२—श्री संडेरकगच्छे, संवत् १७२८ वर्षे वैशाख सुदि ११ दिने उपाध्याय श्रीजिनसुंदरजी तत् शिष्य रतनसी किसना 'यात्रा' सफला कृता।

२३—संवत् १७२८ वर्षे वैशाखसुदि ११ दिने मडाहडगच्छे पंडित चतुरजीरी यात्रा सफल वास जावरः॥

दे० (१७)

२४—संवत् १२९० वर्षे प्राग्वाट वंशीय महं० श्री सोमान्वये महं तेजपाल सुत लूणसीहभार्या रयणादेवि श्रेयोऽर्थं महं० श्री तेजपालेन देवकुलिका कारिता॥छ॥ शुभं भवतु॥

दे० (१८)

२५—संवत् १२९० वर्षे महं० श्रीसोमान्वये महं श्री तेजपाल सुत महं० श्री लूणसीह भार्या महं० श्री लपमादेवि श्रेयोऽर्थं महं० श्री तेजपालेन देवकुलिका कारिता॥

दे० (१९)

२६—श्रीनृपविक्रम संवत् १२९० वर्षे श्रीपत्तनवास्तव्य प्राग्वाटवंशीय महं० श्रीचंडप, श्री चंडप्रसाद, महं० श्री सोमान्वये महं० श्री आसराज सुत महं० श्रीमालदेव-भ्रातृ महं श्रीवस्तुपालयो रनुज महं० **श्री तेजपालेन स्वकीय भार्या महं० श्री अनुपमादेवि श्रेयोऽर्थं** देवश्रीमुनिसुव्रतस्य देवकुलिका कारिता ।।छ।।

२७—श्रीमालज्ञाति व्यव० सहदेव सुत व्यव नरपाल श्री नेमीश्वरं प्रणमति । त्रिक्षा (का) लं वारलक्ष ३ सही ।

२८—संवत् १३३८ वर्षे ज्येष्ठशुक्ल १४ शुक्रे, श्री नेमिनाथ चैत्ये संविज्ञ (ग्न) विहारिश्री चक्रेश्वरसूरिसंताने श्री जयसिंहसूरि शिष्यश्रीसोमप्रभसूरिशिष्यैः श्रीवर्द्धमानसूरिभिः प्रतिष्ठितं आरा-सणाकर वास्तव्य प्राग्वाट ज्ञातीय श्रे० गोनासंताने श्रे० आमिग, भार्या रतनी पुत्र तुलहारि आसदेव श्रे० पासड तत्पुत्र सिरिपाल तथा आसदेव भार्या सहजू, पुत्र तु० आसपालेन भा० धरणि······ सिरिमति, तथा आसपाल भार्या आसिणि पुत्र लींबदेव हरिपाल, तथा धरणि भार्या ·············ऊदा भार्या पाल्हणदेविप्रभृतिकुटुंब सहितेन श्री मुनिसुव्रतस्वामिबिंबं अश्वावबोध शमलिकाविहार तीर्थोद्धारसहितं कारितं मंगलं महाश्रीः ।।

दे० (२०)

२९—श्री नृप विक्रम संवत् १२९० वर्षे प्राग्वाट ज्ञातीय महं० श्री चांडप, श्रीचंडप्रसाद, श्री सोम, महं० श्री आसरान्वये समुद्भव महं **श्री तेजपालेन स्वसुता बउलदेवि श्रेयोऽर्थं** देवकुलिका कारिता ।।

३०—रस-वसु-पूर्व्व-मिताब्दे, चैत्रे कृष्णे दशमिशनिवारे ।
श्रीरामचंद्रसूरीन्द्राः, प्रणमंति आदि-नेमि-जिनौ ।।१।।
श्रीमालवंशमंडन—श्रीस्तंभनकपुरनिवासकृतशोभः ।
संघपति वरसिंहसुतो, धनराजो धर्मकर्मणि श्रेष्ठः ।।२।।
श्रीजीरपल्लीनाथं, अर्बुदतीर्थं तथा नमस्कुरुते ।
सकुटुंबसंघसहितः श्रीरामचन्द्रसुगुरुसंयुक्तः ।।३।।

मुनि चंद्रगणिर्नामा (म्ना), शीलचंद्रो महामुनिः ।
नयविनयसारस्तौ नमन्त्यादिनेमिजिनौ ॥४॥

दे० (२१)

३१–संवत् १२९० वर्षे प्राग्वाट ज्ञातीय महं० श्री चण्डप, चंडप्रसाद, श्री सोम, श्रीआसराजान्वयसमुद्भूत महं० श्री तेजपालेन स्वसुत श्री लूणसीह सुता गउरदेवि श्रेयोऽर्थं देव कुलिका कारिता ॥छ॥

३२—श्री संडेरगच्छे ॥ संवत् १७२८ व० वैशाख सुद ॥ उपाध्याय हेमसुंदरजी तत् शिष्य सोमसुंदरजी मोहण जात्रा सफल ॥

दे० (२२)

३३–स्वस्ति श्री नृपविक्रमसंवत् १२९३ वर्षे वैशाख सुदि १४ शुक्रे अद्येह श्री अर्बुदाचलमहातीर्थे श्री अणहिल्लपुर वास्तव्य श्री प्राग्वाटज्ञातीय ठ० श्री चंडप, ठ० श्री चंडप्रसाद, महंश्रीसोमान्वये, ठ० श्रीआसराजसुत **महं श्री मल्लदेव-महं० श्री वस्तुपालयोरनुज** महं श्रीतेजःपालेन कारित श्रीलूणसीह वसहिकायां श्री नेमिनाथ देवचैत्ये जगत्यां श्री चन्द्रावतीवास्तव्य प्राग्वाट ज्ञातीय श्रे० सांतणाग, श्रे० जसणाग, पुत्र सोहिय, सांवत, वीरा । सोहियपुत्र आंबकुमार, गागउ । सांवतपुत्र पूनदेव, वाला, वीरा पुत्र देवकुमार, शुभ, ब्रहदेव, दैवकुमार पुत्र वरदेव, पाल्हण, पुत्री देल्ही, आल्ही, ललनू संतोस । ब्रहदेव पुत्र बोहडि, पुत्री तेजू वरदेव पुत्र कुंअरा, पाल्हण पुत्र जेला, सोमा, पुत्री सीतू । कुँअरा पुत्र आंबड, पूनड, पुत्री नीमल, रूपल । श्रे० वरदेव श्रेयोऽर्थं कुमराकेन श्रीनागेन्द्र गच्छे, पूज्य श्रीहरिभद्र- सूरिशिष्य श्री मद्विजयसेनसूरि प्रतिष्ठित श्रीनेमिनाथदेवालंकृता देवकुलिकेयं कारिता ॥छ॥

३४—संवत् १३०२ वर्षे, चैत्र सुदि १२ सोमे, प्राग्वाटवंशे, चंद्रावती वास्तव्य श्रे० देदा पुत्र वरदेव, भार्या पदमसिरि श्रेयोर्थं श्रे० कुअरा पुत्र आंवडेन बिंबं कारितं ॥

३५–संवत् १३०२ वर्षे चैत्र सुदि १२ सोमे, प्राग्वाटवंशे चंद्रावतीवास्तव्य कुंअरा भा० श्रेयसे सोहिणिश्राविकया कारितं ॥

दे० (२३)

३६--स्वस्ति श्रीनृपविक्रमसंवत् १२६३ वर्षे वैशाख सुदि १५ शनौ, श्री अर्बुदाचलमहातीर्थे अणहिल्लपुरवास्तव्य श्री प्राग्वाट ज्ञातीय ठ० श्री चंडप्रसाद, महं० श्री सोमान्वये ठ० श्री आसराज सुत महं श्री मल्लदेव महं० श्रीवस्तुपालयोरनुज महं० श्री तेजः पालेन कारित श्रीलूणसीह वसहिकायां श्री नेमिनाथदेवचैत्ये जगत्यां चंद्रावतीवास्तव्य प्राग्वाटज्ञातीय श्रे० पासिलसंताने वीसल भार्या सांतू तत्पुत्र मुणिचंद्र, श्रीकुमार, सातकुमार, पाल्हण। श्रीकुमार पुत्र वील्हा, आंवसाउ, आसधर। वील्हा पुत्र आंमदेव तत्पुत्र आसदेव आसचन्द्र। श्रे० पाल्हण भार्या सीलू, तत्पुत्र आसपाल, मांटी पाल्हणे आत्मश्रेयोऽर्थं श्री नागेन्द्रगच्छे श्रीविजयसेनसूरिप्रतिष्ठितश्रीनेमिनाथ प्रतिमालंकृता देवकुलिकेयं कारिता ॥

३७-फागणशुदि ७ शुक्रे नाणास्थाने श्रे० कुलधर, भार्या कवलसिरि, सुत (साव) देव लूणसीह, देवजस, भा० पूंनसिरि सु० धणपाल, राजा, राजेर्निबं (कारितं)............

३८--संवत् १३०७ वर्षे ज्येष्ठ वदि ५ गुरौ श्रीवृहद्गच्छे वादि श्री देवसूरिसंताने श्रे० भाइल सुत वोसरिणा श्री महावीरविंवं कारितं प्रतिष्ठितं श्री पूर्णभद्रसूरिशिष्यैः श्री पद्मदेवसूरिभिः ॥

३९--संवत् १३०२ फागुण शुदि ७ शुक्रे नाणास्थाने कुलधर भार्या कवलसिरि सुभ(त) शोभन, भार्या अयीहव, सुतसावदेव, लूणसीह, देवजस, भार्या पूंनसिरि, सुत धणपाल, राजा भा......... वमति सुत धरणिग सहदेव।

देहरी (२४)

४०--संवत् १३४६ वर्षे फागुण वदि ३ सोमे। श्रीरिणस्तंभवर्गीय श्रीजखलपुर वास्तव्य सा० जिनचंद्रसुत संघपति श्री चेंचटेन भ्रातृ लोहा मावल श्री चतुर्विधसंघसहितेन। श्री आदिनाथनेमिजिनौ वंदितौ ॥

४१—संवत् १३५६ वर्षे ज्येष्ठ वदि ३ रवौ, श्रीचित्रकूट वास्तव्य संघपति सा० तेजलपुत्राभ्यां संघपति पासदेव-संघपति रामचंद्राभ्यां निजगुरु श्रीतिलकभद्रसूरि श्रीदेवेन्द्रसूरिसहिताभ्यां पूना, महं चाहड, सा० सोममीह, महं वीजा, भंडा० चांपू श्री संघ समुदायेन तीर्थयात्रा कृता ॥

देहरी (२५)

४२—…………बृहद्गच्छीय माणिकसूरिपट्टे श्री माणदेव सूरिभिः प्राग्वाट श्रे० वीजड भा० मोटी पुत्रेण गल्हणेन पित्रोः श्रेयसे नेमिबिंबं का० ॥

४३—संवत् १३६० आषाढ वदि ४ श्री खरतरगच्छे श्री जिनेश्वरसूरिपट्टनायकश्रीजिनप्रबोधसूरिशिष्य श्रीदिवाकराचार्याः पंडि० लक्ष्मीनिवासगणिहेमतिलकगणि-मतिकलशमुनि मुनिचन्द्रमुनि-अमररत्नगणि-यशःकीर्त्तिमुनिसाधु-साध्वीचतुर्विधश्रीविधिसंघसहिताः श्रीआदिनाथ-श्री नेमिनाथदेवाधिदेवौ नित्यं प्रणमंति ॥

४४—संवत् १३६० वर्षे आषाढ वदि ४ बृहद्गच्छे श्री मानदेवसूरिपट्टनायकश्रीसर्वदेवसूरिशिष्यःपं० उदयचंद्रः श्री आदिनाथ-नेमिनाथौ नित्यं प्रणमति ॥

४५—(१) आचार्य श्रीउदय प्रभः
४६—(२) आचार्य श्री विजयसेनः
४७—(३) महं. श्री चांडपः
(४) महं. श्री चांपलदवि
४८—(५) महं. श्री चांडप्रसादः
(६) महं. श्री चांपलदेवि
४९—(७) महं. श्री सोमः
(८) महं. श्री सीतादेवी
५०—(९) महं. श्री आसराजः
(१०) महं. श्री कुमरादेवि
५१—(११) महं. श्री लूणगः
(१२) महं. श्री लूणादेवी
५२—(१३) महं. श्री मालदेवः
(१४) महं. श्री लीलादेवि
(१५) महं श्री प्रतापदेवि
५३—(१६) महं. श्री वस्तुपाल "सूत्रवरसाकारी"
(१७) महं श्रीललतादेवी
(१८) महं. श्री वेजलदेवी
५४—(१९) महं. श्री तेजपालः "सूत्रवरसाकारि"
(२०) महं. श्रीअनुपमादेवी

५५—
(२१) महं. श्री जितसी
(२२) महं. श्री जेतलदे
(२३) महं. श्री जंमणदे
(२४) महं. श्री रूपादे

५६—
(२५) महं. श्रीसुहडसीह
(२६) महं. श्री सुहडादे
(२७) महं श्री सलषणदे

दे० (२६)

५७—स्वस्ति श्रीविक्रमनृपात् सं० १२९३ वर्षे चैत्र वदि ८ शुक्रे अद्येह श्रीअर्बुदाचलतीर्थे स्वयं कारितं श्री लूणसीह वसहिकाख्य-श्री नेमिनाथदेव चैत्यजगत्यां श्री प्राग्वाट ज्ञातीय ठ० श्री चंडप ठ० श्री चंडप्रसाद-महं० सोमान्वये ठ० श्री आसराज-ठ० श्रीकुमरादेव्योः सुत महं० श्रीमालदेव संघपति श्रीवस्तुपालयोरनुज महं० श्री तेजः पालेन स्वभागिन्या वाई जाल्हणदेव्याः श्रेयोऽर्थं विहरमाणतीर्थंकर-श्रीसीमंधरस्वामिप्रतिमालंकृतादेवकुलिकेयं कारिता प्रतिष्ठिता श्री नागेन्द्रगच्छे श्रीविजयसेनसूरिभिः ॥

५८—प्राग्वाट प्रो (मो) ना भा० हमीरदे, पु० झांझषेढसीहाभ्यां पित्रोः श्रेयसे का० प्र० श्रीरामचंद्रसूरिभिः हुंडाउद्रा वास्तव्य ॥

दे० (२७)

५९—स्वस्ति सं० १२९३ चैत्र वदि ८ शुक्रे, अद्येह श्री अर्बुदाचलतीर्थे स्वकारित श्री लूणसीह-वसहिकाख्य श्रीअरिष्ट नेमिचैत्ये श्री प्राग्वाटज्ञातीय ठ० श्री चंडप, ठ० श्री चंडप्रसाद, महं० श्रीसोमान्वये ठ० श्री आसराजभार्या ठ० श्री कुमरादेव्योः सुत महं० श्री मालदेव-संघपति महं० वस्तुपालयोरनुज । महं० श्री-तेजपालेन स्वभगिनी वाई माऊ श्रेयोऽर्थं विरमा (विहरमाण) तीर्थंकर श्रीयुगमंधरस्वामि जिनप्रतिमालंकृता देवकुलिका इयं कारिता ॥

दे० (२८)

६०—स्वस्ति सं० १२९३ चैत्र वदि ८ शुक्रे अद्येह श्री अर्बुदाचले स्वकारितश्रीलूणसीहवसहिकाख्यश्रीअरिष्टनेमिचैत्ये श्रीप्राग्वाट ज्ञातीय ठ० श्री चण्डप, ठ० श्री चंडप्रसाद, महं श्री सोमान्वये ठ० श्रीआसराज ठ० श्री कुमरादेव्योः सुत महं० श्रीमालदेव महं० श्रीवस्तुपालयोरनुज महं श्री तेजःपालेन स्वभगिन्याः

साउकायाः श्रेयोऽर्थं वी(वि)हरमाणतीर्थंकर श्री वाहुजिनालंकृता देवकुलिका कारिता ॥

दे० (२६)

६१—स्वस्ति श्रीनृपविक्रमात् १२६३ वर्षे चैत्र वदि ८ शुक्रे, अद्येह श्रीअर्बुदाचलमहातीर्थे स्वयंकारित श्रीलूणसीहवसहिकाख्य श्री नेमिनाथ देव चैत्यजगत्यां श्रीप्राग्वाट ज्ञातीय ठ० श्रीचंडप ठ० श्री चंडप्रसाद महं श्री सोमान्वये ठ० श्री आसराज ठ०श्रीकुमरादेव्योः सुत महं० श्री तेजःपालेन स्वभगिन्या वाई धणदेविश्रेयसे विहरमाण तीर्थंकरं श्री सुवाहुबिंबालंकृता देवकुलिका कारिता ॥

६२—सं० १४८६ वर्षे चैत्र सुदि १० सोमे श्रीस्तंभतीर्थवास्तव्य श्रीश्रीमालवंशमंडन-व्यव-सहदेवसुत उभयकुल विशुद्ध व्यव० नरपालः श्रीनेमीश्वरं प्रणमति ।

दे० (३०)

६३—स्वस्ति, श्री नृपविक्रमसंवत् १२६३ वर्षे चैत्रवदि ८ शुक्रे, अद्येह श्री अर्बुदाचलमहातीर्थे स्वयं कारित श्री लूणसीह वसहिकाख्य श्रीनेमिनाथदेवचैत्य जगत्यां श्री प्राग्वाट ज्ञातीय ठ० श्री चंडप, ठ० श्री चंडप्रसाद, महं० श्रीसोमान्वये, ठ० श्रीआस-राज ठ० श्री कुमारदेव्योः सुत महं० श्री मालदेव-संघपति महं श्री-वस्तुपालयोरनुज महं श्रीतेजःपालेन स्वभगिन्या बाई सोहागायाः श्रेयोऽर्थं शाश्वत-जिन श्री ऋषभदेवालंकृतादेवकुलिका कारिता ॥

दे० (३१)

६४—स्वस्ति श्री नृपविक्रम संवत् १२६३ वर्षे चैत्र वदि ८ शुक्रे अद्येह श्री अर्बुदाचलमहातीर्थे स्वयं कारित श्री लूणसीह-वसहिकायां नेमिनाथदेवचैत्ये जगत्यां श्री प्राग्वाटज्ञातीय ठ० श्री चंडप, ठ० श्री चंडप्रसाद, महं श्री सोमान्वये ठ० श्री आसराज ठ० श्री कुमारदेव्यो सुत महं श्रीमालदेव-महं० श्रीवस्तुपालयोरनुज महं० श्रीतेजःपालेन स्वभगिन्या बाइ वयजुकायाः श्रेयोऽर्थं श्रीवर्द्धमान-

भिधशाश्वत जिनप्रतिमालंकृता देवकुलिकेयं कारिता ॥ शुभं भवतु । मंगलं महा श्री ॥

दे० (३२)

६५—श्री नृपविक्रम संवत् १२६३ वर्षे चैत्र वदि ६ शुक्रे अद्येह चंद्रावत्यां श्री प्राग्वाट ज्ञातीय ठ० चाचिगसत्क भार्या ठ० चाचिणि सुत० रामुदेव तद्भार्या सोभीय सुतउदयपालस्तद्भार्या अहिदेवि सुत महं० आसदेव तद्भार्या महं० सुहागदेवि तथा भ्रातृ ठ० भोजदेव स्तद्भार्या ठ० सूमल तथा भ्रातृ महं आणंदस्तद्भार्या महं श्री लुकया आत्मीय माता पिताभ्यां पूर्वपुरुषाणांप्रभृतिश्रेयोऽर्थं अस्यां देव कुलिकायां श्री ती(र्थंकर)देवप्रतिमा कारिता ॥ मंगलं महा श्रीः ॥

दे० (३३)

६५—श्री नृपविक्रम संवत् १२६३ वर्षे चैत्र वदि ८ शुक्राव (क्र अ) द्येह चंद्रावत्यां श्री प्राग्वाटान्वये पूर्वपुरुषाणां प्रभृति महं० श्री अजितांनृपे (न्वये) वत्सुत(तत्सुत) महं श्री भाभट तत्सुत (ता) महं० श्री सांतीमती, तत्सुत महं श्रीसोभनदेवस्तद्भार्या महं श्रीमाऊय तत्सुता० श्री रत्नदेव्यो (न्या) आत्मीयमातृश्रेयोऽर्थं महं० श्री-लूणसीहवसहिकायां श्रीनेमिनाथदेवचैत्ये आस्यां देवकुलिकायां श्री पार्श्वनाथदेवप्रतिमा कारिता ॥

स श्रीतेजःपालः सचिवश्चिरकालमस्तु तेजस्वी ।
येन जना निश्चिंताश्चितामणिनेव नन्दन्ति ॥१॥

देहरी (३४)

६७—श्री विक्रम सम्वत् १२०३ (१२६३) वर्षे चैत्र वदि ७, अद्येह श्री अर्बुदाचल महातीर्थे स्वयं कारित श्री लूणसीह वसहिकाख्य-श्री नेमिनाथदेव चैत्यजगत्यां महं० श्री तेजः पालेन मातुलसुत भाभा, राजपाल भणितेन स्वमातुलस्य महं० श्री पूनपालस्य तथा भार्या महं० श्रीपूनदेव्याश्च श्रेयोऽर्थं अस्यां देवकुलिकायां श्री चन्द्राननप्रतिमा कारिता ॥

देहरी (३५)

६८—श्री नृपविक्रम सम्वत् १२९३ वर्षे चैत्रवदि ७, अद्येह श्री अर्बुदाचलमहातीर्थे श्रीप्राग्वाट ज्ञातीय ठ० श्री चण्डप, ठ० श्री चण्डप्रसाद, महं० श्रीसोमान्वये, ठ० श्रीआसराजसुत महं० श्रीमालदेव महं० श्री वस्तुपालयोरनुजमहं० श्री तेजःपालेन स्वभगिन्याः पद्मलायाः श्रेयोऽर्थं श्रीवारिषेण देवालंकृता देवकुलिके (यं) कारिता ॥

६९—सम्वत् १२९३ मार्ग सु० १० मिचकण नमा नरदेव, बहिण धांधी, साऊ, भाही आत्मश्रेयोऽर्थं श्री आदिनाथ बिंबं कारितं ॥

देहरी (३६)

७०—सम्वत् १२८९ श्री श्रीमालज्ञातीय ठ० राणासुतेन ठ० यशोदेवि (कु) क्षि सम्भवेन ठ० साहणीयेन स्वपुत्रस्य ठ० सोहागदेवि कुक्षि सम्भूतस्य ठ० सीहडस्य श्रेयोऽर्थं श्री युगादिजिनबिंबमिदं कारितमिति । शुभं भूयात् ॥

७१—सम्वत् १३८९ वर्षे, फागुण सुदि ८ उपकेशीयगच्छे पाला डेस (?)············पूणसीह-भउंणाभ्यां मातृषीमिणिश्रेयसे श्रीपार्श्व··············· ॥

७२—सम्वत् १४०८ (?) चैत्र शु० १५ सोमे सं० ठाना (१) कारितं प्रतिष्ठितं श्री सूरिभिः

देहरी (३७)

७३—श्री नृप विक्रम सम्वत् १२८७ चैत्र वदि ७ अद्येह श्री अर्बुदाचल महातीर्थे प्राग्वाटज्ञातीय श्री चण्डप, श्री चण्डप्रसाद, श्री सोमान्वये श्री आसराज सुत महं श्रीमालदेव तथाऽनुजमहं० श्री वस्तुपाल, महं० श्रीतेजपालेन कारित श्रीलूणिगवसहिकायां श्रीनेमिनाथचैत्ये श्रीमालज्ञातीय श्रे० खेतलेन स्वमातुः श्रे जासू श्रेयोऽर्थं श्रीअजित स्वामिदेवसत्क प्रतिमेयं कारिता ॥

दे० (३९)

७४—संवत् १२९१ वर्षे मार्गशीर्ष मासे श्री अर्बुदाचले महं० श्रीतेजपालकारित ठ० लूणसीहवसहिकाभिधानश्रीनेमिनाथचैत्ये

श्रीऋषभ-श्रीसंभ (व) श्रीमहावीरदेवकुलिकाबिंवदण्डकलशादिसहिता श्रीनागपुरे पूर्वं साधुवरदेव आसीत्। यन्नाम्ना वरकुडिया (वरहु-डिया) इत्याम्नायः प्रसिद्धः। तत्सुतौ सा आसदेवलक्ष्मीधरौ। आसदेव सुतसा०नेमड। आभट। माणिक। सलषण। लक्ष्मीधरसुतास्तु थिरदेव। गुणिधर। जगधर। भुवणाभिधाना (:)। ततः साहु नेमड पुत्रसा० राहड। जयदेव। सा० सहदेवाख्याः। तत्र सा० राहड पुत्र जिणचंद्र। दूलह। धणेसर। लाहड। अभयकुमारसंज्ञाः। सा० जयदेवपुत्र वीरदेव। देवकुमार हालूनामानः। सा० सहदेव पुत्रौ सा० खेढ गौसलौ इत्येवमादि समस्तनिजकुटुंव समुदायसहितेन सा० सहदेवेन सु (शु) द्धश्रद्धया कर्मनिर्जरार्थमियं कारिता। शिवमस्तु॥

७५—सम्वत् १२९३ वर्षे मार्ग सुदि १० श्री नागपुरीय वरहुडिसन्तानीय सा० नेमड पुत्र सा० सहदेवेन स्वपुत्रस्य सौ० सुहागदेवि कुक्षिसंभूतस्य सा० षेढागोसलेनतद् भ्रातृ सा० राहड पुत्र जिनचन्द्रेण च स्वस्य स्वमातृ वड़ी नाम्न्याश्च श्रेयोऽर्थं श्रीसम्भवनाथ-विंवं करापिता (तं) प्रतिष्ठता (तं) श्रीविजयसेनसूरिभिः।

श्री आदिनाथ पर्जिपास्थि।

७६—सम्वत् १३८४ वर्षे चैत्रसुदि ३ भौमे, ऊवरउद्राग्रामे व्यव० अजेसीहसुत अभयचन्द्र, भार्या नामलसुत महं मलयसीह, भार्यामाणिकश्रेयोऽर्थंविंवं स्थापितम्।

७७—स्वस्ति सम्वत् १२९६ वर्षे वैशाखसुदि ३ श्रीशत्रुंजयमहातीर्थे महामात्य श्रीतेजपालेन कारित नन्दीसरवरपश्चिममंडपे श्रीआदिनाथ-विंबं देवकुलिका दण्डकलशादिसहिता तथा इहैव तीर्थे महं श्रीवस्तुपालकारित श्रीसत्यपुरीय श्रीमहावीरे बिंबं खत्तकं च। इही (है) व तीर्थे शैलमयविंबं द्वितीयदेवकुलिकामध्ये खत्तकद्वयं श्रीऋषभादिचतुर्विंशतिका च। तथा गूढमण्डपपूर्वद्वारमध्ये खत्तकं, मूर्तियुग्मं, तदुपरिश्रीआदिनाथविंवं श्रीउज्जयंते श्रीनेमिनाथु (थ) पाटु (दु) का मण्डपे श्रीनेमिनाथविंबं, खत्तकं च। इहैव तीर्थे महं० श्री वस्तुपालकारित श्रीआदिनाथस्याग्रत मण्डपे श्रीनेमिनाथ विंवं

खत्तकं च । श्री अर्बुदाचले श्री नेमिनाथचैत्यजगत्यां देवकुलिकाद्वयं षड् बिम्बसहितमिति । श्री जावालिपुरे श्रीपार्श्वनाथ चैत्यजगत्यां श्रीआदिनाथ बिम्बंदेवकुलिका च । श्रीतारणगढे श्रीअजितनाथगूढ-मण्डपे श्री आदिनाथबिम्बं खत्तकं च । श्रीअणहिल्लपुरे हथीयावापी प्रत्यासन्न श्रीसुविधिनाथ बिम्बं तच्चैत्यजीर्णोद्धारं च । वीजापुरे देवकुलिकाद्वयं, श्रीनेमिनाथबिम्बं, श्रीपार्श्वनाथबिम्बं च श्रीमूलप्रासादे कवलीखत्तकद्वये श्रीआदिनाथ श्रीमुनिसुव्रतस्वामिबिम्बं च । लाटापल्यां श्रीकुमरविहारजीर्णोद्धारे श्रीपार्श्वनाथस्याग्रतमण्डपे श्रीपार्श्वनाथबिम्बं खत्तकं च । श्रीप्रल्हादनपुरे श्री पाल्हणविहारे श्रीचन्द्रप्रभस्वामिमण्डपे खत्तकद्वयं च । इहैव जगत्यां श्रीनेमिनाथस्याग्रतमण्डपे श्रीमहावीरबिम्बं च । एतत्सर्वं कारितमस्ति ।।

श्री नागपुरीय वरहुडिया साहु० नेमड सुत सा० राहड, सा० जयदेव, त्रा० (भ्रा०) सा० सहदेव, तत्पुत्र संघ० सा०–(षे) ढा, गोसल सा० जयदेव सुत सा० वीरदेव, देवकुमार, हालूय, सा० राहड सुत सा० जिणचन्द्र, धणेश्वर, अभयकुमार, लघु भ्रातृ सा० लाहडेन निजकुटुम्बसमुदायेन इदं कारितं, प्रतिष्ठितं श्रीनागेन्द्रगच्छे श्री मदाचार्यविजयसेनसूरि (भिः)

श्रीजावालिपुरे श्री सौवर्णगिरौ श्री पार्श्वनाथजगत्याँ, अष्टा-पदमध्ये खत्तकद्वयं च । लाटापल्यां श्रीकुमरविहारजगत्यां श्री अजितस्वामिबिंबं देवकुलिका दंडकलशसहिता । इहैव चैत्ये जिन-युगलं श्रीशांतिनाथ-श्रीअजितस्वामि एतत् सर्वं कारापितं ।।

श्री अणहिल्लपुर प्रत्यासन्न चारोपे श्रीआदिनाथबिंबं प्रासादगूढ-मंडपछचउकियासहितं सा० राहड सुत सा० जिणचन्द्र भार्या सा० चाहिणि कुक्षि संभूतेन संघ० सा० देवचन्द्रेण पिता माता आत्म-श्रेयोऽर्थं करापितं ।

७८––सं० ६३ (१२६३) मार्ग सुदि १० श्री नागपुरीयवर-हुडिसंतानीयसा० नेमडपुत्र सा० जयदेव पुत्र सा० वीरदेव, देवकुमार, हालु, स्वमातृ जाल्हण देवि आत्मश्रे० श्री महावीरबिंबं करापितं ।। शुभं भवतु ।।

७६—श्रीः। भगवंत महावीर पर्जिपास्ति ॥ संवत् १३८४ वर्षे चैत्र सुदि ३ भौमे ऊंबभद्राग्रामे व्यव० अजेसीह भार्या आल्हणदे सुत अभयचन्द्र, भार्या नामल, सुतमलयसीह, भार्या माणिक व्यव-खीत्यरे(?)स्थापितं ॥

८०—सं० ६३ (१२६३) मार्ग सु० १० श्रीनागपुरीय वरहुडिसंतानीय सा० नेमड पुत्र सा० राहड पुत्र जिणचन्द्र पुत्र देवचन्द्रेण दादी मात्रा चाहिणीश्रेयोऽर्थं श्री आदिनाथ विंवं ॥

८१—सं० १२६१ वर्षे मार्गशीर्ष मासे श्री अर्बुदाचले महं० श्री तेजपालकारित लूणसीह वसहिकाभिधान श्रीनेमिनाथ चैत्ये श्री अभिनंदन-श्रीशांतिदेव श्रीनेमिनाथ देवकुलिका विंवंदंड कलशादि-सहिता श्रीनागपुर वास्तव्य सा० वरदेव आसीत्। यन्नाम्ना वर-हुडिया इत्याम्नायः प्रसिद्धः। तत्सुतौ सा० आसदेव-लक्ष्मीधरौ। आसदेव, सुतनेमड, आभट, माणिक, सलषण। लक्ष्मीधर सुतास्तु थिरदेव, गुणधर, जगधर, भुवणाभिधानाः। ततः नेमड पुत्र सा० राहड, जयदेव, सा० सहदेवाख्यः। तत्र सा० राहड पुत्र जिणचन्द्र, दूल्हा धणेसर, लाहड, अभयकुमार, संज्ञाः। सा० जयदेवपुत(त्र) वीरदेव, देवकुमार, हालू नामानः। सा० सहदेव पुत्रौ खेढा गोसलौ। इत्येवमादिसमस्तनिज कुटुंवसमुदायसहितेन सा० राहड पुत्र जिणचन्द्र, धनेश्वर, लाहड माता बई नाईका वधू हरियाई श्रेयोऽर्थं शुद्धश्रद्धयाकर्मनिर्जरार्थं इयं कारिता ॥

८२—सम्वत् १३८८ वर्षे वैशाख सुदि ४ बुधे श्रीराउल मगरध्वज, पुत्र राउल बुधध्वज, पंचमी यात्रा, कल्याण प्रतिष्ठा आकउ प्रणसीह मल्लिककुमर ॥

८३—सम्वत् १२६३ मार्ग सुदि १० श्री नागपुरीय वरहुडि-संतानीय सा० नेमड पुत्र सा० राहड पुत्र सा० धणेसरलाहडेन श्री अभिनंदननाथबिंवं, मातृ नाइकि, धणेश्वर भार्या धणश्री, स्वात्मनश्च श्रेयोऽर्थं कारितं प्रतिष्ठितं नागेन्द्रगच्छे श्रीविजयसेनसूरिभिः ॥

८४—सं० १२६३ मार्ग्गसु १०, श्री नागपुरीय वरहुडिसंतानीय सा० नेमड पुत्र सा० राहडः, पुत्र लाहडेनस्वभार्या लखमश्री श्रेयोऽर्थं

श्रीशांतिनाथबिंबं कारितं, प्रतिष्ठितं श्री विजयसेनसूरिभिः शुभं भवतु ॥

दे० (४०)

८५--स्वस्ति श्री विक्रम नृपात् सं० १२६१ वर्षे--

श्रीषंडेरकगच्छे, महतियशोभद्रसूरिसंताने ।
श्रीशांतीसूरिरास्ते, तच्चरणांभोजश्रुगभृंगः ॥१॥
वितीर्णधनसंचयः क्षतविपक्षलक्षाग्रणीः,
कृतोरुगुरुरैवतप्रमुखतीर्थयात्रोत्सवः ॥
दधत् क्षितिभृतां मुदे विशदधीः सदुःसाधता,--
मभूदुदयसंज्ञया त्रिविधवीरचूडामणिः ॥२॥
तदंगजन्मास्ति कवींद्रबंधु-र्मंत्रीयशोवीर इति प्रसिद्धः ।
ब्राह्मीरमाभ्यां युगपद्गुणोत्थ-विरोधशांत्यर्थमिवाश्रितोय ॥३॥
तेन सुमतिना जिनमत-निपुणेन श्रेयसे पितुरकारि ॥
श्री सुमतिनाथबिंबं तेन युता देवकुलिकेयं ॥४॥

दे० (४१)

८६--स्वस्ति श्रीविक्रमनृपात् संवत् १२६१ वर्षे--

श्रीषंडेरकगच्छे, महतियशोभद्रसूरिसंताने ।
श्रीशांतिसूरिरास्ते, तच्चरणांभोजयुगभृंगः ॥१॥
वितीर्णधनसंचयः क्षतविपक्षलक्षाग्रणीः,
कृतोरु गुरुरैवतप्रमुखतीर्थयात्रोत्सवः ॥
दधत्क्षितिभृतां मुदे विशदधीः सदुःसाधता--
मभूदुदयसंज्ञया त्रिविधवीरचूडामणिः ॥२॥
तदङ्गजन्मास्ति कवीन्द्रबंधु-र्म्मंत्रीयशोवीर इति प्रसिद्धः ।
ब्राह्मीरमाभ्यां युगपद्गुणोत्थ-विरोधशांत्यर्थमिवाश्रितो यः ॥३॥
तेन सुमतिना मातुः श्रेयोऽर्थं कारिता कृतज्ञेन ।
श्री पद्मप्रभबिंबालंकृतसद्देवकुलिकेयं ॥४॥

८७--सं० १४६५ कच्छोलीवालगच्छे, भ० श्री सर्वाणंद सूरयः सपरिवाराः श्री नेमिं प्रणमंति ।'

८८-वंदे सरस्वतीं देवीं, याति या कीं [व] मानसं ।
नी [यमा]ना[निजेने]व[यानमा]नस [व] ा सिन[ा] ॥१॥
यः [क्ष] ां तिमा [नप्य] रु [णः प्रकोपे,
शान्तोपि दीप्त]ः स्मरनिग्रहाय ।
निमीलिताक्षो [पि सम] ग्रदर्शी,
स वः शिवायास्तु × शि [वात] नूजः ॥२॥
अणहिलपुरमस्ति स्वस्तिपात्रं प्रजा [ना–
म] जरंजिर [घुतुल्यैः] पा [ल्य] मानंचु [लुक्यैः] ।
[चिरम] तिरमणीनां य [त्रवक्त्रे]न्दु [मन्दी]–
कृत इव [सि] त पक्ष प्रक्षयेऽप्यंधकारः ॥३॥
तत्र प्राग्वाटान्वय,-मुकुटं कुटज प्रसून (×) विशदयशाः '
दान विनिर्जित कल्प-द्रुम खण्डश्चण्डपः समभूत् ॥४॥
चण्ड प्र [सा] द सं [ज्ञः], स्वकुल [प्रासा] दहेमदण्डोऽस्य ।
प्रसर [त्की] र्त्ति पताकः, पुण्यविपाकेन सूनुरभूत् ॥५॥
आत्मगुणैः किरणैरिव, सोमो रोमोद्गमं सतां (×) कुर्व्वन्
उदगादगाध मध्याद्दुग्धोदधिबांधवात्तस्मात् ॥६॥
एतस्मादजनि जिनाधि [ना] थ भक्ति,
बिभ्राणः स्वमनसि शश्वदश्वरा [जः]
तस्यासीद्दयिततमा कुमार देवी [व]
देवीव त्रिपुररिपोः कुमारमाता ॥७॥
तयोः प्रथम पु [×] त्रोऽभून्मन्त्री लूणिग संज्ञया ।
दैवादवाप बालोऽपि, सालोक्यं [व] ा सवेन सः ॥८॥
पूर्व्वमेव सचिवः स कोविदै–
र्गण्यते स्म गुणवत्सु लूणिगः ।
यस्य निस्तुषमतेर्मनीषया
धिक्कृतेव धिषणस्य धीरपि ॥९॥
आमल्लदेवः श्रि (×) त मल्लिदेवः
तस्यानुजो मन्त्रिमतल्लिकाऽभूत् ।
वभूव यस्यान्य धनांगनासु,
लुब्धा न वुद्धिः शमलब्धवुद्धेः ॥१०॥

धर्म्मविधाने भुवनच्छिद्र पिधाने विभिन्नसंधाने ।
सृष्टिकृतानहि सृष्टः, प्रतिमल्लो मल्लदेव (×) स्य ॥११॥
नील नीरद कदम्बकमुक्तश्वेत केतु किरणोद्धरणेन ।
मल्लदेव यशसा गलहस्तोहस्तिमल्लदशनांशुषु दत्तः ॥१२॥
तस्यानुजो विजयते विजितेन्द्रियस्य
सारस्वतामृतकृताद्भुत हर्षवर्षः ।
श्रीवस्तु (×) [पा] ल इति भालतलस्थितानि
दौस्थ्याक्षराणि सुकृती कृतिनां विलुंपन् ॥१३॥
विरचयति वस्तुपालश्चुलुक्यसचिवेषु कविषु च प्रवरः ॥
न कदाचिदर्थहरणं श्रीकरणे काव्यकरणे वा ॥१४॥
तेजःपालः पालितस्वा (×) मितेजः—
पुंजः सोऽयं राजते मंत्रिराजः ।
दुर्वृत्तानां शंकनीयः कनीया—
नस्य भ्राता विश्वविभ्रान्तकीर्त्तिः ॥१५॥
तेजःपालस्य विष्णोश्च, कः स्वरूपं निरूपयेत् ।
स्थितं जगत्त्रयीसूत्रं यदीयोदरकंदरे ॥१६॥
जाल्हू-माऊ-साऊ(×)धनदेवी-सोहगा-वयजुकाख्याः ।
पद्मलदेवीचैषां, क्रमादिमाः सप्त सोदर्यः ॥१७॥
एतेऽश्वराजपुत्रा, दशरथपुत्रास्त एव चत्त्वारः ।
प्राप्ताः किल पुनरवनावेकोदरवासलोभेन ॥१८॥
अनुजन्मना समेतस्तेजःपा(×)लेन वस्तुपालोऽयं ।
मदयति कस्य न हृदयं, मधुमासो माधवेनेव ॥१९॥
पंथानमेको न कदापि गच्छे—
दिति स्मृतिप्रोक्तमिव स्मरन्तौ ।
सहोदरौ दुर्द्धरमोहचौरे,
संभूय धर्म्माध्वनि तौ प्रवृत्तौ ॥२०॥
इदं सदा सो (×) दरयोरुदेतु,
युगं युगव्यायतदोर्युगश्रि ।
युगे चतुर्थेप्यनघेन येन,
कृतं कृतस्यागमनं युगस्य ॥२१॥

मुक्तामयं शरीरं, सोदरयोः सुचिरमेतयोरस्तु ।
मुक्तामयं किल मही-वलयमिदं भाति यत्कीर्त्या ॥२२॥
एको(×)त्पत्तिनिमित्तौ,यद्यपि पाणी तयोस्तथाऽप्येकः
वामोऽभूदनयोर्न तु सोदरयोः कोऽपि दक्षिणयोः ॥२३॥
धर्म्मस्थानांकिता-मुर्वी, सर्वतः कुर्वताऽमुना ।
दत्तः पादो बलाद्वन्धु-युगलेन कलेर्गले ॥२४॥
इतश्चौलुक्य वीरा (×) णां, वंशे शाखा विशेषकः ।
अर्णोराज इति ख्यातो, जातस्तेजोमयः पुमान् ॥२५॥
तस्मादनंतरमनंतरितप्रतापः,
प्राप क्षितिं क्षतरिपुर्लवणप्रसादः ।
स्वर्ग्गापगाजलवलक्षितशंखशुभ्रा,
बभ्राम यस्य लवणाब्धिमतीत्यकीर्त्तिः (×) ॥२६॥
सुतस्तस्मादासींद्दशरथ ककुत्स्थप्रतिकृतेः ।
प्रतिक्षमापालानां कवलितबलो वीरधवलः ।
यशः पूरे यस्य प्रसरति रतिक्लान्तमनसा–
मसाध्वीनां भग्नाऽभिसरण कलायां कुशलता ॥२७॥
चौलुक्यः सुकृती स वीर धवलः क (×) र्णे जपानां जपं,
यः कर्णेऽपिचकार न प्रलपतामुद्दिश्य यौ मन्त्रिणौ ।
आभ्यामभ्युदयातिरेकरुचिरं राज्यं स्वभर्त्तुः कृतं,
वाहानां निवहा घटाः करटिनां बद्धाश्च सौधांगणे ॥२८॥
तेन मन्त्रिद्वयेनायं, जानेजानूपवर्त्तिना ॥
वि (×) भुर्भुजद्वयेनेव, सुखमाश्लिष्यति श्रियं ॥२९॥

इतश्च—

गौरीवरश्वशुर भूधर सम्भवोय,-मस्त्यर्बुदः ककुदमद्रिकदंबकस्य ।
मंदाकिनीं घनजटे दधदुत्तमां[गे], यः श्यालकः शशिभृतोऽभिनयं करोति ॥३०॥
क्वचिदिह विहरंतीर्वी (×) क्षमाणस्य रामाः,
प्रसरति रतिरंतर्मोक्षमाकांक्षतोऽपि ।

क्वचन मुनिभिरर्थ्यां पश्यतस्तीर्थवीथीं,
भवति भवविरक्ता धीर वीरात्मनोऽपि ॥३१॥
श्रेयः श्रेष्ठवसिष्ठहोमहुतभुक्कुण्डान्मृतण्डात्मज–
प्रद्योताधिकदेहदीधितिभ रः कोऽप्याविरासीन्नरः।
तं मत्वा परमारणैकरसिकं स व्याजहार श्रुते–
राधारः परमार इत्यजनि तन्नाम्नाऽथ तस्यान्वयः ॥३२॥
श्री धूमराजः प्रथमं बभूव, भूवासवस्तत्र नरेंद्रवंशे।
भूमिभृतो यः कृतवानभिज्ञान् पक्षद्वयोच्छेदनवेदनासु ॥३३॥
धंधुकध्रुवभटादयस्तत-स्ते रिपुद्विपघटाजितोऽभवन्।
यत्कुलेऽजनि पुमान्मनोरमो, रामदेव इति कामदेवजित् ॥३४॥
रोदःकन्दरवर्त्तिकीर्त्तिलहरी लिप्ताऽमृतांशुद्युते–
रप्रद्युम्नवशो यशोधवल इत्यासीत्तनूजस्ततः।
यश्चोलुक्यकुमारपालनृपतिं प्रत्यर्थित्तामागतं,
मत्वा सत्वरमेव मालवपतिं बल्लालमालब्धवान् ॥३५॥
शत्रुश्रेणीगलविदलनोन्निद्रनिस्त्रिंशधारो,
धारावर्षः समजनि सुतस्तस्य विश्वप्रशस्यः।
क्रोधाक्रांतप्रधनवसुधानिश्चले यत्र जाता–
श्च्योतन्नेत्रोत्पलजलकणाः कोंकणाधीशपत्न्यः ॥३६॥
सोऽयं पुनर्दाशरथिः पृथिव्या-मव्याहतौजाः स्फुटमुज्जगाम।
मारीचवैरादिव योऽधुनापि(मृ) गव्यमव्यग्रमतिः करोति ॥२७॥
सामंतसिंहसमितिक्षितिविक्षतौजः–
श्रीगुर्जरक्षितिपरक्षणदक्षिणासिः।
प्रल्हादनस्तदनुजो दनुजोत्तमारि–
श्चारित्रमत्र पुनरुज्ज्वलयाँचकार ॥३८॥
देवी सरोजासनसंभवा किं कामप्रदा किं सुरसौरभेयी।
प्रल्हादनाकारधराधरायामायातवत्येष न निश्चयो मे ॥३९॥
धारावर्षसुतोऽयं, जयति श्री सोमसिंहदेवो यः।
पितृतः शौर्यं विद्यां, पितृव्यकाद्दानमुभयतोजगृहे ॥४०॥
मुक्त्वा विप्रकरानरातिनिकरान्निर्ज्जित्य तत्किंचन,
प्रापत्संप्रति सोमसिंहनृपतिः सोमप्रकाशं यशः।

येनोर्व्वीतलमुज्ज्वलं रचयताप्युत्ताम्यतामीर्ष्यया,
सर्वेषामिह विद्विषां नहि मुखान्मालिन्यमुन्मूलितं ॥४१॥
वसुदेवस्येव सुतः, श्रीकृष्णः कृष्णराजदेवोऽस्य ।
मात्राधिकप्रतापो, यशोदया संश्रितो जयति ॥४२॥

इतश्च—

अन्वयेन विनयेन विद्यया, विक्रमेण सुकृतक्रमेण च ।
क्वापि कोऽपि न पुमानुपैति मे, वस्तुपालसदृशो दृशोः पथि ॥४३॥
दयिता ललितादेवी, तनयमवीतनयमाप सचिवेन्द्रात् ।
नाम्ना जयंतसिंहं, जयंतमिंद्रात्पुलोमपुत्रीव ॥४४॥
यः शैशवे विनयवैरिणि बोधवन्ध्ये, धत्ते नयं च विनयं च गुणोदयंञ्च
सोऽयं मनोभवपराभवजागरूक-रूपो न कं मनसि
चुँबति जैत्रसिंहः ॥४५॥
श्रीवस्तुपालपुत्रः, कल्पायुरयं जयंतसिंहोऽस्तु ।
कामादधिकं रूपं, निरूप्यते यस्य दानं च ॥४६॥
स श्रीतेजःपालः, सचिवश्चिरकालमस्तु तेजस्वी
येन जना निश्चितास्चिंतामणिनेव नंदंति ॥४७॥
यच्चाणाक्यामरगुरुमरुद्व्याडिशुक्रादिकानां,
प्रागुत्पादं व्यधित भुवनेमंत्रिणाँ बुद्धिधाम्नां ।
चक्रेऽभ्यासः स खलु विधिना नूनमेनं विधातुं,
तेजःपालः कथमितरथाधिक्यमापैष तेषु ॥४८॥
अस्ति स्वस्ति निकेतनं तनुभृतां श्रीवस्तुपालानुज—
स्तेजःपाल इति स्थितिं बलिकृतामुर्व्वीतले पालयन् ।
आत्मीयं बहु मन्यते न हि गुणग्रामं च कामंदकि—
श्चाणाक्योऽपि चमत्करोति न हृदि प्रेक्षास्पदं प्रेक्ष्य यं ॥४९॥

इतश्च—

महं० श्री तेजःपालस्य पत्न्याः श्री अनुपमदेव्याः पितृवंशवर्णनम्—
प्राग्वाटान्वयमंडनैकमुकुटः श्रीसांद्रचंद्रावती—
वास्तव्यः स्तवनीयकीर्तिलहरिप्रक्षालितक्ष्मातलः ।

श्रीगागाभिधया सुधीरजनि यद्वृत्तानुरागादभूत्
को नाप्तप्रमदो न दोलितशिरा नोद्भूतरोमा पुमान् ॥५०॥
अनुसृतसज्जनसरणिर्धरणिगनामा बभूव तत्तनयः ।
स्वप्रभुहृदयेगुणिना हारेणेव स्थितं येन ॥५१॥
त्रिभुवनदेवी तस्य, त्रिभुवनविख्यातशीलसम्पन्ना ।
दयिताऽभूदनयोः पुनरंगं द्वेधा मनस्त्वेकं ॥५२॥
अनुपमादेवी देवी, साक्षाद्दाक्षायणीव शीलेन ।
तद्दुहिता सहिता श्री तेजःपालेनपत्याऽभूत् ॥५३॥
इयमनुपमदेवी दिव्यवृत्तप्रसून-व्रततिरजनि तेजःपालमंत्रीशपत्नी ।
नय-विनय विवेकौचित्यदाक्षिण्यदान-प्रमुखगुणगणैंद्द्योतिताशेषगोत्रा५४
लावण्यसिंहस्तनयस्तयोरयं-रयं जयन्निन्द्रियदुष्टवाजिनां ।
लब्ध्वापि मीनध्वजमंगलं वयः, प्रयाति धर्म्मैकविधायिनाऽध्वना ।५५।
श्री तेजपालतनयस्य गुणानमुष्य, श्रीलूणसिंहकृतिनः कति न स्तुवंति ।
श्रीबंधनोद्धुर तरैरपि यैः समंता-दुद्दामता त्रिजगति क्रियते स्म कीर्त्तेः।५६।
गुणधननिधानकलशः, प्रकटोऽयमवेष्टितश्च खलसर्पैः ।
उपचयमयते सततं सुजनैरुपजीव्यमानोऽपि ॥५७॥
मल्लदेवसचिवस्य नंदनः, पूर्णसिंह इति लीलुकासुतः ।
तस्य नंदति सुतोयमल्हणादंविभूः सुकृतवेश्म पेथडः ॥५८॥
अभूदनुपमा पत्नी, तेजः पालस्य मन्त्रिणः ।
लावण्यसिंहनामायमायुष्मानेतयोः सुतः ॥५९॥
तेजःपालेन पुण्यार्थं, तयोः पुत्रकलत्रयोः ।
हर्म्म्यं श्री नेमिनाथस्य, तेने तेनेदमर्बुदे ॥६०॥
तेजःपाल इति क्षितींदुसचिवः शंखोज्ज्वलाभिः शिला-
श्रेणीभिः स्फुरदिंदुकुन्दरुचिरं नेमिप्रभोर्मंदिरं ।
उच्चैर्मंडपमग्रतो जिन (वरा) वासानृद्विपंचाशतं
तत्पार्श्वेषु बलानकं च पुरतो निष्पादयामासिवान् ॥६१॥
श्रीमच्चण्ड (प) सम्भवः (सम) भवच्चण्डप्रसादस्ततः,
सोमस्तत् प्रभवोऽश्वराज इति तत्पुत्राः पवित्राशयाः ।
श्रीमल्लूणिगमल्लदेवसचिवश्रीवस्तुपालाह्वया-
स्तेजःपाल समन्विता जिनमताराभोन्नमन्नीरदाः ॥६२॥

श्रीमन्त्रीश्वरवस्तुपालतनयः श्रीजैत्रसिंहाह्वय-
स्तेजःपालसुतश्च विश्रुतमतिर्लावण्यसिंहाभिधः।
एतेषां दशमूर्त्तयः करिवधूपृष्ठप्रतिष्ठाजुषां,
राजन्ते जिनदर्शनार्थमयतां दिग्नायकानामिव ॥६३॥
मूर्त्तीनामिह पृष्ठतः करिवधूपृष्ठप्रतिष्ठाजुषां,
तन्मूर्तिर्विमलाश्मखत्तकगताः कांतासमेता दश।
चौलुक्यक्षितिपालवीरधवलस्याद्वैतबन्धुः सुधी-
स्तेजःपाल इति व्यधापयदयं श्रीवस्तुपालानुजः ॥६४॥
तेजःपालः सकलप्रजोपजीव्यस्य वस्तुपालस्य।
सविधे विभाति सफलः, सरोवरस्येव सहकारः ॥६५॥
तेन भ्रातृयुगेन या प्रतिपुर-ग्रामाध्व-शैलस्थलं,
वापीकूपनिपानकाननसरःप्रासादसत्रादिका।
धर्म्मस्थानपरंपरा नवतरा चक्रेऽथ जीर्णोद्धृता,
तत्संख्यापि न बुद्धयते यदि परंतद्वेदिनी मेदिनी ॥६७॥
शंभोः श्वासगतागतानि गणयेद् यः सन्मतिर्योऽथवा,
नेत्रोन्मीलनमीलनानि कलयन्मार्कंडनाम्नो मुनेः।
संख्यातुं सचिवद्वयीविरचितामेतामपेतापर-
व्यापारः सुकृतानुकीर्तनततिं सोप्यूज्जिहीतेयदि ॥६७॥
सर्व्वत्र वर्त्ततां कीर्तिरश्वराजस्य शाश्वती।
सुकर्त्तुमुपकर्त्तुं च, जानीते यस्य संततिः ॥६८॥
आसीच्चंडपमंडितान्वयगुरुर्नागेन्द्रगच्छश्रिय-
श्चूडारत्नमयत्नसिद्धमहिमा सूरिर्महेन्द्राभिधः।
तस्माद्विस्मयनीयचारुचरितः श्रीशांति[सूरिस्त]तो-
प्यानन्दामरसूरियुग्ममुदयच्चन्द्रार्कदीपद्युति ॥६९॥
श्री जैनशासनवनीनवनीरवाहः, श्रीमांस्ततोऽप्यघहरो हरिभद्रसूरिः।
विद्यामदोन्मदगदेष्वनवद्यवैद्यः, ख्यातस्ततो विजयसेनमुनीश्वरोऽयं ७०
गुरो[स्त] स्या [शि]षां पात्रं, सूरिसूत्युदयप्रभः,
मौक्तिकानीव सूक्तानि, भांति यत्प्रतिभांबुधेः ॥७१॥
एतद्धर्म्मस्थानं, धर्म्मस्थानस्य चास्य यः कर्त्ता।
तावद्वयमिदमुदिया-दुदयत्ययमर्बुदो यावत् ॥७२॥

श्रीसोमेश्वरदेव-श्चुलुक्यनरदेवसेवितांह्रियुगः ।
रचयांचकार रुचिरां, धर्म्मस्थानप्रशस्तिमिमाँ ।।७३।।
श्रीनेमेरम्बिकायाश्च, प्रसादादर्बुदाचले ।
वस्तुपालान्वयस्यास्तु. प्रशस्तिःस्वस्तिशालिनी ।।७४।।

सूत्र० केल्हण सुत धांधलपुत्रेण चण्डेश्वरेण प्रशस्तिरियमुत्कीर्णा श्री विक्रम संवत् १२८७ वर्षे फाल्गुण वदि ३ रवौ श्री नागेंद्रगच्छे श्री विजयसेनसूरिभिः प्रतिष्ठा कृता ।।

८९— ।र्द०।। ॐनमः·········[संव]त् १२८७ वर्षे लौकिक-फाल्गुन वदि ३ रवौ अद्य हश्रीमदणहिलपाटके चौलुक्यकुलकमलराजहंससमस्तराजावलीसमलंकृतमहाराजाधिराज श्रीभीमदेव······(×) विजयिराज्ये तथा श्री वसिण्ट (ष्ठ) कुँडयजनानलोद्भूतश्रीमध्धोमराजदेवकुलोत्पन्नमहामंडलेष्वरराजकुलश्रीसोर्मसिंहदेवविजयिराज्ये तस्यैव महाराजाधिराजश्रीभीमदेवस्य प्रसा[द]·········रात्रा मंडले श्री चौलुक्यकुलोत्पन्नमहामंडलेश्वर राणक श्रीलवणप्रसाददेव सुत महामंडलेश्वरराणक श्रीवीरधवलदेवसत्क समस्तमुद्राव्यापारिणा श्रीमदणहिलपुरंवास्तव्य श्रीप्राग्वाटज्ञातीय ठ० श्री चंड[प] चंडप्रसादात्मज महं० श्री सोमतनुज ठ० श्री आसराज भार्या ठ० श्री कुमारदेव्योः पुत्र महं० श्रीमल्लदेवसंघपति-महं० श्री वस्तुपालयोरनुज सहोदर भ्रातृ महं० श्री तेजःपालेन स्वकीय भार्या महं० श्रीअनुपमदेव्यास्तत्कुक्षिसमुद्भूतपवित्रपुत्रमहं० श्री लूणसिंहस्य च पुण्ययशोभिवृद्धये श्रीमदर्बुदाचलोपरिदेउलवाडाग्रामे समस्तदेवकुलिकालंकृतं विशालहस्तिशालोपशोभितं श्रीलूणसीहवसहिकाभिधानं श्री नेमिनाथदेवचैत्यमिदं कारितं प्रतिष्ठितं श्रीनागेन्द्र-गच्छे श्री महेन्द्रसूरिसंताने श्रीशांतिसूरिशिष्यश्रीआणंदसूरि-श्री-अमरचन्द्रसूरिपट्टालंकरणप्रभुश्रीहरिभद्रसूरिशिष्यैःश्रीविजयसेनसूरिभिः। अत्र च धर्म्मस्थाने कृत श्रावकगोष्टि (ष्ठि) कानां नामानि यथा ।। महं० श्री मल्लदेव, महं० श्रीवस्तुपाल, महं० श्रीतेजःपाल प्रभृति भ्रातृत्रय संतान परंपरया तथा महं० श्रीलूणसिंहसत्कमातृ-

कुलपक्ष श्रीचन्द्रावती वास्तव्य प्राग्वाट ज्ञातीय ठ० श्रीसावदेवसुत ठ० श्रीशालिग तनुज ठ० श्रीसागर तनय ठ० श्रीगागा पुत्र ठ० श्री-धरणिग भ्रातृ महं० श्रीराणिगमहं० श्रीलीला० तथा ठ० श्रीधरणिग भार्या ठ० श्रोतिहुणदेविकुक्षिसंभूतमहं० श्रीअनुपमदेवीसहोदर भ्रातृठ० श्री खीम्वसीह ठ० श्री आम्बसीह ठ० श्री ऊदल तथा महं० श्रीलीला-सुतमहं० श्रीलूणसींह तथा भ्रातृ ठ० जगसीह ठ० रत्नसिंहानां समस्तकुटुंबेन एतदीयसंतानपरंपरया च एतस्मिन् धर्म्मस्थाने सकलमपि स्नपनपूजासारादिकं सदैव करणीयं निर्वाहणीयं च ।।तथा।। श्री चंद्रावत्याः सत्कसमस्तमहाजन सकलजिनचैत्यगोष्ठि (ष्ठि) कप्रभृति श्रावकसमुदायः ।। तथा उंवरणी कीसरउलीग्रामीय प्राग्वाट ज्ञा० श्रे० रासल उ० आसधर, तथा ज्ञा० माणिभद्र उ० श्रे० आल्हण तथा ज्ञा० श्रे० देल्हण उ० खीम्वसीह. धर्क्कट ज्ञातीय श्रे० नेहा उ० साल्हा तथा ज्ञा० धउलिग उ० आसचंद्र, तथा ज्ञा० श्रे० वहुदेव उ० सोम, प्राग्वाट ज्ञा० श्रे० सावड उ० श्रीपाल, तथा ज्ञा० श्रे० जींदा उ० पाल्हण धर्क्कट ज्ञा० श्रे० पासु उ० सादा प्राग्वाट ज्ञातीय पूना उ० साल्हा तथा श्रीमाल ज्ञा० पूना उ० साल्हा प्रभृति गोष्टि(ष्ठि) काः । अमीभिः श्री नेमिनाथदेव प्रतिष्टा (ष्ठा) वर्ष ग्रंथि यात्रामष्टाहिकायां देवकीय चैत्रवदि ३ तृतीयादिने स्नपन पूजाद्युत्सवः कार्यः ।। तथा कासहूदग्रामीय उसवाल ज्ञातोयश्रे० सोहि उ० पाल्हण, तथा ज्ञा० श्रे० सलखण उ० वालण, प्राग्वाट ज्ञा० श्रे० सांतुय उ० देल्हुय तथा ज्ञा० श्रे० गोसल उ० आल्हा, तथा ज्ञा० श्रे० कोला, उ० आम्बा तथा ज्ञा० श्रे० पासचंद्र, उ० पूनचंद्र, तथा ज्ञा० श्रे० जसवीर, उ० जगा तथा ज्ञा० व्रह्मदेव, उ० राल्हा, श्रीमाल ज्ञा० कडुयरा, उ० कुलधर प्रभृतिगोष्टि (ष्टि) काः । अमीभिस्तथा ४ चतुर्थीदिने श्री नेमिनाथदेवस्य द्वितीयाष्टाहिकामहोत्सवः कार्यः । तथा व्रह्माणवास्तव्य प्राग्वाट ज्ञातीय महाजनि० आंमिग उ० पूनड उसवाल ज्ञा० महा० धांधा, उ० सागर तथा महा० साढा, उ० वरदेव, प्राग्वाट ज्ञा० महं० पाल्हण, उ० उदयपाल ओइसवाल ज्ञा० महा० आवोधन० उ०

जगसीह, श्रीमाल ज्ञा० महा० वीसल, उ० पासदेव, प्राग्वाट ज्ञा० महा० वीरदेव उ० अरसीह तथा ज्ञा० श्रे० धणचंद्र, उ० रामचंद्र प्रभृतिगोष्टि(ष्ठि)का: । अमीभिस्तथा ५ पंचमीदिने श्री नेमिनाथ-देवस्य तृतीयाष्टाहिकामहोत्सव: कार्य: ॥ तथा धउलीग्रामीयप्राग्वाट ज्ञातीय श्रे० साजण उ० पासवीर, तथा ज्ञा० श्रे० वोहडि, उ० पूना तथा ज्ञा० श्रे० जसडुय उ० जेगण तथा ज्ञातीय श्रे० साजन उ० भोला तथा ज्ञा० श्रे० पासिल, उ० पुनूय, तथा ज्ञा० श्रे० राजुय, उ० सावदेव तथा ज्ञा० दूगसरण, उ० साहणीय ओइसवाल ज्ञा० श्रे० सलखण उ० महं० जोगा तथा ज्ञा० श्रे[०]देवकुंमार उ० आसदेव प्रभृतिगोष्टि(ष्ठि) का: । अमीभिस्तथा ६ षष्ठीदिने श्री नेमिनाथ देवस्य चतुर्थाष्टाहिका महोत्सव: कार्य: ॥ तथा मुंडस्थल महातीर्थ-वास्तव्य प्राग्वाट ज्ञातीय श्रे० संधीरण, उ० गुणचंद्र, पाल्हा, तथा श्रे० सोहिय, उ० आश्वेसर तथा श्रे० जेजा, उ० खांखण तथा फीलिणीग्राम वास्तव्य श्रीमाल ज्ञा० चापल गाजण प्रमुख गोष्टि(ष्ठि) का: अमीभिस्तथा ७ सप्तमीदिने श्री नेमिनाथदेवस्य पंचमाष्टाहि-कामहोत्सव: कार्य: ॥ तथा हंडाउद्रा ग्राम डवाणीग्राम वास्तव्य श्रीमालज्ञातीय श्रे० आम्बुय उ० जसरा तथा ज्ञा० श्रे[०]लखमण, उ० आसू तथा ज्ञा० श्रे० आसल उ० जगदेव, तथा ज्ञा० श्रे० सूमिग, उ० धणदेव, तथा ज्ञा० श्रे० जिणदेव उ० जाला, प्राग्वाट ज्ञा० श्रे० आसल, उ० सादा, श्रीमाल ज्ञा० श्रे० देदा उ० वीसल, तथा ज्ञा० श्रे० आसधर, उ० आसल तथा ज्ञा० श्रे० थिरदेव, उ० वीरुय, तथा ज्ञा० श्रे० गुणचंद्र, उ० देवधर, तथा ज्ञा० श्रे० हरिया, उ० हेमा, प्राग्वाट ज्ञा० श्रे० लखमण उ० कडुया प्रभृतिगोष्टि-(ष्ठि)का: । अमीभिस्तथा ८ अष्टमीदिने श्रीनेमिनाथदेवस्य षष्ठा-ष्टाहिकामहोत्सव: कार्य: । तथा[म]डाहडवास्तव्य प्राग्वाट ज्ञातीय श्रे देसल उ० ब्रह्मसरणु तथा ज्ञा० जसकर, उ० श्रे० धणिया, तथा ज्ञा० श्रे० देल्हण, उ० आल्हा, तथा ज्ञा० श्रे० वाला, उ० पद्मसीह तथा ज्ञा० श्रे० आंबुय, उ० बोहडि, तथा ज्ञा० श्रे० वोसरि, उ० पूनदेव, तथा ज्ञा० श्रे० वीरुय, उ० साजण. तथा ज्ञा० श्रे० पाहुय,

उ० जिणदेव प्रभृतिगोष्टि(ष्ठि)काः। अमीभिस्तथा ९ नवमीदिने, श्रीनेमिनाथदेवस्य सप्तमाष्टाहिकामहोत्सवः कार्यः। तथा साहिलवाड़ा वास्तव्य ओइसवाल ज्ञातीय श्रे० देल्हा, उ० आल्हण, श्रे० नागदेव, उ० आम्बदेव, श्रे० काल्हण, उ० आसल, श्रे वोहिथ, उ० लाखण, श्रे० जसदेव, उ० वाहड, श्रे० सीलण, उ० देल्हण, श्रे० वहुदा, श्रे० महधर, उ० धणपाल, श्रे० पूनिग, उ० वाघा, श्रे० गोसल, उ० वाहडा प्रभृतिगोष्टि(ष्ठि)काः। अमीभिस्तथा १० दशमी दिने श्रीनेमिनाथदेवस्य अष्टमाष्टाहिकामहोत्सवः कार्यः। तथा श्रीअर्वुदोपरि देउलवाडा वास्तव्य समस्त श्रावकैः श्रीनेमिनाथदेवस्य पंचापि कल्याणकानि यथादिनं प्रतिवर्षं कर्त्तव्यानि। एवमियं व्यवस्था श्री चन्द्रावतीपतिराजकुल श्रीसोमसिंहदेवेन तथा तत्पुत्रराज० श्रीकान्हडदेव प्रमुखकुमारैः समस्तराजलोकैस्तथा श्रीचंद्रावतीय स्थानपति भट्टारक प्रभृतिक विलास तथा गूगुली ब्राह्मण समस्तमहाजन गोष्ठिकैश्च, तथा अर्बुदाचलोपरि श्रीअचलेश्वर-श्रीवसिष्ठ तथा संनिहितग्राम देउलवाडाग्राम, श्रीश्रीमाता, महनुग्राम–आबुयग्राम–ओरासाग्राम—उत्तरछग्राम—सिहरग्राम–सालग्राम, हेठ-उंजीग्राम–आखीग्राम,–श्री धांधलेश्वरदेवीयकोटडी प्रभृति द्वादशग्रामेषु संतिष्ठमानस्थानपतितपोधनगूगुलीब्राह्मण —– राठियप्रभृतिसमस्तलोकैस्तथा भालि–भाडा–प्रभृतिग्रामेषु संतिष्ठमान श्री प्रतिहारवंशीय सर्व्वराजपुत्रैश्च आत्मीयात्मीय स्वेच्छया श्रीनेमिनाथदेवस्यमंडपे समुपविश्योपविश्य मह० श्रीतेजःपालपार्श्वात् स्वीयस्वीयप्रमोदपूर्व्वकं श्री लूणसीहवसहिकाभिधानस्यास्य धर्म्मस्थानस्य सर्वोपिरक्षाभारः स्वीकृतः। तदेतदात्मीयवचनं प्रमाणीकुर्व्वद्भिरेतैः सर्वैरपि तथा एतदीयसंतानपरंपरया च धर्म्मस्थानमिदमाचंद्रार्क्कं यावत् परिरक्षणीयम् ॥

"किमिह कपालकमण्डलु-वल्क सितरक्तनपटजटापटलैः।
वृत्तमिदमुज्ज्वलमुन्नतमनसां प्रतिपन्ननिर्व्वहणं ॥१॥

तथा महाराजकुल श्रीसोमसिंहदेवेन अस्यां श्रीलूणसिंहवसहिकायां श्री नेमिनाथदेवाय पूजांगभोगार्थं वाहिरहट्यां डबाणीग्रामः

शासनेन प्रदत्तः ।। स च श्रीसोमसिंहदेवाभ्यर्थनया प्रमारान्वयिभिरा-चंद्रार्क्कं यावत्प्रतिपाल्यः ।

सिद्धक्षेत्रमिति प्रसिद्धमहिमा श्रीपुंडरीको गिरिः,
श्रीमान् रैवतकोपि विश्वविदितः क्षेत्रं विमुक्तेरपि ।।
नूनं क्षेत्रमिदं द्वयोरपि तयोः श्री अर्बुदस्तत्प्रभू,
भेजाते कथमन्यथा सममिमं श्री आदिनेमी स्वयं ।।१।।
संसारसर्व्वस्वमिहैव मुक्तिसर्व्वस्वमप्यत्र जिनेगदृष्टम् ।
विलोक्यमाने भवने तवास्मिन् पूर्व्वंपरं च त्वयि दृष्टिपांथे ।।२।।
श्रीकृष्णर्षीय श्रीनयचन्द्रसूरेरिमे ।।

९०—सं० सखण पुत्र सं० सिंहराज, साधु साजण, सं० सहसा, साइदेपुत्री सुनथव प्रणमति ।।शुभं।।

दे० (४२)

९१-श्रीनृप विक्रम संवत् १२८८ वर्षे श्रीमत्पत्तनवास्तव्य प्राग्वाटज्ञातीय श्रीचंडप, श्रीचंडप्रसाद, श्रीसोम, महं० श्रीआसराज सुत श्रीमालदेव महं० श्रीवस्तुपालयोरनुज महं० श्रीतेजपालेन महं० श्रीवस्तुपालभार्यायाः महं० श्री सोखुकायाः पुण्यार्थं श्रीसुपार्श्वजि-नालंकृता देवकुलिकेयं कारिता ।।छ।।

दे० (४३)

९२—श्रीनृप विक्रम संवत् १२८८ वर्षे श्री पत्तनवास्तव्य प्राग्वाट ज्ञातीय श्रीचंडप, श्रीचंडप्रसाद, श्रीसोम, महं० श्रीआसराज सुत श्रीमालदेव, महं० श्रीवस्तुपायोरनुज महं० श्रीतेजपालेन महं० श्रीवस्तुपालभार्या ललतादेविश्रेयोऽर्थं देवकुलिका कारिता ।।

दे० (४४)

९३—संवत् १२८८ वर्षे श्रीचंडप, श्रीचंडप्रसाद, श्रीसोम, महं० श्रीआसराजांगज महं० श्रीवस्तुपाल सुत महं० श्रीजयतसीह-श्रेयोऽर्थं श्रीतेजपालेन देवकुलिका कारिता ।।

दे० (४५)

९४—श्रीनृपविक्रमसंवत् १२८८ वर्षे श्रीचंडप, श्रीचंडप्रसाद,

श्रीसोम, महं० श्रीआसरांगज महं० श्रीतेजपालेन श्रीजयतसीह भार्या जयतलदेवि श्रेयोऽर्थं देवकुलिका कारिता ॥

दे० (४६)

९५—श्रीनृपविक्रम संवत् १२८८ वर्षे प्राग्वाट ज्ञातीय श्रीचंडप, श्रीचंडप्रसाद, श्रीसोम, महं० श्रीआसरांगजेन महं० श्रीतेजपालेन श्रीजयतसीह भार्या सुहवदेविश्रेयोऽर्थं देवकुलिका कारिता ।

दे० (४७)

९६—श्रीनृपविक्रम संवत् १२८८ वर्षे प्राग्वाट ज्ञातीय श्रीचंडप, श्रीचंडप्रसाद, श्रीसोम, महं० श्रीआसरान्वय समुद्भव महं श्री-तेजपालेन महं० श्रीजयतसिह भार्या महं० श्रीरूपादेवि श्रेयोऽर्थं देवकुलिका कारिता ॥

दे० (४८)

९७—श्रीनृपविक्रम सं० १२८८ वर्षे प्राग्वाटज्ञातीय श्रीचंडप श्रीचंडप्रसाद, महं० श्रीसोम, महं० श्रीग्रासरान्वये महं० श्रीमालदेव सुता श्री सहजल श्रेयोऽर्थं महं श्रीतेजपालेन देवकुलिका कारिता ॥

९८—सं० १३८९ वर्षे फागुणसुदि ८ श्रीकोरेंटकीयगच्छे महं० पूनसीह, ठा० पूनसिरि सुत धांधलेन भ्रातृ मूलू गेहा, रूदासहितेन मुंडस्थल सत्क श्री महावीरचैत्ये निजमातृ पितृश्रेयोऽर्थं विंवयुगलं कारितं ॥

९९—सं० १५१५ वर्षे माघवदि ८ गुरौ श्री अर्बुदाचले देउ-लवाडावास्तव्य श्रीथंवाटज्ञातीय व्यव० लांटा भार्या वाल्हीसुतया व्य० वावा भार्या रूपीनाम्न्या भ्रातृ व्यव० आल्हा, पांचा, व्य० ॥ आल्हासुत व्य० लाषा (लीवा ?) भार्या दे(हे ?)लू, सुत षीमा, मोकलप्रभृतिकुटुंबयुतया राजीमतीप्रतिमा कारिता, प्रतिष्ठिता श्रीतपागच्छे श्री श्रीसोमसुँदरसूरिशिष्य श्रीमुनिसुंदरसूरि श्रीजय (चंद्र) सुन्दरसूरिशिष्य श्रीश्रीरत्नशेखर सूरिभिः । श्रीउदयनंदिसूरि श्रीलक्ष्मी-सागरसूरि श्रीजयसोम प्रमुख परिवार सहितैः मंगलमस्तु ॥

१००—सं० १२८७ वर्षे चैत्रवदि ३ शुक्रे महं० श्रीवस्तुपाल-महं० श्री तेजपालाः ।। य (यैः) पूर्व्वजपुण्याय अस्मिन्नर्बुदगिरौ श्री ।।

१०१—नृप विक्रम संवत् १२८७ वर्षे फाल्गुन सुदि ३ सोमे, अद्येह श्री अर्बुदाचले श्रीमदणहिलपुर वास्त० प्राग्वाटज्ञातीय श्री-चंडप, श्रीचंडप्रसाद महं० श्रीसोमान्वये महं० श्रीआसराजसुत, महं० मालदेव, महं० श्रीवस्तुपालयोरनुज भ्रातृ महं० श्रीतेजपालेन स्वकीय भार्या महं० श्री अनूपमदेवि कुक्षिसंभूतसुत महं० श्रीलूणसीह पुण्यार्थं अस्यां श्रीलूणवसहिकायां श्रीनेमिनाथमहातीर्थं कारितं ।।छ।।

१०२—संवत् १२९७ वर्षे वैशाख वदि १४ गुरौ प्राग्वाट-ज्ञातीयचंडप, चंडप्रसाद, महंश्री ....सा सुतायाः ठाकुराज्ञी सतोषा कुक्षिसंभूताया महं श्रीतेजपाल द्वितीय भार्या महं० श्री सुहड़ा देव्याःऽश्रेयोऽर्थं एतद् त्रिगदेवकुलिकाखत्तकं श्रीअजित्तनार्थबिंवं च कारितम् ।।छ।।छ।।

१०३—"आचन्द्रार्कं नंदतादेष संघा-धीशः श्रीमान् पेथडः संघयुक्तः ।
जीर्णोद्धारं वस्तुपालस्य चैत्ये, तेनेयेनेहाऽर्बुदाद्रौ स्वसारैः ।।

१०४—संवत् १५६३ वर्षे सं० डुंगर भार्या आसू पुत्र वरजांग, भार्या नाथी, स० केला भार्या कोडमदे सं० केला लषतं बंबं करापितं श्रीनेमिनाथ करावितं श्री धर्मनाथ करावितः ....।।

१०५—मांड़व वास्तव्य ओसवाल ज्ञातीय सो० सांगण, सो० सूरा, सो० पदम, सो० धर्मा, सो० हापा भा० वानू तयोःसुत सो० वीधा भा० सं० जेसा भार्या जसमादे तयोः सुतया संघवणि चंपाइ नाम्न्या स्वश्रेयसे द्विसप्ततितीर्थंकरपट्टः कारितः प्र० वृद्ध तपापक्षे श्री ज्ञानसागरसूरिभिः ।।

१०६—संवत् १२९७ वर्षे वैशाख वदि १४ गुरौ प्राग्वाट ज्ञातीयचंडप, चंडप्रसाद, महं० श्रीसोमान्वये महं० श्रीग्रासराजसुत महं० श्री तेजःपालेन श्रीमत्पत्तन वास्तव्य मोढज्ञातीय ठ० जाल्हण सुत ठ० आसासुतायाः ठकुराज्ञी संतोषाकुक्षिसंभूताया महं श्री तेजः पालद्वितीयभार्यायाः महं० श्रीसुहडादेव्याः श्रेयोऽर्थं..............।।

१०७--सं० १३६१ वर्षे श्रीचैत्रगच्छे श्री वर्द्धमानसूरीणां शिष्यश्री जयसेनोपाध्याय: श्रीआदिनाथ नेमिनाथौ प्रणमति ।।

१०८--सं० १४१७ आषाढ सुदि ५ गुरुवारे—

श्रीमत्कृष्णर्षिगच्छीयो, वादिसिंहतया श्रुत: ।
जयसिंहसूरिरायान्नेमिनाथनमश्चिकी: ।।१।।

१०९--संवत् १५१३ वर्षे वैशाख सुदि ९ दिने श्रीवृहद्गच्छे भट्टारक श्रीपुण्यप्रभसूरि तत्शिक्ष मुनि विजयदेव श्रीनेमिनाथं प्रणमति वक्रेतर चेतसा, यात्रा कृता सफला भवतु । नित्यं पुनरपि दर्शनमस्तु मंगलं श्री: ।

११०--सं० १५३१ वर्षे वैशाख वदि २ दिने श्री मंडपदुर्ग-वास्तव्य संघवी राजा भार्या सुहगपुत्र रत्न संघवी जावड भार्या धनाई प्रमुख कुटंब० युत: श्रीनेमिनाथं निरंतरं प्रणमति ।। ज्ञाति-श्रीमाल चिरंजीवी ।

१११—सं० १५३१ वर्षे वैशाख शुदि २ दिने सारंगपुर वास्तव्य प्राग्वाटवंश श्रृंगार यात्रा सत्रागार संघवो वेला भार्या अरथू पुत्र रत्न संघनायक सं० जेसिग: भार्या:, माणिकि पुत्री सं० जिविणि प्रमुख कुटंब श्रीमालवीय संघपरिवृत: श्रीसंघधुरंधर: श्री अर्बुद गिरितीर्थे श्री नेमिनाथदेवं निरंतरं प्रणमति ।।चिरंनंदतु।।

निम्नलिखित लेख नं० ११२,११३ लूणिगवसतिके बाहर उत्तर की तरफ टेकरी पर थे, परन्तु बाद में कायोत्सर्ग जिनयुगल मुंगथला में लाया गया है, अत: ११२ वां के बाद का लेख वहां नहीं मिलेगा ।

११२—संवत् १३८९ वर्षे फाल्गुन सुदि ८ सोमे श्रीकोरंट-कीयगच्छे श्रीनन्नाचार्यसंताने मुंडस्थलसत्क श्रीमहावीरचैत्ये महं० कुंअरा पुत्र पूंनसीह, भार्या पूनसिरि, सुत महं० धांधलेन भ्रातृ मूलू, गेहा, रूदा, श्रेयोऽर्थं जिनयुगलं कारितं प्रतिष्ठितं श्रीनन्नसूरि श्री-कक्कसूरिभि: ।।

११३—प्राग्वाट ज्ञातीय व्यव० चांडसी श्रीनमे(नेमि)नाथ-पादा, कारापिता, सपरिकर करापित सुभं भवतु ।।

भीमाशाह के पीतलहर प्रासाद के लेख

१–सं० १३६४ सा० लषा(?)पुत्र सा० जयताकेन पितृव्य रामा श्रेयो० श्रीआदिनाथबिं० का० प्र० श्रीज्ञानचंद्रसूरिभिः ॥ सा० जयताकेन रामा श्रे० ॥

२—संवत् १५४७ ज्येष्ट शु..............भा०, रजाइ प्रमुख कुटुंब युतेन यु..............गर भा० दाडिमदे सुत नाथाकेन.............. श्रीसोमसुन्दर सूरिसंताने.....................श्रीसुमतिसाधुसूरिभिः ॥

३–सं० १३६४ संघपति आसधर भार्या सं० रत्नसिरि पुत्री सं० बीजडभार्या वील्हण देवि श्रेयसे प्रिथमसिहेन कारितः पुंडरीकः प्र० श्रीज्ञानचंद्रसूरिभिः ॥

४—मूलनायकः श्रीसुविधिनाथः सा० डूंगर कारितः ॥

५—संवत् १५४७ वर्षे............श्रीस्तंभतीर्थ वास्तव्य श्री-श्रीमालज्ञातीय सा० धीधा, पुत्र सा० कर्मा, भार्या.........मोषा, सा० भांइआ, सा० नरीआ, सा० मोषा भा० थोबी श्रेयोऽर्थं पुत्री मणकी पुत्र सा० वेजसीह भार्या अथकू नाम्न्या देवकुलिका कारिता प्रतिष्ठिता श्रीतपागच्छे श्री श्री श्रीसुमतिसाधुसूरिभिः ।

६—वाडाविजा पुत्र खीमानी देहरी करत सीहा वास्तवि ॥

७—संवत् १५२५ फा० सु० ७ शनौरोहिण्यां श्रीअर्बुदगिरौ देवडा श्रीराजधर, सायर, डूगरसीराज्ये सा० भीमा चैत्ये गूर्जर श्रीमाल राजमान्य मं० मंडन भार्या भोली, पुत्र मं० सुंद्र पु० मं० गदाभ्यां भा० हांसी, पचाई, मं० गदा सा० (भा?) आसू, पू० श्रीरंग वाघादि कुटुंब युताभ्यां १०८ मण प्रमाण सपरिकर प्रथम जिन बिंबं का० तपागच्छनायक श्रीसोमसुंदरसूरि पट्टे श्रीमुनिसुंदर श्रीजयचंद्रसूरिपट्टे श्रीरत्नशेखरसूरि पट्ट प्रभाकर श्रीलक्ष्मीसागर सूरिभिः प्रतिष्ठितं श्री सुधानंदनसूरि श्रीसोमजयसूरि महोपाध्याय श्रीजिन सोमगणिप्रमुख विज्ञानं सूत्रधार देवाकस्य । श्रीरस्तु ।

८—मेवाड़ा ज्ञातीय सूत्रधार मिहिपा भा० नागल सुत सूत्र धारदेवा भा० करमी, सुत सू० हला, गदा, हापा नाना, हानाक, ···।

९—सं० १५२१ वर्षे वैशाख सुदि १० रवौ सं० रत्ना-सं० फताभ्यां श्रीशांतिनाथविंवं कारितं ॥

१०—सम्वत् १५२५ वर्षे फा० सु० ७ शनि रोहिण्यां अर्बुद गिरौ देवडा श्रीराजधर सायर, देवडा श्री डूंगरसीह राज्ये ××× माहाराजाधिराज श्रीसोमदेवमान्य मं० मण्डन ×× ४१ अंगुल प्रमाण प्रथम जिनमूल नायक ×××××××

११—सा० भीम चैत्ये गूर्जर मं० सुन्द्रगदाकारिता पित्तलमय प्रथम तीर्थंकर मूलनायकपरिकर मं० गदा० भा० आसूपुत्र श्री रंग कारित श्री अभिनन्दन बिम्ब प्र० तपा श्री लक्ष्मीसागर सूरिभिः हाला सूत्र ।

१२—सम्वत् १५२५ वर्षे फा० सु० ७ शनि रोहिण्यां अर्बुद गिरौ देवड़ा श्री राजधर सायर देवडा श्री डूंगरसिंह राज्ये गूजर साह भीमा प्रासादे गूजर ज्ञाति शृंगार मं० मण्डन भार्या भीली पुत्र राजाधिराज श्री सोमदास मान्य मं० सुन्द्रसुत मन्त्रीश्वर गदा भार्यया सा० हीरा भार्या मदीपुत्र्या श्राविका आसूनाम्न्या पुत्र श्री वाघादि परिवार परिवृतया पित्तलमय ४१ अंगुल प्रमाण प्रथम तीर्थंकर मूलनायक परिकरे श्री वासुपूज्य बिम्बं कारितं प्रतिष्ठितं श्री तपागच्छ नायक श्री सोमसुन्दरसूरि पट्टे श्रीमुनिसुन्दरसूरि श्रीजयचन्द्रसूरि तत्पट्टे श्रीरत्नशेखरसूरिपट्टप्रभाकर श्री गच्छाधिराज श्री श्री श्री लक्ष्मीसागरसूरिभिः श्री सुधानन्दनसूरि, श्रीसोमजयसूरि, महोपाध्याय श्रीजिनसोमगणिप्रमुखपरिवृतैः । महिसाणावास्तव्य सूत्र हरदेवा घटितं ॥

१३—सा० भीमप्रासादे गूर्जर मं० सुन्द्रगदा कारित पित्तलमय मूलनायक प्रथम तीर्थंकर परिकरे मं० गदा भा० आसूपुत्र मं० बाघा कारितं । श्री सम्भवनाथ बिम्बं प्र० तपाश्रीलक्ष्मीसागरसूरिभिः सूत्र हाला सुत लपा प्रणमति ॥

१४--सम्वत् १५२५ वर्षे फा० ....प्रा० ज्ञा० व्य० धांदा पु० राजा (?) भा० वजू (तेजू ?) पुत्र..............व्य० सजन भार्ये फांफू विइजू नाम्न्योः पुत्र दूदा व्य० सीहा भा० अचूं पुत्र गागा, व (धां) दा, टील्हा ३, व्य० रत्ना भा० राजल .... इत्यादि कुटुम्ब युताभ्यां सीहा-रत्नाभ्यां श्रीआदिनाथबिम्बं श्री सोमदेवसूरीणामुपदेशेन कारितं प्रतिष्ठितं तपागच्छे श्रीसोमसुन्दर सूरिशिष्य श्री लक्ष्मीसागरसूरिभिः........ .....श्रीसुधानन्दनसूरि- श्री सोमजयसूरि.......... परिवार ॥

१५--स्वस्ति सम्वत् १४९७ वर्षे आषाढ सुदि १३ दिने राउति श्री श्रीराजधरि पीतलहर देहरि न लाग श्री मातादिकरावु ठ० परभवा सामठि सेलहथ वणवी श्रीसंधि मिली की धु जेव्हला श्री आदिनाथादि तेव्ह धज श्रीमाता मागि, माणां १६ चोषा, करस १६ घृत, वरसधि पीतलहर देहरि श्रीमाता दइ, अध सोही १ तेल दीवालीए मागि कलसरि कलकावल करवा न लहि देवि कलसरि कावल करवा न लहि, पीतलहरि बीजु लाग को नथी । महं० षेतसी हस्ताक्षराणि श्री ए भवतु श्री ।

१६--१४९५ वर्षे उकेशवंशे दरड़ागोत्रीय सं० मण्डलीक ॥ माला महिपति श्रावकैः श्रीगौतमस्वामीमूर्तिः कारिता श्री खरतरगच्छे ॥

१७--सो० सुहडादे कारित श्रीशांतिनाथबिम्बं प्र० श्री उदयचन्द्र वल्लभसूरिभिः ।

१८--सो० सुहडादे कारितं श्रीशान्तिनाथबिम्बं प्र० उदय- वल्लभसूरिभिः ।

१९--सम्वत् १५०९ वर्षे मगसिर सुदि ७ दिने श्रीमालवंशे भडियागोत्रे सा० छाडा भार्या मेषु पुत्र सा० प्रमदाकेन भ्रातृ सा० कालाश्रेयोऽर्थं श्रीअम्बिकामूर्त्तिः का० प्र० श्री जिनचन्द्र सूरिभिः ॥ श्री स स................॥

२०--खरतर श्री जिनचन्द्रसूरि प्र० श्रीशांतिनाथबिम्बं श्रा० मणकाईकारितं ॥

२१—सम्वत् १५३१ वर्षे ज्येष्ठ सुदि ३ दिने गुरौ मालवदेशे जवासिआग्राम वास्तव्य प्रा० ज्ञातीय सा० स(ल)खण भा० देवी पु० भुंभच भा० पद्‌ू, ॥ द्वि पु० सा०… ा भा० रमाई पु० तांना, सहेजा, पाला०, तृतीय पु० मढा भा० नांह जयतू चतुर्थ पु० हांसा भा० हांसू प्रमुख कुटुम्बयुताभ्यां सा० सदा-पदाभ्यां स्वमातृ श्री० पचा पुण्यकृते श्री अर्बुदाचले श्री भीमसीहप्रासादे नव चतुष्के आलयरूपा देवकुलिका कारिता ॥ तत्र च श्री सुमतिनाथबिम्बं स्थापितं प्रतिष्ठितं श्री तपागच्छनायक श्री लक्ष्मीसागरसूरिभिः ॥ श्रुत ·····॥

२२—सम्वत् १५३१ वर्षे ज्येष्ठ शुदि तृतीयादिने गुरौ पुनर्वसु नक्षत्रे मालवदेशे सीणराग्रामे वासि० प्रा० ज्ञातीय सा० गुणपाल भा० रोंकू (ऊ ?) पुत्ररत्न सं० लींबा सं० भडा सं० वेला लींबा भा० लीलादे तत्पुत्र वडुआ भा० जेथदेवि पुत्र कडुआ भा० देके द्वि भ्रातृ सा० भडा भा० वीरणि जीवणि पु० उदेसी भा० चन्द्राउलि पु० रत्ना तृती य० मेला, भा० सांतू, धारू, पु० सं० हेरु, प्रमुख कुटुम्ब युताभ्यां सं० भडा० मेलाभ्यां-अर्बुदाचले श्री भीमसीह प्रासादे नव चतुष्के आलयरूप देवकुलिका कारिता तत्र च श्री सुमतिनाथबिंबं स्थापितं० प्र० श्री लक्ष्मीसागरसूरिश्री········ रगणि (१) ॥

२३—सम्वत् १२२६ वर्षे वैशाख शुदि ३ सोमे श्रीमदर्बुद महातीर्थे महामात्य श्री कवड़िना स्वकीयपितृ ठ० श्री आमपसा तथा स्वकीय मातृ ठ० श्री सीतादेव्योःस्तंभिद्वयोः (मूर्त्तिद्वयी ?) देव श्री ऋषभनाथाऽग्रतो अक्षय तृतीयादिने आचार्य श्री धर्मघोषसूरिभिः प्रतिष्ठितः ॥ मंगलं महा श्रीः ॥

श्री पार्श्वनाथ के तिमंजिले मन्दिर के लेख

१—श्री खरतरगच्छे श्रीजिनचन्द्रसूरिभिः प्रतिष्ठितः श्री चिन्तामणिपार्श्वनाथः सं० मण्डलिककारितः ॥

२—श्री खरतरगच्छे श्रीमंगलाकर श्री पार्श्वनाथः मण्डलिक कारितः ।

३—श्री खरतर गच्छे सं० मण्डलिककारितः ।।

४—श्री खरतर गच्छे श्री पार्श्वनाथः सा माला भा० मांजू श्राविकया कारितः ।

५—कां० सा० धन्ना श्रावकेण श्रीआदिनाथबिंबं कारितं ।। सा० जइता ।।

६—प० मांजू श्राविकया श्रीसुमतिनाथबिंबं कारितं

७—सम्वत् १५१५ वर्षे आषाढ वदि १ शुक्रे श्री ऊकेशवंशे दरडा गोत्रे सा० आसा भा० सोषु पुत्रेण सं० मण्डलिकेन भा० हीराई पु० साजण, द्वि० भा० रोहिणि प्र० भ्रा० सा० पाल्हादि परिकरसंयुतेन श्रीचतुर्मुखप्रासादेश्रीअंबिका मूर्त्तिः का० प्र० श्री जिनचन्द्र सूरिभिः

८—(१) श्रीपार्श्वनाथः । मण्डलिकः

९—(२) संवत् १५१५ वर्षे आषाढ वदि १ शुक्रे

१०—(३) श्री पार्श्वनाथः मण्डलिक कारितः ।

११—(४) द्वितीयभूमौ श्रीपार्श्वनाथः ।

देलवाडा के प्रकीर्णक लेख—

१. .... नमः स्वस्ति संवत् १४९४ वर्षे वैशाख शुदि १३ गुरौ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गुच्छे भट्टारक श्री पद्मनन्दितत्पट्टे श्री शुभचन्द्र भट्टारिक श्रीसकलकीर्त्ति उपदेशे चैत्यार्यंकत्वा संघवै नरपालसुतचांपा व्यव० वीसलसुत मांडण संघवै गोव्यदभात्रि(तृ)देवशी, दोशी करणा जिनदास वाई सूल्ही वाई गोरी गांधी गोव्यंद भ्रात्री(तृ)पीमा समस्त श्रीसंघ-दिगंवरु श्री अर्बुदाचले आगिइ तीर्थ शी(सि)तांवरु, प्रासाद दिगंबरु पाछि कराव्य........................श्री आदिनाथि वडाई, वीजी श्री नेमिनाथि, त्रीजइ श्रीपीतलहर, चुथ प्रासाद दिगंवरु पाछिइ

ऐहरीति नवहण महापूजा, ध्वज, अवारी,........................

....

....र णर्गा संघवी गोव्यंद प्रशस्ति लिषावी, ऊंवरणीस्थाने राज श्री राजधर देवडा चुंडा, प्रासादनी अक्षर विधि ऐह प्रासाद नीपजतां पश्चा कोई करवा न लहिइ वरसा सु १०० कमठा हुइ आडु पश्चा करि ते राजधर निर्वहि देवडु सांडु, ठाकुर परभु, भाट सेलहु, तपाइक परभु देवदाह्यदा को कांइ मागवा न लहि, मागि ते राजधर चुडु निर्वहि गोव्यंद करणानइ संमध नहीं, एह विधि सीलीया पलाविइ, देवडु डूंगरसी, देवडु सतु, लूंढु, विरसी, सघलाइ ववि वेटु, ठाकुर माहव, ऐतला शीलीया साषि व्यास सांडु ववि लीबु, ववि भीमा, देवडा सिघा, साषि धज धजनी रीति आषी चडतु आषीनी रीति अधिली चडतु आधिलीनी रीति आदिनाथनी, दीवालीइनी, वरसाथी करस २४ घी, चोषा माणां २४ नीवेद भणी तेल करस ६ दीवा भणी, आणइ प्रासादिआ ॥

२--संवत् १४९७ वर्षे आषाढ सुदि रवौ श्री राजधर अप्रमूता चुण्डा महंना (ता) षेतसी सेंग साषि चूडाव (?)

३—ॐ नमः श्रीमाता श्री आदिनाथिथि मूं (?) द्राम ४२, कलसी ४ जव, नव सती षेत्रां भंजामणिरि आदिनाथः श्री माता कबू प्राश्रु (?) टंकु मागइ, देव कापड वि कलसी ४ जव मागइ, माणां २४ चोषा, करस २४ घृत नैवेद, कल्याणिकादि अमारी कातां २४ लहरम्य (?) साध जव श्री देवि मागवक जीउइय मासेई वे आना लषर (?) १ पछेडी १ संघवै माहाधज चडतांदि ॥ धज कूटनी पछेडी १ आदिनाथ, अद धज चडतो फल सइ, ५०० धूपडी एतरू धज चड केडि आदिनाथ दय वलीरुर (?) १ कापड १ कल्याणिके ६४ पान, ६४ सोपारी, ऐतरू लहइ, कलस चडतर कलस लहइ, ऊतर्या चन्द्रूआ चन्द्रूओ लहइ, मास पूजइ फ़ूल लहई, घी वीती रूकडी लहइ, सरविमाता आदिनाथ ऊपज देवि ६४ पू श्री आदिनाथ पीतलहरि माणा ७६ चोषा, करस ७६ घृत एतरू नैवेद कल्याणि दि० धज चडतां पछेडी १ संघवै रेसम १ चोषा,

द्रामा १ चुकडीउए १ नालीउर नं० ५००, फलदि धूपपुडी, लसू, पछेडी १ धज छूटती लहइ, अध सोली दीवाली नेन्सादि (?)········ १२ ऐ सारु (?) कर··········पन············

हूंबड वसहीनु लाग माणां २४ चोषा, करस २४ घृत दीवाली निवेदतां लहइ महाधज चडती पछेडी एक छूटती दि चउकड द्राम १ सेइ चोषा, नालीउर १ सइ, ५०० फल धूपुडी १ उधसोली तेल दीवेल लहइ सोपारी ६४, पान ६४ दीवाली लहइ, द्राम १२ चकड हूंबड न दिने(?)अवावरी कणजतां २४ चोषा माणां २४ घ्रतकरस आदिनाथ कलसी·····तेज·····चडतो कलसनी रीति आदिनाथनी रीतिवत् अणीरीतिमारे ए············रीतियां आदिनाथनी रीति ऐ तिहू देहरारी चडाई देवि पहिला ध्वज कलस देवि चडतु, पाछि देहरि चडइः ॥ राज श्री (शा ?) दूलराज पा(पर)मार श्रीमातानु ग्रास थाप्यु, सम्वत् १४।१७ का वासते पु ·························

४–सम्वत् १३१३ वर्षे वैशाख सुदि १४ सोमे पिलि महा-श्रीनीजद तस्य पुत्र महा श्री जयसिंह देव तस्य भार्या बाइ श्रीभ्रमा देवि ॥ शुभं भवतु ॥

५––सम्वत् १५ आषाढादि २५ वर्षे शाके १३।७० प्रवर्त्तमाने फाल्गुन मासे शुक्लपक्षे नवम्यां तिथौ सोमवामरे श्री गूर्जर श्रीमाल ज्ञातीय मंथाल गोत्रे श्रीषरतरपक्षीय मन्त्रिविजपालसुत मन्त्रि मण्डलिक तत्पुत्र मं० रणसिंह तत्पुत्र प्रथमः सा० सायरः, द्वितीयः सा० षेढाभिधः, तृतीयः सा० सामन्तः, चतुर्थःसा० नातिगः, तन्मध्यतः सा० सायर सु० बाई पूजी तत्पुत्र ४ पुत्री ३ प्रथमः सा० पद्माभिधः, दितीयः सा० रत्नाख्यः, तृतीयः सा० आसाख्यः, चतुर्थः सा० पावार······· भघर्थ (?)पुत्र सा०············(कडु ?) यामिधानः तद्भार्या लींबाइ मल्हाइ रंगाइ लखोवइ (हू ?) एतन्मध्ये श्री अर्बुदाचल महातीर्थे यात्रार्थं समागते च (न) पूर्वं योगिनीपुर वास्तव्य पश्चात् सांप्रतं अहमदावाद श्रीनगरवासिना श्री मव्य एच(?) कुल प्रसिद्धेन सा० आसाकेन प्रथम भा० माघी द्वितीय भा० हमीरदें

तृतीय भा०............पुत्र सा० जीवराज प्रभृति समस्त कुटुम्ब युतेन स्वभुजोपार्जितवित्तेन चित्तोल्लासतः श्रीमद्विष्णुदेवप्रासाद जीर्णोद्धारः कारितः।..... ......

६––सम्वत् १३०२ वर्षे ज्येष्ट शुदि ९ शुक्रे अद्येह स्तम्भतीर्थे श्री ब्रह्माणगच्छे श्री अरिष्टनेमिदेवचैत्ये पल्लीवालज्ञातीय भां० धणदेव भार्या धणदेवि, एतदीयसुत भां० नागड भार्या...............

७––सम्वत् १५३७ वर्षे वैशाख शु० ८ प्रा० सं० वेता (जेता ?) भ्रा० नागू पु० सं० साहा प्रा० साटीया सा० कर्मा० भा० धर्मिणि पुत्र सा समदा भा० जिसू पु० सं० षेता, भा० षेतलदे, भ्रातृ सं० गोइन्द भार्या गोगादे, भा०, सुहवदे पुत्र सा सचवीर, भा० पदमाइ धीमलदे, का० कुंथुनाथबिंबं प्रति० तपागच्छेश श्रीलक्ष्मीसागरसूरिभिः ॥

८––सम्वत् १५६६ वर्षे, मीगसर सुदि १५ श्री मेदपाट देशे कुंभलमेरुमहादुर्गे, श्रीराणाश्रीकुम्भकरणविजय राज्ये,कलंकी अवतारस्य पुत्र धर्मराज-दत्तराजा चोमुषजीने पूजणेहारा पना भार्या जीतूपुत्र सादूल कारापित ।।

९––सम्वत् १५६६ व्रषे घोड निपत हंसराज डूंगरपुरमांही कंसार जगमाल ककपाडी राजोपात्री सीरोइनु तेहनु देरासर ॥ तेनु हा (हर) करु हरजीपूजगसारा काणक पाडी राजो ॥ घोड १ क ममदी सवासु १००। बेठा मण २॥ निपनु ॥

१०––श्री ठह स। १५६६ व्रष (र्षे) सूत्र दारा (धार)। जगमाल सरतण घोड दगराज डूंगरपुरमांहे निपनु ॥ पात्री राजाने देरासर हाकरुडर पात्री राजु सीरोहीनु।' तिके घोडडु मण २॥ निपनु मेमुदा १०० बेठा।

अचलगढ़ के जैनमन्दिरों के मूर्ति लेख—

१—सम्वत् १३०२ वर्षे ज्येष्ठ शुदि ९ शुक्रे अद्येह स्तम्भतीर्थे श्री ब्रह्माणगच्छे श्री अरिष्टनेमिदेवचैत्ये पल्लीवाल ज्ञातीय भां० धणदेव भार्या धणदेवि एतदीयसुत भां० नागड, भार्या...............

२--सम्वत् १३८० वर्षे म.......... आत्मश्रेयसे श्रीकुंथुनाथ विंवं कारापितं ॥

३--सम्वत् १७२१ वर्षे ज्येष्ट सुदि ३ रवौ महाराजाधिराज महाराय श्रीअषयराजजी विजयराज्ये श्रीराजनगर वास्तव्य श्री श्रीमाली ज्ञातीय वृद्धशाखीय। दो पनीया सुत मनीया भार्या मनरंगदे सुत दो। शांतिदासकेन श्रीआदिनाथबिंव कारापितं प्रतिष्ठितं तपागच्छीय भ। श्री हीरविजयसूरि भ। श्री विजयसेनसूरि भ। श्री विजयतिलकसूरि पट्टालंकार भ०। श्री विजयानन्दसूरिपट्टोद्योतकारक भ०। श्री विजयराजसूरिभिः।

४—सम्वत् १५१८ वैशाख वदि ४ प्राग्वाट दो डुंगर भा० धापुरि पुत्र दो० कर्मा, करणा वन्धुना दो० गोइन्देन, कर्मा भा० करणू पुत्र आसा, अषा, अदा, करणा भा० कउतिगदे, पुत्र सीधर, गोइंद भा० जयतू पुत्र वाछादि कुटुम्बयुतेन स्वमातृबन्धुश्रेयसे श्री नेमिनाथविंबं का० प्र० तपागच्छे श्रीश्री श्रीरत्नशेखरसूरिपट्टे श्री लक्ष्मीसागरसूरिभिः ॥ कुंभलमेरौ ॥

५-सं० १६९८ वर्षे पौष सुदि १५ गुरुपुष्ये महाराज श्री अषय-राजजी राज्ये, कुंअर श्रीउदयभाणजी युवराज्ये, श्रीसीरोहीवास्तव्य प्राग्वाट ज्ञातीय वृ० सा० गागाभार्या मनरंगदे सुत सा० धर्मा हांसा धनराज तथा भ्रातृ सा० लषमण, कर्मचंद्र, दूहिचंदयुतेन श्रीपार्श्व-नाथबिंबं कारापितं, प्र० च श्रीतपागच्छे भ० श्रीहीरविजयसूरि त० भ० श्रीविजयसेनसूरि त० श्रीविजयतिलकसूरि भ० श्री विजयाणंद सूरिभिः पंडित श्रीमानविजयगणिशिष्य उ० श्रीअमृतविजयगणि-परिकरितैः।

६—सं० १६९८ वर्षे पौष सुदि १५ गुरुपुष्ये महाराजश्री अषय-राजजी राज्ये कुंअर श्री उदयभाणजी युवराज्ये, श्रीसीरोही वास्तव्य प्राग्वाट ज्ञा० वृ० सा०............(गागाभार्या) मनरंगदे सुत सा० वणवीर भार्या पसादे, सुत सा० लषमण भा० लषमादे सुत सा० भीमजी तथा भ्रातृ........युतेन श्रीशाँतिनाथबिंबं कारापितं, प्र० च श्रीतपागच्छे भ० श्री हीरविजयसूरि........

७-सं० १६६८ वर्षे पोस सुदि १५ गुरौ महाराय श्रीअषयराज विजयराज्ये, कुं० श्रीउदयभाणयुवराज्ये, श्री सीरोहीवास्तव्य प्राग्वाट ज्ञातीय वृद्ध शाखायां सा० गागाभार्या मनरंगदे, सुत सा० वणवीर भार्या पसादे सुत सा० कर्मचंद, भार्या अजावदे नाम्न्या श्रीनेमिनाथ विंवँ का० प्र० श्रीतपागच्छे भटार० श्रीहीरविजयसूरि, भ० श्रीविजयसेनसूरि, भ० श्रीविजयतिलकसूरि, भ० श्रीविजयाणंदसूरिभिः पंडित श्री५मानविजयगणि शिष्य महोपाध्याय श्री५श्री अमृतविजय गणिपरिकरितैः ।। श्रीरस्तु । कल्याणमस्तु ।।

८-सं० १५६६ वर्षे फा० शुदि १० दिने श्री अर्बुदोपरि श्री अचलदुर्गे महाराजाधिराज श्री जगमालविजयराज्ये, प्राग्वाटज्ञाती सं० कुरपालपुत्र सं० रतना, सं० धरणा, सं० रतनापुत्र सं० लाषा, सं० सलषा, सं० सजा, सं० सोना, सं० सालिग, भा० सुहागदे पुत्र सं० सहसाकेन भा० संसारदे पुत्र षीमराज, द्वि० अणुपमदे पु० देवराज, षीमराज भा० रमादे, कपू, पुत्र जयमल्ल मनजी प्रमुखयुतेन, निजकारित चतुर्मुखप्रासादे, उत्तरद्वारे पित्तलमय मूलनायक श्रीआदिनाथ विंवं कारितं, प्र० तपागच्छे श्रीसोमसुंदरसूरिपट्टेश्रीमुनिसुंदरसूरि श्रीजय(चन्द्र) सूरिपट्टे श्रीविशालराजसूरिपट्टे श्रीरत्नशेखरसूरिपट्टे श्रीलक्ष्मीसागरसूरिपट्टे श्रीसोमदेवसूरिशिष्य सुमतिसुन्दरसूरि शिष्य गच्छनायक श्रीकमलकलशसूरिशिष्य संप्रतिविजयमान गच्छनायक श्रीजयकल्याणसूरिभिः ।। श्री चरणसुन्दरसूरिप्रमुखपरिवारपरिवृतैः ।। सं० सोना, पुत्र सं० जिणा, भ्रातृ सं० आसाकेन भा० आसलदे पुत्र सत्त(?)युतेन कारितप्रतिष्ठामहे । श्रीरस्तु । सू० वाछा, पुत्र सू० देपा, पुत्र सू० अरबुद, पुत्र सू० हरदास ।

९—सम्वत् १५१८ वर्षे वैशाख वदि ४ दिने मेदपाटे श्री कुम्भलमेरुमहादुर्गे, राजाधिराज श्रीकुम्भकर्णविजयराज्ये तपापक्षीय श्रीसंघकारिते श्रीअर्बुदानीतपित्त लमय प्रौढ श्री आदिनाथमूलनायकप्रतिमालंकृते श्रीचतुर्मुखप्रासादे द्वितीयादिद्वारे स्थापनार्थं श्रीतपापक्षीय श्री संघेन श्रीआदिनाथविंवं कारितं डूंगरपुरनगरे राउलश्रीसोमदास राज्ये उसवाल सा० साभा भा० कर्मादे पुत्र सा० भाला, सा०

साल्हा कारितविस्मयावहमहोप्सवैः प्रतिष्ठितं तपाश्रीसोमसुन्दर सूरिपट्टे श्रीमुनिसुन्दरसूरिश्रीजयचन्द्रसूरि, मुनिसुन्दरसूरिपट्टे श्री रत्नशेखरसूरिपट्टे श्रीलक्ष्मीसागरसूरिभिः ।। श्री सोमदेवसूरि प्रमुख परिवारपरिवृतै ।। डूंगरपुरे श्रीसंघोपक्रमेण सूत्रधार लुंभा लांपाद्यै निर्मितं ।।

१०—सं० १३०२ वर्षे फागुण सुदि ३ सोमे व्य० साहारणसुत सांवत पुत्र जगसीह लघु बांधवेन व्य० कुंयरसीहेन स्वश्रेयोऽर्थं जिन (बिंवं) ....कारितं प्रतिष्ठितं श्री जयदेवसूरिशिष्यैः श्रीअमरचन्द्र सूरिभिः ।।

११—सं० १५३७ वै० सुदि ८ सं० लाषा, भा० सं० सुकनादे, कु(क)लिगदे, लषमादेपुत्रैः.........

१२—सम्वत् १५१८ वर्षे वैशाख वदि ४ शनौ श्रीडूंगरश्रीनगरे राउलश्रीसोमदासविजयिराज्ये ओसवाल चक्रेश्वरी गोत्रे सा० भुंमच भा० पातू सुत सा० साभा भार्या कर्मादे नाम्न्या स्वभर्तृ सा० साभा श्रेयसे श्रीशाँतिनाथबिंबं कारितं प्रतिष्ठितं तपा श्रीसोम सुन्दरसूरिपट्टे श्री मुनिसुंदर सूरिश्री जयचन्द्रसूरिपट्टे श्रीरत्नशेखर सूरिपट्टालंकार श्री लक्ष्मीसागरसूरिभिः श्रीसोमदेवसूरिमिश्रादिपरिवृतैः श्रीडूंगरपुरे श्रीसंघोपक्रमेण सूत्रधार नाथा लुंभाद्यैर्निर्मितम् ।

१३—सम्वत् १५६६ वर्षे फागुण सुदि १० सोमे श्री अचलगढ महादुर्गे महाराजाधिराज श्रीजगमाल विजयराज्ये सं० सालिग सुत सं० सहसा कारितश्री चतुर्मुखविहारे, भद्रप्रासादे श्री सुपार्श्वबिंव श्री संघेण कारितं प्रतिष्ठितं तपागच्छेश्रीसोमसुन्दरसूरिसन्तानेश्री कमलकलशसूरिशिष्यैः श्रीजयकल्याणसूरिभिः भट्टारकश्रीचरण-सुन्दरसूरिप्रमुखपरिवारपरिवृतैः । श्रीरस्तु श्रीसंघस्य ।।

१४—सम्वत् १५२९ वर्षे वै० व० ४ शुक्रे, डूंगरपुरनगरे राउल श्रीसोमदासविजयराज्ये तत्प्रधानप्रभावकपुरन्दरसा० साल्हा प्रमुख श्रीसंघोपक्रमेण तिषरतामद (?) श्री आदिनाथ विंवं

प्रति० तपागच्छनायकश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टे श्रीमुनिसुन्दरसूरिश्री जयचन्द्रसूरिपट्टे श्रीरत्नशेखरमूरिपट्टेश्रीलक्ष्मीसागरसूरिभिः श्रीसोमदेवसूरिमहोपाध्यायश्रो जिनहंसगणिश्रीसुमतिसुन्दरगणि प्रमुख-परिवारपरिवृतैः ।

१५--सम्वत् १५६६ वर्षे फागुण सुदि १० दिने श्री अचलगड महादुर्गे महाराजाधिराज श्रीजगमालविजयराज्ये, सं० सालिगसुत सं० सहसा कारितचतुर्मुखविहारे भद्रप्रासादे श्रीआदिनाथबिंवं सं० सालिग भा० नायकदे का० प्र० तपागच्छे श्रीमोमसुन्दरसूरिसन्ताने श्रीकमलकलशसूरिशिष्य श्रीजयकल्याणसूरिभिः, भट्टारक श्री चरणसुन्दरसूरिप्रमुखपरिवारपरिवृतैः । श्री रस्तु श्रीसंघस्य ॥

१६--सम्वत् १५६६ वर्षे फागुण शुदि १० दिने श्री अचलगढ़-महादुर्गे, महाराजाधिराज श्रीजगमालविजयराज्ये सं० सालिग सुत सं० सहसाकारितचतुर्मुख-विहारे भद्रप्रासादे श्री आदिनाथबिंब स० श्रीपति कारितं प्रतिष्ठित तपागच्छे श्री सोमसुन्दरसूरिसन्ताने श्रीकमलकलशसूरिशिष्यश्रीजयकल्याणसूरिभिः । भट्टारक श्री चरणसुन्दरसूरिप्रमुखपरिवारपरिवृतैः । श्रीरस्तु श्रीसंघस्य ॥

१७—सम्वत् १५६६ वर्षे फागुण सुदि १० सोमे श्री अचलगढ महादुर्गे महाराजाधिराज श्रीजगमालविजयराज्ये सं० सालिग सुत सं० सहसाकारितश्रीचतुर्मुखविहारे भद्रप्रासादे श्री पार्श्वनाथ बिंवं समस्तसंघकारित, प्रतिष्ठितं श्रीजयकल्याणसूरिभिः सू० हरदास ॥

१८–सम्वत् १५६६ वर्षे फागुण शुदि १० दिने श्री अचलगढ महादुर्गे, राजाधिराज श्री जगमालविजयराज्ये सा० सालिग सुत० सं० सहसा कारित चतुर्मुखविहारे श्रीआदिनाथबिंबं सं० कूपाचांदा, (?) कारितं, प्रतिष्ठितं तपागच्छे श्रीसोमसुन्दरसूरिसन्ताने श्री कमलकलशसूरिशिष्यश्रीजयकल्याणसूरिः । भट्टारक श्रीचरणसुन्दर-प्रमुख । सूत्रहरदास ।

१९—सम्वत् १५६६ वर्षे फागुण सुदि १० दिने श्री अचलगढ महादुर्गे महाराजाविराज श्री जगमाल विजयराज्ये सं० सालिग सुत

सं० सहसा कारित चतुर्मुखविहारे भद्रप्रासादे श्री आदिनाथ बिंबं सं० कूपाचांदा कारितं प्रतिष्ठितं तपागच्छे श्री सोमसुन्दरसूरि सन्ताने श्रीकमलकलश सूरि शिष्य श्री जयकल्याणसूरिभिः भट्टारक चरणसुन्दरसूरि प्रमुख परिवार परिवृतैः ॥ श्रीरस्तु श्रीसंघस्य

२०—सम्वत् १८८८ ना वर्षे माघमासे शुक्लपक्षे पंचमी सोमवासरे श्री अर्बुदतीर्थे अचलदुर्गे श्री जंबूस्वामी पादुका कृता ॥ श्री विजयदेवसूरि पादुके ॥ श्री विजयसिंहसूरिपादुके ॥ पं० श्रीसत्य विजयगणि पादुके ॥ पं० कपूरविजयगणी पादुके ॥ पं० क्षेमाविजयगणी पादुके । पं० जिनविजयगणि पादुके ॥ पं० उत्तम विजयगणि पादुके ॥ पं० पद्मविजयगणिपादुके ॥ पं० रूपविजयगणि प्रतिष्ठितं ॥

अचलगढ़ के प्रकीर्णक लेख।

अचलगढ के नीचे अचलेश्वर के सामने जीर्ण शिव मन्दिर के गर्भगृह में एक राजा की मूर्ति और पाँच रानियों की मूर्तियां हैं। एक स्त्री मूर्ति राजा की मूर्ति वाले पत्थर पर और ४ स्त्री मूर्तियाँ भिन्न पत्थर पर हाथ जोड़े खड़ी हैं। इनके नीचे एक खुदा हुआ लेख है जो नीचे दिया जाता है।

राजश्री मानसिंहस्य, पत्नीपंचक संयुता।
मूर्तिः श्रीमन्महेशस्य, सदाराधनतत्परा ॥१॥
हस्तयुग्मं तु संयोज्य, स्थिता पुण्यवदग्रणी।
सर्वपापापनोदार्थ,-ञ्चित्तैकाग्रययुता स्थिता ॥२॥
भुक्त्वा राज्यं तु धर्मेण, देवडावंशसंभवः।
प्रभवः सर्वपुण्यानां, मानसिंहो भवे (व?)त्पुरा ॥३॥
श्रीराम भक्तिनिरतः, श्री शिवार्चन तत्परः।
शूरोदारगभीरात्मा, मानसिंहो नृपाग्रणीः ॥४॥

तालाव के किनारे पर शिवमंदिर के खंडहर के पास १ छत्र युक्त पुरुष मूर्ति है जिसके नीचे इस प्रकार लिखा है—"महं० चंडुकस्य" युक्त नाम के पहले महं० लिखने से मालूम होता है कि चंडुक नामधारी राजा का कोई अमात्य होना चाहिये।

इसके अतिरिक्त भी आबू पर अनेक ऐतिहासिक शिला-लेख और स्मारक हैं परन्तु हमने उन सबको नोट नहीं किया।

देलवाडा जैन मन्दिर—विमलवसति के लेख	सँ०	२२७
वस्तुपाल तेजपाल कारित लूणिग वसति के लेख	,,	११२
भीमाशाह के पीतलहर प्रासाद के लेख	,,	२३
पार्श्वनाथ के तिमँजिले मन्दिर के लेख	,,	११
देलवाडा के प्रकीर्णक लेख	,,	१०
अचलगढ के जैन मन्दिरों के मूर्ति लेख	,,	२०
अचलगढ के प्रकीर्णक लेख	,,	२
आबू-जैन मन्दिरों के कुल लेख सं०		**४०५**



शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ सं	पंक्ति
विखाखगणि	विशाखगणि	६	२७
बृहत्कल्य	बृहत्कल्प	१०	२०
आर्चाय	आचार्य	१०	२४
योग्प	योग्य	११	६
ग्रन्थाकार	ग्रन्थकार	१७	१२
रूप्पमयं	रुप्पमयं	१८	१२
शति	शती	१८	१६
की	कि	२४	५
सतिज्जति	सातिज्जति	२४	१७
वनाने	वनने	२६	२०
आकार	आकर	२६	२३
पाटली	पाटलि	२७	१
निम्वोद्धृत	निम्नोद्धृत	३०	१२
सुगिम्हायापाडिवए	सुगिम्हयापाडिवए	३५	६
वनाये	वनाने	४६	७
घरों	घरों	४६	२३
कान्तर भक्त	कान्तार भक्त	४७	२६
सवसरण	समवसरण	५०	१४
वृक्ष	वृक्ष	५१	२०
समुद्दश	समुद्देश	५५	६
स्थाविरा	स्थविरा	५५	१२
उर्ष्ट्रकरण	उष्ट्रकरण	६३	५
संशोघव	संशोधन	७८	८
कुसीलैं	कुसीले	८५	१६
शास्तार्थ	शास्त्रार्थ	८६	१८
उद्वर्तव	उद्वर्तन	८६	८
प्रविष्ट	प्रविष्टा	६१	२७

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ सं	पंक्ति
नवीनतसार	नवनीतसार	९३	७
भोगहल	भोगहलं	१०१	१८
नग्घिणे	निग्घिणे	१०७	३
सोहम्मं	सोहम्मे	१०७	८
सिरिसंमणसंघे	सिरिसमणसंघे	१०७	६
णिट्ठेज्जा	णिट्ठेज्जा	१०७	६
वंद्रित	वंदित	१०८	१०
अनुष्टित	अनुष्ठित	१११	२२
कम्भ	कम्म	११२	५
निदट्ठा	निदड्ढा	११२	१०
पूयंट्ठाए	पूयट्ठाए	११३	१४
संघट्टावैज्ज	संघट्टावेज्ज	११३	१५
गाढागायढ	गाढागाढ	११३	१८
गएज्ज	ठाएज्ज	११७	२४
गऊणमिमस्स	ठाऊणमिमस्स	११७	२५
विंदिसासु	विदिसासु	११८	१
पडिक्कणम	पडिक्कमण	११८	३
प्रतिकमर्ण	प्रतिक्रमण	११८	८
प्रतिलाम	प्रतिलोम	१२०	१
चंउ	चउ	१२०	१७
त	ते	१२२	१६
अगायत्थ	अगीयत्थ	१२५	१०
नियमकसाप	नियमकसाय	१२५	१६
धम्मतराय	धम्मंतराय	१२५	१६
आभोगानामोगज	आभोगानाभोगज	१२६	१२
शातनाज्ञात	ज्ञातनाज्ञात	१२६	१८
लिखें	कहें	१२६	२२
तिलक्खणंगुजं	तिलक्खगुणं	१२७	२०
मणमज्जवी	मणपज्जवी	१३०	११
अंतरड	अंतरंड	१३१	१
सव्वुत्तामभंगेणं	सव्वुत्तमभंगेणं	१३४	६
सरिसगुरु	सरिसगुरू	१३४	६

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ सं.	पंक्ति
प्राचानकाल	प्राचीनकाल	१३६	२६
गालिहेने	गालिदेने	१४२	२०
शुद्धमशुद्ध	शुद्धमशुद्धं	१४८	१२
नंदतात	नंदतात्	१४९	५
पडमे०	पउमे०	१५१	१३
तीर्थोंग्दार	तीर्थोद्गार	१५४	२६
भत्तया	भक्तया	१५९	९
सुस्थती	सुस्थित	१६१	१७
आपका	आपकी	१६७	१
नवपासासयाइं	नववाससयाइं	१६७	११
विइक्कताइं	विइक्कंताइं	१६७	११
गाह्य	ग्राह्य	१६७	२३
घटिका	घटिका	१६९	२६
दीपिकाकारम्यां	दीपिकाकाराभ्यां	१७४	८
कोटिभरस्त्वं	कोटिंभरस्त्वं	१७४	८
प्रयोगाश्चिन्त्यः	प्रयोगश्चिन्त्यः	१७४	९
रोदमं	रोदनं	१७४	१८
एगायरिस्स	एगायरियस्स	१७५	३
प्रोढकर्मा	प्रौढकर्मा	१७८	१८
प्रोढकर्म	प्रौढकर्म	१७९	४
मयैभिरधीत	मयैरधीत	१८१	२२
सहस्त्रूकरावनार	सहस्त्रकरावतार	१८३	८
११	१२	१८३	२६
स्यडिल भूमिः	स्थंडिल भूमिः	१८४	२५
स्यडिल भूमि	स्थंडिल भूमि	१८४	२८
महावीर निर्वाण	महावीर के निर्वाण	१८७	२३
वलोकितं	विलोकितं	१९१	१९
कर्णयोगुलीः	कर्णयोरंगुलीः	१९१	२?
गच्छनिमित्रक	गच्छनिमित्तक	१९४	१७
दारेरिति	दारैरिति	१९५	६
इकोऽसुवर्णो	इकोऽसवर्णे	१९६	६
स्वस्तिोदय	स्वरितोदय	१९७	८

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ सं	पंक्ति
गोत्तमीया:	गोतमीया	२०१	२६
कुत्सितन्	कुत्स्निन्	२०५	४
तत्त्विक	तात्त्विक	२१०	२१
दृश्यते	दृश्यते	२१०	२५
दृश्यते	दृश्यते	२११	४
लभ्येन	लभ्येत	२१२	१०
योगेनधिगम	योगेनाधिगम	२१२	१०
वुद्धनु	वुद्धचनु	२१३	१३
हाने	होने	२१३	२७
तमम	तमाम	२१८	१
शब्पार्णव	शब्दार्णव	२१६	८
प्रदम	प्रदम्	२२२	७
दष्ट्वा	दृष्ट्वा	२२३	५
विनमार्मि	विनमामि	२२३	१४
शब्दार्णविप्रशस्ति	शब्दार्णवप्रशस्ति	२२३	२३
वक्रवर्ति	चक्रवर्ति	२२४	३
त्रैकाल्यागी	त्रैकाल्ययोगी	२२५	२
नामों	नामों के	२२५	३
माघंत	माद्यंत	२२५	२०
माम	नाम	२२७	२८
सख्यातं	संख्यातं	२३०	१४
चन्द्रादिभि	चन्द्रादिभिः	२३१	१
पागार्यवज्रस्य	प्रागार्यवज्रस्य	२३१	१५
वाह्विकाः	वाह्लिकाः	२३२	१३
आपिशशिना	आपिशलिना	२३२	२३
आपि शलमः	आपिशलम्	२३२	२३
चन्द्रसुर्यो	चन्द्रसूर्यो	२३२	२७
भृगेन्द्रः	मृगेन्द्रः	२३४	५
विक्रम का	विक्रम की	२३६	१७
षाणिन्य	पाणिन्य	२३८	६
देदनन्दि	देवनन्दि	२४२	२२
व्रह्मचर्य्यं	व्रह्मचर्य्यं	२४६	२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ सं	पंक्ति
ऋत्यय	प्रत्यय	२४६	१८
शब्देनं	शब्देन	२४८	१२
विक्षेवदेशे	विक्षेपदेशे	२४८	१३
दाम्मिकानां	दाम्भिकानां	२४८	१५
ऋिषियों	ऋषियों	२४६	२६
षडभाषा	षड्भाषा	२५४	२५
अंजितनाथ	अजितनाथ	२५७	१८
पययण	पवयण	२५८	५
अइसइण्ठीलं	अइसइट्ढ़ोणं	२५८	५
नाणुप्पया	नाणुप्पया	२५८	७
मनः पर्यक्ष	मनः पर्यव	२५८	१५
आहिच्छात्रा	अहिछत्रा	२५८	२४
मानोपित	मानोपेत	२५६	२६
शेलं	सेलं	२६०	२५
शेले	सेले	२६०	२६
महस्सेहिं	सहस्सेहिं	२६०	२७
निम्नोद्धत	निम्नोद्धृत	२६२	१५
उग्घाडिउं	उग्घाडिउं	२६४	७
संवपति	संघपति	२६६	२३
पुधि	पुव्वि	२६७	४
पूर्ण	पूर्णं	२६८	२७
स्नपन्न	स्नपन	२६८	२७
प्रतिण्ठत	प्रतिष्ठित	२७३	२०
जहां	जहा	२७३	२६
अणुत्तालं	अणुत्ताल	२७४	२
धम्मचक्के	धम्मचक्कं	२७४	२०
यत्रिगण	यात्रिगण	२८१	४
प्रसि	प्रसिद्ध	२८१	२७
हीं	नहीं	२८१	२७
*पट्ट	पट	२८८	२८

*यहाँ "पट्ट" के स्थान पर सर्वत्र "पट" पढें।

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ सं	पंक्ति
भाषा	भाष्य	२९०	२८
सढ्ठी	सट्ढ़ी	२९१	११
सढडी	सट्ढ़ी	२९१	१३
दढ्दूणं	दट्ठूणं	२९१	१४
भोइयातो	मोइयातो	२९१	१५
तीर्थों मे	तीर्थों में	२९२	१९
ता	तो	२९५	१
इनको	इनकी	३०१	११
निश्चत	निश्चित	३०७	१७
किसी भी	किसी भी प्रकार से	३०७	१८
गृहस्थी	गृहस्थ	३०९	२७
मंदीयम्	यंदीयम्	३११	१०
१३६९	१३६८	३१२	१८
१३७९	१३७८	३१२	२०
वस्तुपाल	तेजपाल	३१३	५
दक्षिणी	दक्षिण	३१५	१३
सानिष्य	सांनिष्य	३१५	२७
स्वच्छ	सवच्छ	३१६	१६
सिंहस्य	सिंहरथ	३१६	२२
समवरण	समवसरण	३१७	१३
हाथियों	हाथियों के	३२३	११
सपार	सवार	३२४	५
द्वासपति	द्वासप्तति	३२९	२
बंदतादेष:	नंदतादेष	३२९	१०
१३६९	१३६८	३३०	३
१३६९	१३६८	३३०	७
मए	गये	३३७	१
प्रतिष्टितेति	प्रतिष्ठितेति	३३८	९
प्रतिष्टितेति	प्रतिष्ठितेति	३३८	२२
प्रतिष्टिता	प्रतिष्ठिता	३३९	१०
मङ्गसं	मङ्गलं	३३९	२४
पुष्यदंता	पुष्पदंता	३४१	२२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ सं	पंक्ति
मंहिकसुतेनेदं	मंहिदुकसुतेनेदं	३४२	१६
दथरथेनेदं	दशरथेनेदं	३४२	२०
अवुर्दवास्तव्य	अर्वुदवास्तव्य	३४३	५
द्वितीथा	द्वितीया	३४३	६
तस्मिन्	त्तस्मिन्	३४३	२०
कारयानासुः	कारयामासुः	३४४	१६
ओसवालाज्ञातीय	ओसवालज्ञातीय	३४४	४
महा०	महं०	३४५	५
महा०	महं०	३४५	५
प्रत्ययंग	प्रत्ययं	३४५	१२
(सा)	(स्य)	३४६	१२
त्यद्भुतो	त्यद्भु तो	३४७	१६
त्र	पुत्र	३४८	१०
(म्न्या)	(म्न्या)	३४८	१७
आदिमाथ	आदिनाथ	३४८	२५
आसराज्ञ	आसराज	३५०	११
धांघल	धांधल	३५१	२३
साधुसत्त मौः	साधुसत्तमौ	३५२	८
स०	सं०	३५३	६
रूदपाल	रुदपाल	३५४	२१
शिष्येः	शिष्यैः	३५७	१७
श्रा	श्री	३५८	८
फगुण	फागुण	३५८	१७
साहितेन	सहितेन	३५८	२७
धवचन्द्र	देवचन्द्र	३६१	२
सताने	संताने	३६३	१५
विम्वंमर्वुदे	विम्वमर्बुदे	३६३	२२
यशोभती	यशोमती	३६६	१७
१३७८	१२७८	३६६	२७
वर्व	वर्ष	३७०	२६
प्रमादात	प्रासादात	३७२	२
वर्ध्दमाना	वर्ध्दमान	३७३	४

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ सं	पंक्ति
यक्षोपाध्याय	पक्षोपाध्याय	३७३	६
अमरहसगणि	अमरहंसगणि	३७३	१२
महंवीरविबं	महावीरविम्बं	३७६	२०
ऽअघेह	अद्येह	३७७	१
श्राचंद्रावतीय	श्री चंद्रावतीय	३७७	२१
हरिराउप्र	हरिराउत्र	३७८	६
सत्सुत	तत्सुत	३८०	१६
घूमौघतो	धूपधूमौघतोवा	३८२	७
सघपति	संघपति	३८८	६
अद्यह	अद्येह	३८६	१३
कुमारदेव्यो	कुमारदेव्योः	३८६	२३
वदि ६	वदि ८	३६०	३
आस्यां	अस्यां	३६०	१५
श्री शांती	श्री शांति	३६५	५
आश्रितो य	आश्रितो यः	३६५	११
श्रामल्लदेवः	श्रीमल्लदेवः	३६६	२७
सूरिसत्युदयप्रभः	सूरिरस्त्युदयप्रभः	४०२	२७
श्रीमोघ्वम	श्रीमघ्घूम	४०३	११
प्रतिहारवशीय	प्रतिहारवंशीय	४०६	१६
श्रीवस्तुपायोरनुज	श्रीवस्तुपालयोरनुज	४०७	१६
पू०	पु०	४११	२१
हला	हाला	४१२	२
हरदवा	हरदेवा	४१२	२४
दितीयः	द्वितीयः	४१७	२३
महोप्सवैः	महोत्सवैः	४२१	१
लांपाद्यैं निमितं	लांपाद्यैं र्निमितं	४२१	५

